जैन-न्याय को आचार्य अकलंकदेव का अवदान



प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर

जैन-न्याय को आचार्य अकलंकदेव का अवदान



प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर



जैन-न्याय को आचार्य अकलंकदेव का अवदान

राष्ट्रीय संगोष्ठी

शाहपुर (मुजफ्फरनगर)

२७-२९ नवम्बर १९९६

सम्पादक :

डॉ० कमलेशकुमार जैन
वरिष्ठ प्राध्यापक—जैनदर्शन
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ० जयकुमार जैन
रीडर
संस्कृत विभाग,
एस० डी० पोस्टग्रेजुएट कालेज,
मुजफ्फरनगर (उ०प्र०)

डॉ० अशोककुमार जैन
सहायक आचार्य
जैन विद्या एवं तुलनात्मक दर्शन विभाग,
जैन विश्वभारती संस्थान (डीम्ड यूनिवर्सिटी)
लाड़नूं (राजस्थान)

प्रकाशक

प्राच्य श्रमण भारती

मुजफ्फरनगर, उ०प्र०

परम पूज्य उपाध्याय श्री १०८ ज्ञानसागरजी महाराज के ग्यारहवें दीक्षा दिवस पर प्रकाशित

जैन-न्याय को आचार्य अकलंकदेव का अवदान
(राष्ट्रीय संगोष्ठी स्मारिका)

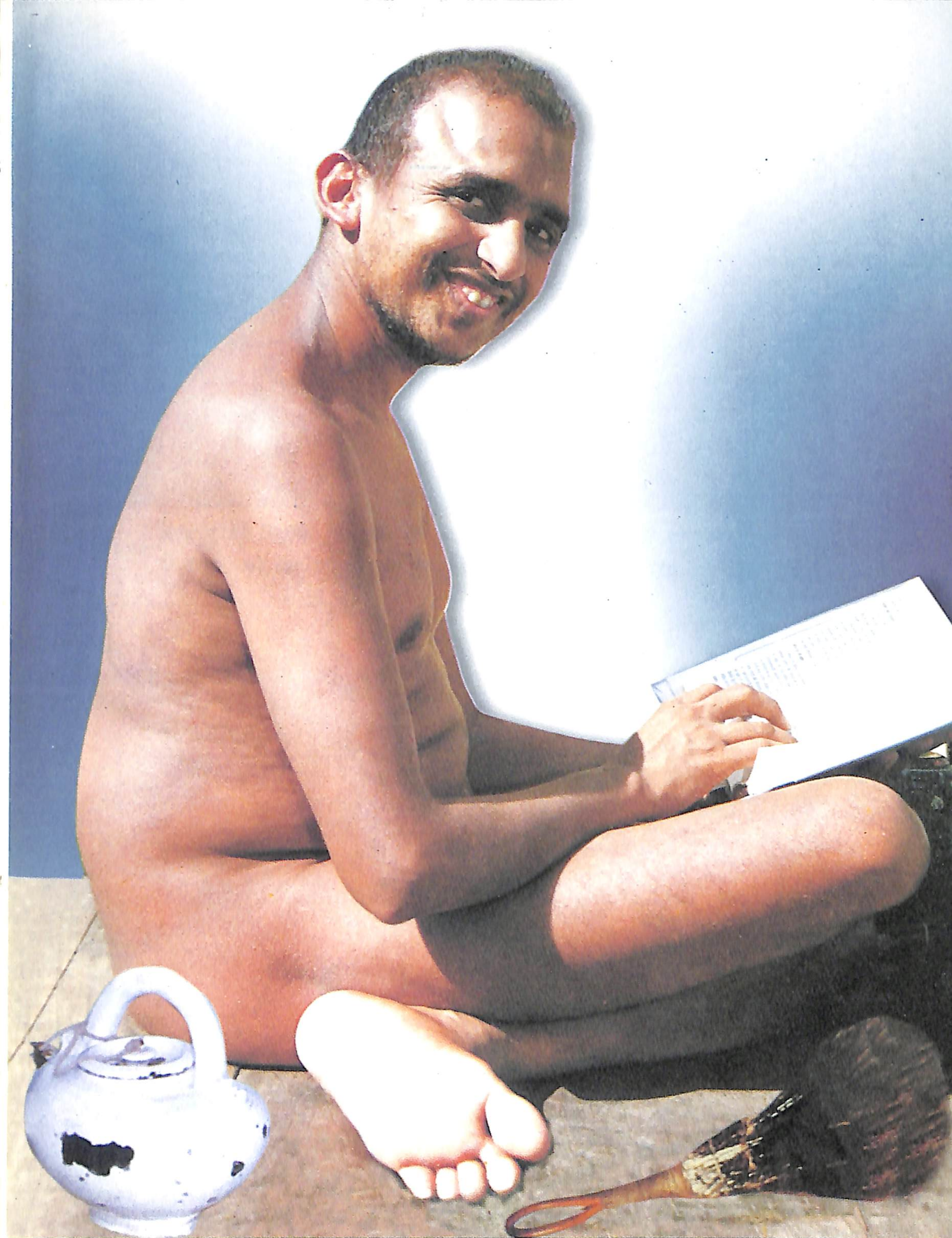
पुण्यार्जक :
स्व० मोहनलाल सेठी की पुण्य स्मृति में
उनकी धर्मपत्नी श्रीमती आचुखी देवी

संस्करण : प्रथम, १९९९ ई०
प्रतिया : ११००

प्राप्ति-स्थान :
प्राच्य श्रमण भारती
१२/ए, प्रेमपुरी, निकट जैन मन्दिर,
मुजफ्फरनगर फोन : ४५०२२८, ४०८९०१

मूल्य : स्वाध्याय, मनन

मुद्रक :
दीप प्रिंटर्स,
ए-८, मायापुरी इण्डस्ट्रियल एरिया, फेस-I
नई दिल्ली-११००६४
फोन : ५१३१३९३, ५१३२५७९



परम पूज्य उपाध्याय श्री 108 ज्ञान सागर जी महाराज

प्रकाशकीय

सन् 1996 में परमपूज्य उपाध्यायश्री 108 ज्ञानसागर जी महाराज के आशीर्वाद से विशिष्ट दार्शनिक उपलब्ध व अप्रकाशित ग्रंथों के प्रकाशन हेतु 'प्राच्य श्रमण भारती' (मुजफ्फरनगर) का जन्म हुआ, जो अत्यंत शीघ्र भोग भूमि के प्राणियों की भाँति युवावस्था को प्राप्त हुई। उसके तत्त्वावधान में अल्पकाल में ही 35 ग्रंथों का प्रकाशन हो चुका है तथा शीघ्र ही अनेक (लगभग 17 ग्रंथ) प्रकाशित होने वाले हैं।

महान् आचार्य कुंदकुंद स्वामी की परम्परा के आचार्य उमास्वामी ने समस्त जैन सिद्धांतों एवं ज्ञान को सूत्रों में बद्ध करते हुए 'तत्त्वार्थसूत्र' के रूप में आगम की महान सेवा की उस युग में सूत्र रूप में कथन करने की ही परम्परा अधिक पायी जाती है। तत्त्वार्थसूत्र के रहस्यों का उद्घाटन करने हेतु परवर्ती महान् आचार्यों की भिन्न-भिन्न कालों में अनेक टीकाएँ उपलब्ध होती हैं 1. सर्वार्थसिद्धि श्री पूज्यपाद, 2. गंधहस्ति महाभाष्य श्री सभन्तभद्राचार्य 3. राजवार्तिक स्वामी अकलंकदेव 4. श्लोकवार्तिक श्री विद्यानन्दाचार्य 5. तत्त्वार्थवृत्ति-भास्करानंदाचार्य 6. अर्हत्सूत्र वृत्तिका 7. तत्त्वार्थाधिगम-श्री उमास्वाति आचार्य 8. तत्वार्थ सार 9. अर्थ प्रकाशिका 10. लोक व मोक्ष के रहस्योद्घाटन के लिए कितने ही भाष्य निर्मित हुए जिनमें बहुत से अनुपलब्ध हैं। इन सभी भाष्यों में श्री आचार्य अकलंक भट्ट विरचित तत्वार्थवार्तिक की महत्ता अनुपम है। जो आचार्य पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि टीका को समझने में विशेष सहायक है। महान् आचार्य के विषय में श्रवणबेलगोला के अभिलेख में उल्लिखित है-

ततः परं शास्त्रविदां मुनीनामग्रेसरोऽभूदकलङ्कसूरिः।
मिथ्यान्धकारस्थगिताखिलार्थाः प्रकाशिता यस्य वचोमयूखैः।

अमरकोश में उल्लेख है -

प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
द्विसंधानकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥

ऐसे महान् आचार्य के प्रति अपनी श्रद्धा को व्यक्त करने के लिये ही सराकजाति के उद्धारक परमपूज्य उपाध्यायश्री 108 ज्ञानसागर जी महाराज व परमपूज्य 108 श्री वैराग्यसागर जी महाराज ने शाहपुर (मुजफ्फनगर), 1996 में विद्वज्जनों को आमन्त्रित किया, जिन्होंने अपनी श्रद्धाभिव्यक्ति के लिये शोध पत्र रूपी पुष्प अर्पण किये। उन्हीं पुष्पों की सुरभि को धर्म प्रेमियों तक पहुँचाने का उत्तरदायित्व प्राच्य श्रमण भारती (मुजफ्फनगर) को सौंपा गया। इसी लिये इन सभी शोध-पुष्पों को गूंथकर आपके समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। इस हेतु हम सभी परमपूज्य मुनिद्वय, विद्वानों व अन्य सभी सहयोगीजनों का आभार व्यक्त करते हैं तथा भविष्य में भी हार्दिक सहयोग व आर्शीर्वाद की अपेक्षा करते हैं।

मन्त्री
रवीन्द्र कुमार जैन
प्राच्य श्रमण भारती
मु॰ नगर

सम्पादकीय

परम पूज्य १०८ उपाध्यायश्री ज्ञानसागरजी महाराज एवं १०८ मुनिश्री वैराग्यसागरजी महाराज अपने ज्ञान एवं वैराग्य के कारण जन-जन की श्रद्धा के पात्र हैं। साथ ही जैनविद्या एवं उसके उपासक विद्वानों के प्रति भी उनका प्रगाढ़ अनुराग है।

पूज्य उपाध्यायश्री ने जहाँ सराकोद्धार के लिये बिहार प्रान्त के तड़ाई जैसे अविकसित एवं पहाड़ी क्षेत्र में चातुर्मास सम्पन्न कर सदियों से बिछुड़े सराक बन्धुओं को गले लगाया है। वहीं उन्होंने विद्वानों के संरक्षण के लिए भी अनेक लोकोपयोगी कार्य किये हैं। न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार जैन के स्मृति-ग्रन्थ का प्रकाशन पूज्य उपाध्यायश्री के मंगल-आशीर्वाद का ही फल है।

पूज्य उपाध्यायश्री ने प्राचीन जैनाचार्यों की कृतियों को प्रकाश में लाने एवं उन पर अनेक जैन और जैनेतर विद्वानों द्वारा ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने हेतु विविध संगोष्ठियों में अपनी गरिमामयी उपस्थिति प्रदान की है तथा अपना मगंलमयी उद्‌बोधन देकर सभी को कृतार्थ किया है।

पूज्य उपाध्यायश्री की सात्विक प्रेरणा से २५-२६ मार्च ६० को सरधना में आचार्य कुन्दकुन्द पर १३-१४ फरवरी ६५ को मेरठ में आचार्य समन्तभद्र पर ११, १२, १३ फरवरी ६६ को दिल्ली में सराकोद्धार पर औश्र २७, २८, २६ अक्टू० ६६ को शाहपुर (मुजफ्फरनगर) में आचार्य अकलंकदेव पर आयोजित अखिल भारतीय विद्वत् संगोष्ठि में देश के कोने-कोने से पधारे उच्चकोटि के अनेक विद्वानों ने विविध विषयों पर शोधपत्रों का वाचन कर अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

पूज्य उपाध्यायश्री के शुभाशीर्वाद एवं विद्वानों की लगन के कारण अब तक प्रथम तीन संगोष्ठियों में प्रस्तुत किये गये शोधपत्रों को जैनविद्या के प्रखर मनीषी डॉ० दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्य, प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाश जैन, डॉ० जयकुमार जैन एवं डॉ० नीलम जैन के द्वारा सुसम्पादित होकर प्रकाशित किये जा चुके हैं। सम्प्रति शाहपुर (मुजफ्फरनगर) में २७, २८ एवं २६ अक्टूबर १६६६ को आयोजित 'जैन- न्याय को आचार्य अकलंकदेव का अवदान' विषयक संगोष्ठी में पठित शोधपत्रों को सम्पादित कर प्रकाशित किया जा रहा है।

इस संगोष्ठी में कुल बीस शोधपत्रों का वाचन किया गया था, जो स्तरीय तो हैं

ही, वैविध्यपूर्ण भी हैं। इन शोधपत्रों के माध्यम से आचार्य अकलंकदेव के ऐतिहासिक व्यक्तित्व एंव कृतित्व को उजागर करने का सफल प्रयास किया गया है। कुछ विद्वानों द्वारा अपने विचार मौखिक रूप में प्रस्तुत किये गये थे और कुछ के लेख प्राप्त नहीं हो सके हैं अतः उनका यहाँ समावेश नहीं किया जा सका है।

जैन-न्यायविद्या की परम्परा को विकसित करने में आचार्य अकलंकदेव के पूर्ववर्ती एवं परवर्ती अन्य अनेक आचार्यों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। अतः उनके संक्षिप्त परिचयों को गर्भित करने की दृष्टि से सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री के लेख 'प्राचीन जैनाचार्य और उनका दार्शनिक साहित्य' को भी अभिनन्दन ग्रन्थ से उद्धृत किया गया है। इसी प्रकार उपयोगिता की दृष्टि से डॉ० वच्छराज दूगड़ (लाडनूं) के 'आचार्य अकलंक की प्रमाण मीमांसा व सत्यता की कसौटी' तथा डॉ० कमलेश कुमार जैन (दिल्ली) के 'अकलंकदेवकृत आप्तमीमांसा भाष्य एवं लघीयस्त्रय के उद्धरणों का अध्ययन' नामक लेखों का भी संकलन किया गया है। इस प्रकार यह संगोष्ठी स्मारिका स्वतः ही महत्त्वपूर्ण एवं शोधोपयोगी बन गई है।

संगोष्ठी के सफल आयोजन में जैनदर्शन के युवा विद्वान डॉ० जयकुमार जैन (मुजफ्फरनगर) एवं डॉ० अशोककुमार जैन (लाडनूं) की भूमिका निस्संदेह महत्त्वपूर्ण रही है, अतः इन दोनों विद्वानों का मैं हृदय से आभारी हूँ।

इस कार्य को सम्पन्न करने में मुझे जैन और बौद्ध न्यायविद्या के प्रखर मनीषी श्रद्धेय प्रो० उदयचन्द्र जी जैन सर्वदर्शनाचार्य (वाराणसी) द्वारा अनेक उपयोगी सुझाव प्राप्त हुये हैं। अतः मैं उनके प्रति तहेदिल से आभार प्रकट करता हूँ।

अन्त में उन पूज्य उपाध्यायश्री के चरणों में त्रिबार नमोऽस्तु निवेदन करता हूँ, जिनके मगंल आशीर्वाद से यह कार्य सहज ही सम्पन्न हो सका है।

डा० कमलेश कुमार जैन
जैनदर्शन प्राध्यापक
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

समर्पण

प्रशान्तमूर्ति, परमपूज्य आचार्य श्री 108 शान्तिसागर जी महाराज (छाणी) के प्रथम पट्टाचार्य पूज्य श्री 108 सूर्य सागर जी महाराज, द्वितीय पट्टाचार्य पूज्य श्री 108 विजय सागर जी महाराज, तृतीय पट्टाचार्य पूज्य श्री 108 विम्लसागर जी महाराज (भिण्डवाले) चतुर्थ पट्टाचार्य मासोपवासी, समाधिसम्राट् पूज्य श्री 108 सुमतिसागर जी महाराज के शिष्य परमपूज्य आध्यात्मिक सन्त, सराकोद्धारक उपाध्याय श्री 108 ज्ञानसागर जी महाराज के कर कमलों में 'जैनन्याय को आचार्य अकलंकदेव का अवदान' कृति सादर समर्पित है।

उमेश से उपाध्याय मुनि १०८ ज्ञानसागर

सफरनामा एक अनेकान्तिक साधक का

अभीक्ष्ण ज्ञान की सम्पदा से सिक्त उपाध्याय श्री १०८ ज्ञानसागर जी महाराज का व्यक्तित्व एवं कृतित्व एक ऐसे क्रान्तिकारी साधक की अनवरत साधना-यात्रा का वह अनेकान्तिक दस्तावेज है जिसने समय के नाट्य-गृह में अपने सप्तभंगी प्रज्ञान के अनेकों रंग बिखेरे हैं। चम्बल के पारदर्शी नीर और उसकी गहराई ने मुरैना में वि० सं० २०१४ वैशाख सुदी दोयज को जन्मे बालक उमेश को पिच्छि-कमण्डलु की मैत्री के साथ अपने बचपन की उस बुनियाद को मजबूत कराया जिसने उस निर्बाध मार्ग का सहज, पर समर्पित पथिक बना दिया। शहर में आने वाले हर साधु-साध्वी के प्रति बचपन से विकसित हुए अनुराग ने माता अशर्फी बाई और पिता शान्ति लाल को तो हर पल सशंकित किया पर बालक उमेश का आध्यात्मिक अनुराग हर पल पल्लवित और पुष्पित होता रहा। और इसकी परिणति हुई सन् १९७४ में उस प्रतीक्षित फैसले से, जब किशोर उमेश ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत को अंगीकार किया एवं दो वर्षों बाद, पाँच नवम्बर उन्नीस सौ छिहत्तर को क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। उमेश से रूपान्तरित हुए क्षुल्लक गुणसागर ने बारह वर्षों तक आगम ग्रन्थों, साहित्य एवं भाषा का अध्ययन किया, युग के महान् सन्त आचार्य श्री विद्यासागर जी की पावन सन्निधि में तत्वज्ञान का परायण किया तथा महावीर जयन्ती के पावन प्रसंग पर इकत्तीस मार्च उन्नीस सौ अठासी को आचार्य सुमतिसागर जी महाराज से मुनि धर्म की दीक्षा ग्रहण की और तब आविर्भाव हुआ उस युवा, क्रान्तिदृष्टा तपस्वी का, जिसे मुनि ज्ञानसागर के रूप में युग ने पहचाना और उनका गुणानुवाद किया।

निर्ग्रन्थ रूप में प्रतिष्ठित इस दिगम्बर मुनि ने जहाँ आत्म-शोधन के अनेकों प्रयोग किये, साधना के नये मानदण्ड संस्थापित किये, उदात्त चिन्तन की ऊर्जस्वी धारा को प्रवाहमान कर तत्वज्ञान को नूतन व्याख्याओं

से समृद्ध किया, वहीं पर अपनी करुणा, आत्मीयता और संवेगशीलता को जन-जन तक विस्तीर्ण कर भगवान महावीर की **सत्त्वेषु मैत्री** की अवधारणा को भी संवर्द्धित किया। मध्यप्रदेश की प्रज्ञान-स्थली सागर में मुनिराज का प्रथम चातुर्मास, तपश्चर्या की कर्मस्थली बना और यहीं से शुरु हुआ आध्यात्मिक अन्तर्यात्रा का वह अथ जिसने प्रत्येक कालखण्ड में नये-नये अर्थ गढ़े और संवेदनाओं की समझ को साधना की शैली में अन्तर्लीन कर लिया।

आगामी वर्षों में मुनि ज्ञानसागर जी ने जिनवाणी के आराधकों से स्थापित किया एक सार्थक संवाद ताकि आगम ग्रन्थों में निबद्ध रहस्यों को सामान्य जनों तक बोधगम्य भाषा और शैली में सम्प्रेषित किया जा सके। सरधना, शाहपुर, खेकड़ा, गया, राँची, अम्बिकापुर, मेरठ, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर में विद्वत्संगोष्ठियों के आयोजन ने बहुत से अनुत्तरित प्रश्नों के जहाँ एक ओर उत्तर खोजे वहीं दूसरी ओर शोध एवं समीक्षा के लिये नये सन्दर्भ भी परिभाषित किये गये। अनुपलब्ध ग्रन्थों के पुनर्प्रकाशन की समस्या को इस ज्ञान-पिपासु नें समझा और सराहा। इस क्षेत्र में गहन अभिरुचि के कारण सर्वप्रथम बहुश्रुत श्रमण परम्परा के अनुपलब्ध प्रामाणिक शोध-ग्रन्थ, स्व० डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा सर्जित साहित्य सम्पदा **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (चारों भाग)** के पुनर्प्रकाशन की प्रेरणा की, जिसे सुधी श्रावकों ने अत्यल्प समयावधि में परिपूर्ण भी किया। इतना ही नहीं, आधुनिक कालखण्ड में भुला दिये गये सन्तों एवं विद्वानों के कृतित्व से समाज को परिचित कराने का भी गुरुकार्य इन्होंने किया, जिसकी परिणतिस्वरूप आचार्य शान्तिसागर छाणी स्मृति ग्रन्थ के प्रकाशन से एक ओर विस्मृत से हो रहे उस अत्यन्त पुरातन साधक से समाज परिचित कराया जिसने सम्पूर्ण उत्तर भारत में दिगम्बर श्रमण परम्परा को उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में अभिवृद्ध करने का गुरु-कार्य किया था तो दूसरी ओर सुप्रसिद्ध जैन दर्शन-विद् स्व० पं० महेन्द्र कुमार जैन न्यायाचार्य की स्मृति में एक

विशाल स्मृति-ग्रन्थ के प्रकाशन की प्रेरणा कर मात्र एक जिनवाणी-आराधक का गुणानुवाद ही नहीं किया प्रत्युत् नयी पीढी को उस महान् साधक के अवदानों से परिचित भी कराया। इस तपःपूत ने वैचारिक क्रान्ति का उद्घोष किया इस आशा और विश्वास के साथ कि आम आदमी के समीप पहुँचने के लिये उसे उसकी प्रतिदिन की समस्याओं से मुक्ति दिलाने के उपाय भी संस्तुत करने होंगे। तंनावों से मुक्ति कैसे हो, व्यसन मुक्त जीवन कैसे जिएँ, पारिवारिक सम्बन्धों में सौहार्द कैसे स्थापित हो तथा शाकाहार को जीवन-शैली के रूप में कैसे प्रतिष्ठापित किया जाए, आदि यक्ष प्रश्नों को बुद्धिजीवियों, प्रशासकों, पत्रकारों, अधिवक्ताओं शासकीय/अर्द्धशासकीय एवं निजी क्षेत्रों के कर्मचारियों व अधिकारियों, व्यवसायियों, छात्रों- छात्राओं आदि के साथ परिचर्चाओं, कार्य शालाओं, गोष्ठियों के माध्यम से उत्तरित कराने के लिये एक ओर एक रचनात्मक संवाद स्थापित किया तो दूसरी ओर श्रमण संस्कृति के नियामक तत्वों एवं अस्मिता के मानदण्डों से जन-जन को दीक्षित कर उन्हें जैनत्व की उस जीवन-शैली से भी परिचित कराया जो उनके जीवन की प्रामाणिकता को सर्वसाधारण के मध्य संस्थापित करती है।

इस खोजी साधक ने प्रेम और करुणा के व्यावहारिक प्रयोग किये और कंक्रीट संस्कृति से दूर पहुँचे झारखण्ड के उन अरण्यों में जहाँ बिरसा और मुण्डा जाति के आदिवासियों के साथ लाखों की तादाद में बसते हैं अत्यन्त पुरातन जैन श्रावक जिन्हें समय की शिला पर पड़ी धूल ने सिर्फ नाम का अपभ्रंश कर उन्हें सराक ही नहीं बना दिया प्रत्युत् उन्हें उनके कुल-गौरव पार्श्व प्रभु की परम्परा को भी विस्मृत कराने पर मजबूर कर दिया। इन भूले-बिसरे भाइयों को बिहार, बंगाल तथा उड़ीसा में अलग-थलग जीवन जीने के स्थान पर सम्पूर्ण देश की श्रमण धारा से जोड़ने के लिये अनेकों कल्याणकारी योजनाएँ संचालित कीं जिनमें रघुनाथपुर एवं अनाईजामाबाद के पुनर्वास केन्द्र, पुराने जीर्ण-शीर्ण जिनालयों का जीर्णोद्धार, सुदूर अंचलों में नये जिनालयों का निर्माण,

तकनीकी शिक्षा केन्द्रों की स्थापना, रोजगार के लिये उपस्करों का प्रबन्ध, छात्रवृत्तियों का वितरण, कुशल बेरोजगारों को रोजगार एवं नौकरियों की उपलब्धता एवं इन सभी के सफल संचालन के लिये सुधी जनों को प्रेरित कर ट्रस्ट के माध्यम से समस्त गतिविधियों को कार्यान्वित कराने की प्रेरणा की है। यही कारण है कि इस साधनापूत से प्रभावित हो जहाँ एक ओर श्री मोतीलाल बोरा, श्री अजितसिंह, श्री नारायण दत्त तिवारी, श्री साहिब सिंह वर्मा, श्री इन्दर सिंह नामधारी आदि राजनेताओं ने दर्शन लाभ कर आशीर्वाद प्राप्त किये हैं, वहीं दूसरी ओर डॉ० कृष्ण कुमार नाग, श्री राजेन्द्र यादव, श्री अरविन्द जैन, डॉ० नेमीचन्द आदि बुद्धि-जीवियों, पत्रकारों ने एवं साहू अशोक कुमार जैन, साहू रमेशचन्द्र जैन, श्री पूनम चन्द गंगवाल, श्री उम्मेदमल पाण्ड्या, श्री निर्मल कुमार सेठी आदि प्रमुख उद्योगपतियों ने भी पूज्य गुरुदेव से मंगल आशीष प्राप्त किये हैं।

पूज्य उपाध्याय श्री १०८ उपाध्याय ज्ञानसागर जी महाराज का जीवन क्रान्ति का श्लोक है, साधना और मुक्ति का दिव्य छन्द है तथा है मानवीय मूल्यों की वन्दना एवं जन-चेतना के सर्जनात्मक परिष्कार एवं उसके मानसिक सौन्दर्य एवं ऐश्वर्य के विकास का वह भागीरथ प्रयत्न जो स्तुत्य है, वंदनीय है और है जाति, वर्ग, सम्प्रदाय भेद से परे पूरी इन्सानी जमात को समर्पित एक छोटा पर बहुत स्थिर और मजबूती भरा कदम। निःसन्देह यह होगा आने वाली पीढ़ी के लिये एक प्रकाश-स्तम्भ।



भट्ट अकलंकदेव और उनका साहित्य

– उपाध्याय ज्ञानसागर

श्रीसमन्तभद्राचार्य और आचार्य सिद्धसेन के ही समान श्रेष्ठ एवं प्रखर तार्किक भट्ट अकलंकदेव का जैनन्याय में अप्रतिम योगदान है। उन्होंने अपनी प्रभावशाली रचनाओं से न केवल जैनन्याय को अपितु सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय के भाण्डागार की अपूर्व श्रीवृद्धि की है। इससे अधिक उनके अवदान को और क्या आँका जा सकता है कि उनके नाम के साथ जुड़कर जैनन्याय ही भारतीय न्यायविदों में 'अकलंक-न्याय' कहा जाने लगा। भट्ट अकलंकदेव ऐसे तार्कित हैं, जिन्हें जैनों की दोनों परम्पराओं के महान् ग्रन्थकारों ने समान सम्मान प्रदान किया है तथा उनकी न्यायविषयक प्रस्थापनाओं को स्वीकार किया है। बौद्धदर्शन में जो प्रतिष्ठा धर्मकीर्ति को, चार्वाकों में जो प्रतिष्ठा उसके मत के संस्थापक वृहस्पति को तथा न्यायदर्शन में जो प्रतिष्ठा अक्षपाद गौतम को मिली, वही प्रतिष्ठा सभाओं में तर्कविदग्धता के कारण भट्ट अकलंकदेव को प्राप्त हुई है। दक्षिण भारत में प्राप्त श्रीवादिराजसूरि की प्रशंसा में उत्कीर्ण एक शिलालेख से यह बात स्पष्ट हो जाती है-

सदसि यदकलङ्कः कीर्तने धर्मकीर्तिः
वचसि सुरपुरोधा न्यायवादेऽक्षपादः।
इति समयगुरूणामेकतः सङ्गतानां
प्रतिनिधिरिव देवो राजते वादिराजः॥'

भट्ट अकलंकदेव ने संस्कृत वाङ्मय के श्रेयोमार्ग के पथिक अन्य आचार्यों/कवियों के समान अपने व्यक्तिगत परिचय को अछूता ही रखा है। उन्होंने अपने वंश, माता-पिता आदि के विषय में कुछ भी नहीं लिखा है। न ही इस विषय में कोई अन्य बाह्य प्रबल प्रमाण ही उपलब्ध हैं। फलतः उनके विषय में विषमतायें दृष्टिगोचर होती हैं। कथाकोष में कहा गया है कि अकलंकदेव मान्यखेट के अधिपति शुभतुंग के मन्त्री पुरुषोत्तम के पुत्र थे।

'राजबलिकथे' में उन्हें कांची के ब्राह्मण जिनदास का पुत्र कहा गया है। 'तत्त्वार्थवार्तिक' के प्रथम अध्याय के अंत में एक प्रशस्ति उपलब्ध होती है, जिसमें उन्हें राजा लघुहव्व का पुत्र कहा गया है। उनके जीवनवृत्त के विषय में अन्य जानकारी उपलब्ध नहीं है। हाँ, भट्ट अकलंकदेव के सम्बन्ध में उपलब्ध आंतरिक एवं बाह्य प्रमाणों, प्रचलित आख्यानों एवं किंवदन्तियों से इतना अवश्य निःसन्दिग्ध प्रतीत होता है कि उन्होंने दक्षिण भारत में जन्म लेकर वहाँ की वसुन्धरा को अलंकृत किया था।

भट्ट अकलंकदेव ने 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' की नीति अपनाकर बाल्यावस्था में ही ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने की ठान ली थी। कहा जाता है कि एक बार उनके माता-पिता ने एक मुनिवर से अष्टाह्निका पर्व में आठ दिन के लिए ब्रह्मचर्य व्रत दिलवाया था। माता-पिता के साथ मुनिवर के दर्शन के लिए गये बालक अकलंक ने तभी से ब्रह्मचारी रहने का अपने मन में संकल्प कर लिया। युवावस्था में पिताजी की प्रेरणा से भी उन्होंने विवाह करना स्वीकार नहीं किया तथा आजीवन इस असिधारा-व्रत का परिपालन किया।

भट्ट अकलंकदेव के समय के विषय में अधिक मतभेद नहीं है। क्योंकि पाश्चात्य एवं प्राच्य इतिहासज्ञ मनीषियों ने उनके काल पर प्रामाणिक मंतव्य प्रस्तुत किये हैं। उनका समय विद्वानों ने सातवीं-आठवीं शताब्दी ई. माना है। श्री पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री ने विविध प्रमाणों पर आलोचन-प्रत्यालोचन करके उनका समय 620 ई. से 680 ई. तक निर्धारित किया है। डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, पं. जुगलकिशोर मुख्तार, श्री श्रीकण्ठशास्त्री आदि विद्वानों का मंतव्य भी प्रायः इसी प्रकार का प्रतीत होता है। डॉ. ए.बी. कीथ, डॉ. थामस आदि पाश्चात्य विचारकों तथा डॉ. महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य, डॉ. भाण्डारकर एवं डॉ. के.बी. पाठक आदि प्राच्य विचारकों ने उनका समय आठवीं शताब्दी ईस्वी माना है। यह युग धार्मिक क्षेत्र में बड़ी ही असहिष्णुता का युग था। धार्मिक कट्टरता व्याप्त थी और परिणाम स्वरूप बौद्धधर्मावलम्बी अपने छलपूर्ण तर्कों से जैनों को न केवल पराजित ही कर रहे

थे, अपितु अपमानित करने में अपनी प्रतिष्ठा समझने लगे थे। भट्ट अकलंकदेव का बाल हृदय इससे बड़ा व्यथित होता था। वे चाहते थे कि अध्ययन करके बौद्धों से शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करें। किन्तु उस समय शिक्षापीठों पर बौद्धों का एकाधिकार था और उनमें जैनों का प्रवेश न केवल वर्जित था अपितु महान् दण्डनीय अपराध माना जाता था। अकलंक ने अपने छोटे भाई निकलंक के साथ छलनीति को अपनाकर कांची की महाबोधि विद्यापीठ में बौद्ध बनकर प्रवेश ले लिया। यह अकलंक के जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना कही जा सकती है। क्योंकि विद्यापीठ में अध्ययन करके उन्होंने तर्कविदग्धता तो प्राप्त करली, परन्तु जैनधर्मावलम्बी होने की वास्तविकता का ज्ञान हो जाने पर उनके भाई निकलंक को अपनी जान भी गंवानी पड़ी। अकलंक ने निर्ग्रन्थ दीक्षा ध ारण करके बाद में देशीय गण के आचार्य पद को सुशोभित किया।

भट्ट अकलंकदेव के बौद्धों के साथ अनेक बार शास्त्रार्थ हुये और उनमें उन्हें सफलता मिली तथा जैनधर्म की विजय पताका पुनः फहराई। कलिंग देश में रत्नसंचयपुर के राजा हिमशीतल पल्लववंशी सम्राट् थे। इनकी रानी मदन सुन्दरी जैनधर्मावलम्बी थी, जबकि राजा हिमशीतल बौद्धगुरु संघश्री के अनुयायी थे। जब रानी ने अष्टाह्निका पर्व में रथयात्रा निकालनी चाही तो राजा हिमशीतल ने संघश्री के कहने से शास्त्रार्थ में विजय की शर्त रख दी। भट्ट अकलंकदेव ने जब यह सुना कि रानी इस कारण आहार ग्रहण नहीं कर रही है तो वे आये और उन्होंने संघश्री के कुतर्कों को अपने तर्कों से धराशायी कर दिया। संघश्री ने अपने लिए सिद्ध तारादेवी का आश्रय लिया। छह मास तक निरन्तर चलने वाले इस शास्त्रार्थ में देवी चक्रेश्वरी ने उन्हें कुछ निर्देश दिये। बौद्धगुरु का कुचक्र टूट गया, तारादेवी विवश होकर भाग गई। भट्ट अकलंकदेव विजयी हुये। अष्टाह्निका की रथयात्रा धर्मप्रभावनापूर्वक निकाली गई। राजा हिमशीतल ने जैनधर्म को स्वीकार कर लिया। इसी प्रकार राष्ट्रकूटवंश के राजा सहस्त्रतुंग की सभा में भी भट्ट अकलंकदेव ने बौद्ध-तार्किकों को परास्त किया था। वादिराजसूरि ने पार्श्वनाथचरित में इन्हीं सब कारणों से अकलंकदेव का स्मरण करते हुए उन्हें तर्कभूबल्लभ, अकलंकधी जैसे विशेषणों से

महिमामण्डित करते हुए उन्हें बौद्ध-रूपी चोरों को दण्डित करने वाला कहा है -

'तर्कभूवल्लभो देवः स जयत्यकलङ्कधीः।
जगद्द्रव्यमुषो येन दण्डिताः शाक्यदस्यवः॥'

इसी प्रकार ब्रह्म अजितसेन ने अकलंकदेव को बौद्धों की बुद्धि को विधवापन प्रदान करने वाला दीक्षागुरु कहा है-

'अकलङ्कगुरुर्जीयादकलंकपदेश्वरः।
बौद्धानां बुद्धिवैधव्यदीक्षागुरुरुदाहृतः॥'

उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि भट्ट अकलंकदेव की ख्याति बौद्ध विजेता शास्त्रार्थी विद्वान् के रूप में दिग्दिगान्त में व्याप्त रही है। उनका अनेक बार बौद्ध विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ हुआ तथा वे उस युग में शास्त्रार्थ विजेता के रूप में प्रख्यात हुये, जिस युग में शास्त्रार्थ विद्वत्ता का निकष तथा धर्मप्रचार का प्रमुख साधन समझा जाता था। धनञ्जय कवि ने नाममालाकोश के अन्त में अकलंकदेव के प्रमाण की प्रशंसा करते हुए लिखा है-

'प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
धनञ्जयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥

अर्थात् अकलंक का प्रमाण, पूज्यपाद का व्याकरण और धनञ्जय कवि का काव्य ये तीनों प्रथम श्रेणी के तीन रत्न हैं।

अकलंकदेव द्वारा प्रणीत कृतियाँ -

भट्ट अकलंकदेव द्वारा प्रणीत कृतियों को दो भागों में विभक्त करके देखा जा सकता है। लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय और प्रमाणसंग्रह इनके मौलिक ग्रन्थ हैं तथा तत्त्वार्थवार्तिक और अष्टशती इनके द्वारा रचित टीका ग्रन्थ हैं एवं अकलंकस्तोत्र नामक कृतियाँ भी भट्ट अकलंकदेव द्वारा प्रणीत मानी जाती हैं। अकलंकदेव के नाम पर एक प्रतिष्ठापाठ एवं एक

प्रायश्चित्त ग्रन्थ भी उपलब्ध है, परन्तु पूर्व में कथित चार मौलिक ग्रन्थ तथा दो टीकाग्रन्थों के अतिरिक्त कृतियाँ असंदिग्ध रूप से अकलंकप्रणीत नहीं कही जा सकती हैं।

१. लघीयस्त्रय

जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है कि इसमें छोटे-छोटे तीन प्रकरणों का समावेश है। ये तीन प्रकरण हैं-प्रमाणप्रवेश, नयप्रवेश और निक्षेप प्रवेश। प्रमाणप्रवेश नामक प्रकरण में प्रत्यक्ष, प्रमेय, परोक्ष और आगम नामक 4 परिच्छेद हैं। नयप्रवेश अविभक्त स्वतन्त्र है तथा निक्षेप प्रवेश को प्रवचन एवं निक्षेप नामक दो परिच्छेदों में विभक्त किया गया है। इस प्रकार लघीयस्त्रय में कुल सात परिच्छेद कुल मिलाकर 78 गाथाप्रमाण है। लघीयस्त्रय पर भट्ट अकलंकदेव की स्वोपज्ञ विवृति भी है। इस विवृति में सूचित विषयों की परिपूर्ति की गई है। यह एक अनुपम दार्शनिक ग्रन्थ है। इसके सात परिच्छेदों का वर्ण्य विषय इस प्रकार है-

प्रथम परिच्छेद - सम्यग्ज्ञान की प्रमाणता, प्रमाण के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष भेद, प्रत्यक्ष के मुख्य एवं सांव्यवहारिक भेद, सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के इन्द्रिय प्रत्यक्ष एवं अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष दो भेद तथा उपभेद।

द्वितीय परिच्छेद - वस्तु की नित्यानित्यता तथा भेदाभेदात्मकता।

तृतीय परिच्छेद - मतिज्ञान के नामान्तर तथा उत्तरावस्था में श्रुतज्ञान व्यपदेश, व्याप्तिग्राही तर्क का प्रामाण्य, अनुमान का लक्षण, उपमान का अन्तर्भाव आदि।

चतुर्थ परिच्छेद - प्रमाणाभास का स्वरूप, श्रुत की प्रमाणता तथा प्रमाण के स्वरूप, संख्या, विषय एवं फल का निरूपण।

पञ्चम परिच्छेद - नय एवं कुनय का लक्षण, नय के भेद आदि।

षष्ठ परिच्छेद - नय-निक्षेप कथन की प्रतिज्ञा, श्रुत के सकलादेश एवं विकलादेश रूप उपयोग आदि, नयों का शब्दार्थ रूप विभाजन।

सप्तम परिच्छेद - निक्षेप का निरूपण।

आचार्य अकलंकदेव ने प्रवचन एवं निक्षेप को स्वोपज्ञवृत्ति में एक ही परिच्छेद में रखा है। अत: उनके अनुसार तो छह परिच्छेद ही हैं। परन्तु लघीयस्त्रय के टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्र और अभयचन्द्रसूरि ने सात परिच्छेदों में विभाजन किया है।

लघीयस्त्रय में भट्ट अकलंकदेव ने विविध दार्शनिकों के मतों की समीक्षा करते हुए बड़े ही तार्किक ढंग से जैनन्याय की प्रतिष्ठा की है। मुख्यत: इसमें प्रमाण, नय एवं निक्षेप का संक्षिप्त वर्णन होने से इसे लघीयस्त्रय कहा गया है।

२. न्यायविनिश्चय

480 कारिकाओं वाले इस ग्रन्थ में प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रवचन नामक तीन प्रस्ताव हैं। इस पर भट्ट.अकलंकदेव द्वारा स्वोपज्ञ वृत्ति भी है। वृत्ति को ग्रन्थ की टीका नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि यह विषय की सूचना प्रध ान है। कारिकाओं के पूर्व गद्यात्मक उत्थानिका बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है। ग्रन्थ की भाषा अत्यन्त प्रौढ तथा उनकी समालोचना पद्धति अत्यन्त प्रभावक एवं उनकी तीक्ष्ण प्रतिभा की परिचायक है।

प्रथम प्रस्ताव में 169½ कारिकाओं में प्रत्यक्ष प्रमाण का विशद वर्णन किया गया है। इसके अन्तर्गत इन्द्रियप्रत्यक्ष का लक्षण, ज्ञान के परोक्षत्व का खण्डन एवं स्वसंवेदनत्व की सिद्धि, द्रव्य का लक्षण, गुण-पर्याय का स्वरूप, पदार्थ की उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकता का विवेचन, अपोहरूप सामान्यत्व का निराकरण, बौद्धों द्वारा मान्य स्वसंवदेन प्रत्यक्ष, योगि प्रत्यक्ष एवं मानव प्रत्यक्ष का खण्डन, सांख्यों द्वारा स्वीकृत प्रत्यक्ष लक्षण का खण्डन, नैयायिक सम्मत

प्रत्यक्ष का समीक्षण तथा अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के लक्षण आदि विषयों का वर्णन हुआ है। द्वितीय प्रस्ताव में 216½ कारिकायें हैं, जिसमें अनुमान का विवचेन है। इसके अन्तर्गत का अनुमान का लक्षण तथा उसकी बाह्यार्थ विषयता, साध्य-साधनाभास का लक्षण, तर्क की प्रमाणता, असिद्धादि हेत्वाभासों का विवेचन, दृष्टान्त-दृष्टान्ताभास का विवेचन, वाद-वादाभास का स्वरूप, निग्रहस्थान आदि अनुमान से सम्बन्धित विविधि विषयों का संग्रह है। तृतीय प्रस्ताव में 94 कारिकायें है। इस प्रस्ताव में आगमिक विवेचना हुई है। इसके अन्तर्गत प्रवचन का स्वरूप, बुद्ध की आप्तता का निराकरण, उनकी करुणा तथा चार आर्यसत्यों की विवेचना की समीक्षा, आगम के अपौरुषेय होने की असंभवता, सर्वज्ञ की सिद्धि, शब्द की नित्यता का निराकरण, जीवादि तत्त्वों का प्रतिपादन, मोक्ष का स्वरूप, स्याद्वाद के सप्त भंगों की विवेचना, स्याद्वाद सिद्धान्त में दिये जाने वाले संशय आदि दोषों का निरास, स्मरण एवं प्रत्यभिज्ञान की प्रमाणता तथा प्रमाण के फल आदि विषय वर्णित हैं। सभी विषयों के प्रतिपादन में तथा परमतखण्डन में भट्ट अकलंकदेव का तर्कवैदग्ध्य अनूठा है।

३. सिद्धिविनिश्चय

भट्ट अकलंदेव द्वारा प्रणीत सिद्धिविनिश्चय में भी प्रमाण, नय और निक्षेप का विवेचन हुआ है। इस पर भी उनकी स्वोपज्ञ वृत्ति है तथा अनंतवीर्य ने सिद्धिविनिश्चय पर टीका भी लिखी है। सिद्धिविनिश्चय में बारह प्रस्ताव हैं, जिनका विवेच्य विषय इस प्रकार है-

प्रथम प्रस्ताव (प्रत्यक्ष सिद्धि)	-	प्रमाण का लक्षण एवं फल, निर्विकल्प प्रत्यक्ष का निराकरण आदि।
द्वितीय प्रस्ताव (सविकल्प सिद्धि)	-	अवग्रहादि ज्ञानों में पूर्व पूर्व की प्रमाणता तथा उत्तरोत्तर फल रूपता।
तृतीय प्रस्ताव (प्रमाणातंर सिद्धि)	-	स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क की प्रमाणता।

चतुर्थ प्रस्ताव (जीवसिद्धि) - आत्मस्वरूप का विवेचन।

पञ्चम प्रस्ताव (जल्प सिद्धि) - जल्प का लक्षण एवं उसकी चतुंरगता आदि।

षष्ठ प्रस्ताव (हेतुलक्षण सिद्धि) - हेतु का लक्षण एवं उसके भेद।

सप्तम प्रस्ताव (शास्त्रसिद्धि) - जीव की चेतनता, ईश्वरवाद, वेदापौरुषेयत्व आदि पर विचार।

अष्टम प्रस्ताव (सर्वज्ञसिद्धि) - सर्वज्ञता की सिद्धि।

नवम प्रस्ताव (शब्दसिद्धि) - शब्द की पौद्गलिकता की सिद्धि।

दशम प्रस्ताव (अर्थनयसिद्धि) - नैगमादि चार अर्थनय एवं नयाभास।

एकादश प्रस्ताव (शब्दनयसिद्धि) - शब्दादि तीन शब्दनयों का वर्णन।

द्वादश प्रस्ताव (निक्षेपसिद्धि) - निक्षेप एवं उसके भेदोपभेद।

४. प्रमाणसंग्रह

अत्यन्त प्रौढ़ शैली में लिखित यह संभवत: अकलंकदेव की अन्तिम कृति है। क्योंकि इसमें उन्होंने उपर्युक्त तीनों कृतियों के वर्णन से अवशिष्ट विषयों को वर्णित करने का प्रयास किया है। इसमें 87½ कारिकायें तथा नौ प्रस्ताव है। प्रस्तावों का वर्ण्यविषय इस प्रकार है-

प्रथम प्रस्ताव - प्रत्यक्ष का लक्षण, प्रत्यक्ष-अनुमान-आगम और उनका फल तथा मुख्य प्रत्यक्ष प्रमाण। 9 कारिकायें।

द्वितीय प्रस्ताव - स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क परोक्ष प्रमाण। कुल 9 कारिकायें।

तृतीय प्रस्ताव - अनुमान के अंग, साध्य एवं साधन एवं साधन के लक्षण, साध्याभास, संशयादि आठ दोष। कुल 10 कारिकायें।

चतुर्थ प्रस्ताव - अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु, अनुपलब्धि के भेद। 11½ कारिकायें।

पञ्चम प्रस्ताव - हेत्वाभास विषयक विवेचन, अंतर्व्याप्ति का वर्णन। 10½ कारिकायें।

षष्ठ प्रस्ताव - वाद, जय, पराजय आदि शास्त्रार्थ विषयक विवेचन। 10½ कारिकायें।

सप्तम प्रस्ताव - प्रवचन का लक्षण, सर्वज्ञता की सिद्धि, अपौरुषेयता का खण्डन। 10 कारिकायें।

अष्टम प्रस्ताव - सप्तभंगी एवं नैगमादि नयों का वर्णन। 13 कारिकायें।

नवम प्रस्ताव - प्रमाण, नय एवं निक्षेप का निर्वहण। 12 कारिकायें।

५. तत्त्वार्थवार्तिक

आचार्य उमास्वामिकृत तत्त्वार्थसूत्र संस्कृत में रचित सर्वप्रथम जैन रचना एवं आद्य सूत्र-ग्रन्थ है। अकलंकदेवकृत तत्त्वार्थवार्तिक इसी तत्त्वार्थसूत्र की गहन व्याख्या है। यह व्याख्या वार्तिक रूप में लिखी गई है, अतः इसे तत्त्वार्थवार्तिक संज्ञा स्वयं भट्ट अकलंकदेव ने 'वक्ष्ये तत्त्वार्थवार्तिकम्' कहकर दी है। इसकी यह विशेषता है कि पहले तत्त्वार्थसूत्र पर अकलंकदेव ने वार्तिक लिखे हैं तथा वार्तिकों पर पुनः भाष्य भी लिखा है। इसका मूल आधार आचार्य पूज्यपाद द्वारा लिखित तत्वार्थसूत्र की टीका सर्वार्थसिद्धि है। अतः सर्वार्थसिद्धि के विशिष्ट वाक्यों को भी वार्तिक बनाया गया है तथा नवीन वार्तिकों की रचना भी इसमें की गई है। जब-जब अकलंकदेव ने दार्शनिक विषयों वाले सूत्रों की व्याख्या की है, तब-तब 'अनेकान्तात्' वार्तिक जरूर दिया है। इस प्रकार उन्होंने अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा में कोई कसर नहीं छोड़ी है।

तत्त्वार्थसूत्र की व्याख्या होने के कारण तत्त्वार्थवार्तिक भी तत्त्वार्थसूत्र की तरह ही दस अध्यायों में विभक्त है। तत्त्वार्थवार्तिक में आचार्य अकलंकदेव ने

सांख्य, न्याय-वैशेषिक, मीमांसा, बौद्ध तथा चार्वाक दार्शनिकों की तार्किक संमीक्षा की है। उनकी तर्कविदग्धता अद्वितीय है। उनक तर्क अपने कथ्य को सिद्ध करने में पूर्णतया समर्थ हैं। इस सम्बंध में उनका एकाध तर्क द्रष्टव्य है। जब यह आशंका की गई कि मोक्ष प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर तो है नहीं, तब उसका मार्ग बताना निष्प्रयोजन है तो इसका समाधान करते हुए भट्ट अकलंकदेव कहते हैं कि अनुमान से उसकी सिद्धि हो जाती है। जैसे घटीयन्त्र (रेंहट) का घूमना धुरी से, धुरी का घूमना जुते हुए बैलों के घूमने से होता है और बैलों के रुक जाने से सबका घूमना रुक जाता है। उसी प्रकार कर्मोदय से गतिचक्र चलता है और गतिचक्र से वेदना रूपी घटीयन्त्र घूमता है। कर्मोदय की निवृत्ति होने पर चतुर्गति का चक्र रुक जाता है। अत: मोक्ष दृष्टिगोचर न होने पर भी अनुमान से सिद्ध है।

६. अष्टशती

यह आचार्य समन्तभद्र द्वारा लिखित आप्तमीमांसा नामक ग्रन्थ पर लिखी गई वृत्ति है। इसका प्रमाण 800 श्लोक है, अत: इसे अष्टशती संज्ञा से अभिहित किया गया है। इसे आप्तमीमांसा-भाष्य या देवागम विवृति भी कहा जाता है। क्योंकि आप्तमीमांसा का अपर नाम देवागम भी है। अष्टशती एक क्लिष्ट एवं दुरूह वृत्ति है। इसे समझना विद्यानन्दिकृत अष्टसहस्री (आप्तमीमांसा की व्याख्या) के बिना असंभव सा प्रतीत होता है। अकलंकदेव ने अष्टशती में बौद्धों की कदम-कदम पर समालोचना की है किन्तु इस समालोचना में कहीं भी दुराग्रह की गन्ध नहीं है। अष्टशती में प्रमुख रूप से द्वैतवाद-अद्वैतवाद, शाश्वतवाद- अशाश्वतवाद, वक्तव्यवाद - अवक्तव्यवाद, सापेक्षवाद-निरपेक्षवाद, हेतुवाद- अहेतुवाद, दैववाद - पुरुषार्थवाद, पुण्यवाद-पापवाद आदि विविध दार्शनिक मतों की समीक्षा दृष्टिगत होती है। अष्टशती की शैली यद्यपि दुरूह है तथापि उसमें अर्थ की गंभीरता है। हाँ, कहीं-कहीं तो व्यंग्य के चुटीलेपन से दर्शन जैसा नीरस साहित्य भी सरस प्रतीत होने लगता है। अदृश्यानुपलब्धि से अभाव की सिद्धि न मानने पर वे बौद्धों पर करारा व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि-

दध्यादौ न प्रवर्तेत बौद्धः तद्‌भुक्तये जनः।
अदृश्यां सौगतीं तत्र तनूं सशङ्कमानसः।।
दध्यादिके तथा भुंक्ते न भुक्तं काञ्जिकादिकम्।
इत्यसौ वेत्तुं नो वेत्ति न भुक्ता सौगती तनुः।।

अर्थात् अदृश्य की शंका से बुद्ध का अनुयायी व्यक्ति निःशंक प्रवृत्ति नहीं कर सकेगा क्योंकि वहाँ बुद्ध के अदृश्य देह की आशंका बनी रहेगी। दही खाने पर कांजी नहीं खाई - यह तो वह समझ सकता है किन्तु बुद्ध का शरीर नहीं खाया - यह समझना उन्हें संभव नहीं है।

इसी प्रकार अन्य अनेक स्थलों पर उन्होंने बड़े ही मार्मिक व्यंग्यों का प्रयोग किया है।

संगोष्ठी आख्या

राष्ट्रीय विद्वत् संगोष्ठी, शाहपुर - मुजफ्फरनगर (उ०प्र०)

२७-२६ अक्टूबर, १६६६

अशोक कुमार जैन

जैनन्याय को आचार्य अकलंकदेव का अवदान विषय पर राष्ट्रीय विद्वत् संगोष्ठी का आयोजन दिनांक २७ से २६ अक्टूबर, १६६६ तक वात्सल्यमूर्ति **प० पू० १०८ उपाध्याय श्री ज्ञानसागरजी महाराज** एवं **मुनि श्री वैराग्यसागरजी महाराज** के मंगल सान्निध्य में शाहपुर (मुजफ्फरनगर) में अत्यन्त गरिमापूर्वक तथा उल्लासमय वातावरण में सम्पन्न हुआ। इस गोष्ठी में राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में ख्यातिप्राप्त तीस विद्वानों ने भाग लेकर जैनन्याय के प्रतिष्ठापक आचार्य अकलंकदेव के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से सम्बन्धित गवेषणात्मक शोध आलेखों को प्रस्तुत कर विनीत भावांजलि प्रस्तुत की।

उद्घाटन सत्र में पूज्य उपाध्याय श्री ज्ञानसागरजी महाराज ने अपने प्रवचन में कहा कि दर्शन विषयक शास्त्रों की सुरक्षा में भारतीय संस्कृति सुरक्षित है। हमें जैन साहित्य एवं संस्कृति की सुरक्षा के लिए आचार्य अकलंकदेव एवं निकलंक जैसे महान् आचार्यों के त्याग को सदैव स्मरण रखना चाहिए। आचार्य अकलंकदेव ने ब्रह्मचर्य-व्रत धारणकर जो न्याय साहित्य लिखा वह अप्रतिम है। प्राचीन आचार्यों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को जनमानस तक पहुँचाने हेतु संगोष्ठियों की वर्तमान में अत्यन्त आवश्यकता एवं सार्थकता है। सराकोद्धार के विषय में पूज्य उपाध्यायश्री ने कहा कि सराकों के मूलधारा में जुड़ने से जैनों की जनशक्ति में वृद्धि होगी तथा उनसे जैन संस्कृति की प्रभावना होगी।

कुल सात सत्रों में पठित आलेखों का विवरण निम्नवत् है-

प्रथम उद्घाटन सत्र

श्री दि० जैन विद्यालय शाहपुर के भव्य प्रांगण में पूज्य मुनिद्वय के पुनीत सान्निध्य में ख्याति प्राप्त अन्तर्राष्ट्रीय विद्वान डॉ० प्रो० बी०बी० रानाडे (लाडनूं) की अध्यक्षता, चक्रेशकुमार जैन दिल्ली के मुख्य आतिथ्य एवं डॉ० अशोककुमार जैन (लाडनूं) के संयोजकत्व में प्रथम सत्र का कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ। श्रीमती सुलोचना जैन दिल्ली ने ध्वजारोहण एवं श्री विनयकुमार दिल्ली व महेन्द्रकुमार दिल्ली ने ज्ञान एवं वैराग्य दीप का प्रज्ज्वलन किया, मंगलाचरण अनीता एवं मन्जुला जी, पं० शिवचरणलाल मैनपुरी तथा पुनीत जैन ने किया। संगोष्ठी में सम्मान्य विद्वानों एवं अतिथियों का शाहपुर दि० जैन समाज तथा चातुर्मास समिति ने तिलक एवं श्री फल भेंटकर हार्दिक स्वागत किया।

संगोष्ठी में रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए संयोजक डॉ० अशोककुमार जैन ने कहा कि न्याय विद्या के कारण ही जैनधर्म सुरक्षित रहा है। आचार्य अकलंकदेव जैन न्याय के अप्रतिम आचार्य हैं जिन्होंने अनेकों दार्शनिक ग्रन्थों का प्रणयन कर सद्बोध दिया। इस अवसर पर जैनदर्शन के सुप्रसिद्ध मनीषी प्रो० उदयचन्द वाराणसी ने कहा कि भगवान् ऋषभदेव के पुत्र भरत ने नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष है। आचार्य अकलंकदेव का जैनन्याय को महनीय योगदान है उनका प्रभावक व्यक्तित्व एंव कृतित्व जन-जन के लिए आदर्श एवं प्रेरणाप्रद है। उनके साहित्य के अध्ययन के प्रति हमें समर्पित होना चाहिए। पं० शिवचरण लाल मैनपुरी ने वस्तु स्वरूप को जानने हेतु निश्चय एवं व्यवहारनय की आवश्यकता का सरल एवं सरस ढ़ग से प्रस्तुत कर श्रावकों को मन्त्रमुग्ध कर दिया।

"भट्ट अकलंकदेव की तर्क विदगधता" विषय पर **डॉ० जयकुमार जैन महामंत्री अ० भा० दि० जैन शास्त्री परिषद् मुजफ्फरनगर** ने आलेख प्रस्तुत करते हुए कहा कि अकलंकदेव ने अकाट्य तर्कों के माध्य से जैन धर्म की सुरक्षा की। प्रमाण के क्षेत्र में वे उसी तरह हैं जैसे उपमा के क्षेत्र में कालिदास।

मुख्य अतिथि पद से बोलते हुए दिल्ली समाज के सुप्रसिद्ध नेता चक्रेशकुमार जैन कहा कि गुरुओं के दर्शन से हमें अपूर्व शान्ति मिलती है एवं संगोष्ठी की सफलता की मंगलकामना की।

अध्यक्षीय वक्तव्य में प्रो० बी०बी० रानाडे ने कहा कि पू० उपाध्याय ज्ञानसागर महाराज के चरणों के स्पर्श से शाहपुर सांस्कृतिक केन्द्र बन गया है। जैनत्व मनुष्यत्व का प्रतीक है। आ० अकलंकदेव ने अपना सम्पूर्ण साहित्य मानव जाति के कल्याण के लिए लिखा। स्व० पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य का भाव विह्ल होकर स्मरण करते हुए प्रो० रानाडे ने दर्शन के क्षेत्र में उनके द्वारा किये गये कार्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

अन्त में संयोजक द्वारा आभार ज्ञापन करने के बाद जिनवाणी की स्तुति एवं उपाध्याय श्री के जयघोष के साथ प्रथम सत्र का समापन हुआ।

द्वितीय सत्र

संगोष्ठी का द्वितीय सत्र पू० उपाध्याय ज्ञानसागर महाराज की मौन उपस्थिति के बीच डॉ कमलेश कुमार (वाराणसी) के मंगलाचरण से प्रारंभ हुआ। इस सत्र की अध्यक्षता प्रो० उदयचन्द जैन सर्वदर्शनाचार्य वाराणसी एवं संयोजन डॉ० जयकुमार जैन (मुजफ्फरनगर) ने किया। इस सत्र में विद्वानों ने आ० अकलंकदेव द्वार प्रणीत साहित्य के वैशिष्ट्य पर गवेषणात्मक आलेख प्रस्तुत किया-

द्वितीय सत्र के शोध निबन्ध वाचक और उनके विषयः-

१. डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर (राज)	हिन्दी कथा साहित्य में आ० अकलंकदेव का व्यक्तित्व एवं कृतित्व
२. डॉ० रमेशचन्द जैन, बिजनौर (उ० प्र०)	"आचार्य अकलंकदेव कृत तत्त्वार्थवार्तिक के कतिपय वैशिष्ट्य"
३. डॉ० कमलेश कुमार जैन, वाराणसी	"लघीयस्त्रय का दार्शनिक वैशिष्ट्य
४. डॉ० सुरेशचन्द जैन, वाराणसी	"आचार्य अकलंकदेव और उनके प्रमाणसंग्रह का वैशिष्ट्य"

सत्र के अध्यक्ष प्रो० उदयचन्द जी ने कहा कि मुझे आज १९८६ में आयोजित जैन न्याय विद्या वाचन आयोजन का स्मरण हो रहा है। वह कार्यक्रम भी पू० उपाध्यायश्री की प्रेरणा से ललितपुर में आयोजित हुआ था। संगोष्ठी में पठित आलेखों की समीक्षा करते हुए अपने वक्तव्य में आ० अकलंक की ऐतिहासिकता तथा उनकी दार्शनिक विशेषताओं का सम्यक् प्रकाश डाला।

तृतीय सत्र

दिनांक २८-१०-९६ को प्रातः ८ बजे से दि० जैन धर्मशाला, शाहपुर में पू० मुनिद्वय के मंगल-सान्निध्य में बहिन अनीता के मंगलाचरण से तृतीय सत्र का प्रारम्भ हुआ। इस सत्र की अध्यक्षता प्रो० डॉ० भागचन्द भास्कर (नागपुर) एवं संयोजन डॉ० रमेशचन्द (बिजनौर) ने किया। तृतीय सत्र के पत्रवाचक विद्वान एवं उनके विषय-

१. प्रो० उदयचन्द जैन, सर्वदर्शनाचार्य, वाराणसी	आ० अकलंकदेव का दर्शनान्तरीय अध्ययन
२. पं० शिवचरण लाल, मैनपुरी	कुशल टीकाकार आ० अकलंकदेव
३. प्रो० बी०बी. रानाडे, लाडनूं (राज)	सिद्धिविनिश्चय का दार्शनिक वैशिष्ट्य
४. डॉ० सुपार्श्वकुमार, बडौत (उ० प्र०)	आ० अकलंकदेव पर पूर्वाचार्यों का प्रभाव

इन सभी लेखों पर विद्वानों ने परिचर्चा की। अध्यक्षीय वक्तव्य में डॉ० भागचन्द भास्कर ने कहा कि आ० अकलंकदेव ज्येष्ठ, वरिष्ठ एवं गरिष्ठ आचार्य हैं। अनेकान्त जैनदर्शन का प्रमाण है। आज जैन साहित्य एवं संस्कृति के संरक्षण की परम आवश्यकता है।

परम पूज्य उपाध्याय ज्ञानसागर महाराज ने मंगल उद्बोधन में कहा कि न्याय के विषय पर लेखनी चलाना श्रमसाध्य कार्य है। आज प्राचीन संस्कृति को सुरक्षा अत्यन्त आवश्यक है।

हमें जैनन्याय साहित्य को आधुनिक विधा में सम्पादित कर जन-जन तक पहुँचाना चाहिए।

अन्त में जिनवाणी स्तवन एवं महावीर भगवान की जयघोष के साथ सत्र समाप्त हुआ।

चतुर्थ सत्र

दिनांक २८-१०-६६ को दोपहर २ बजे दि० जैन धर्मशाला शाहपुर में पू० मुनिद्वय के मंगल सान्निध्य में श्री पं० शिवचरणलाल मैनपुरी के मंगलाचरण से चतुर्थ सत्र प्रारम्भ हुआ। सत्र की अध्यक्षता प्रो० डा० नन्दलाल जैन (रीवा) ने की एवं संयोजन डॉ० सुरेशचन्द (वाराणसी) ने किया।

चतुर्थ सत्र के पत्रवाचक विद्वान एवं उनके विषय-

१. डॉ० प्रकाशचन्द्र जैन, प्राचार्य दिल्ली	"आचार्य अकलंकदेव का उत्तरवर्ती आचार्यों पर प्रभाव"
२. डॉ० श्रेयांस कुमार जैन, बडौत (उ० प्र०)	"आचार्य भट्टाकलंकदेव की प्रत्यक्ष प्रमाण विषयक अवधारणा
३. डॉ० फूलचन्द्र प्रेमी, वाराणसी (उ० प्र०)	"आ० पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि एवं आ० अकलंकदेव कृत तत्त्वार्थवार्तिक का तुलनात्मक अध्ययन"
४. डॉ० कपूरचन्द खतौली (उ० प्र०)	"शिलालेखों के आलोक में आ० अकलंकदेव"

इस सत्र में पठित आलेखों पर विद्वानों के मध्य चर्चा-परिचर्चा हुई। अध्यक्षीय वक्तव्य में डॉ० नन्दलाल जैन ने आलेखों की समीक्षा की तथा कहा कि ऐसे सारस्वत अनुष्ठानों से समाज में सम्यग्ज्ञान के प्रचार-प्रसार का प्रशस्त वातावरण बनता है। अन्त में पू० उपाध्याय ज्ञानसागर महाराज ने कहा कि वस्तु स्वरूप के निर्धारण में प्रमाण और नयों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। यह सूक्ति प्रसिद्ध है-

प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
धनञ्जयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्।।

आचार्य अकलंक वे प्रमाण की जो परिभाषाएँ स्थिर की। दोनों ही परम्पराओं ने इनको प्रमाणभत मानकर दार्शनिक सिद्धान्तों का विकास किया। हमें ऐसे महान आचार्य के प्रति कृतज्ञता का अर्घ्य समर्पित कर उनके साहित्य के अध्ययन का नियम लेना चाहिए।

जिनवाणी स्तवन के साथ सत्र सम्पन्न हुआ।

पंचम सत्र

दिनांक २८-१०-६६ को रात्रि ७ बजे से पू० उपाध्याय ज्ञानसागर महाराज की मौन उपस्थिति के बीच डॉ० अशोक कुमार जैन (लाडनूं) के मंगलाचरण से सत्र प्रारम्भ हुआ। इस पंचम सत्र की अध्यक्षता डॉ० कस्तूरचन्द कासवीवाल (जयपुर) तथा संयोजन डॉ० कमलेशकुमार (वाराणसी) ने किया।

पंचम सत्र के पत्रवाचक विद्वान एवं उनके विषय-

१. प्राचार्य पं० नरेन्द्रप्रकाश जैन, फिरोजाबाद	जिनशासन प्रभावक आ० अकलंकदेव
२. डॉ० भागचन्द भास्कर, नागपुर (महाराष्ट्र)	"विज्ञानवाद पर आ० अकलंक और उनके टीकाकार"
३. डॉ० नन्दलाल जैन, रीवा (म० प्र०)	"आ० अकलंक और जीव की परिभाषा"
४. पं० निर्मल जैन, सतना	"अनेकान्त के अद्वितीय व्याख्याकार आ० अकलंकदेव

इन आलेखों पर विद्वानों में चर्चा-परिचर्चा हुई। सभाध्यक्ष डॉ० कासलीवाल जी ने आलेखों की समीक्षा कर सभी विद्वानों का साहित्य साधना हेतु आह्वान किया।

षष्ठ सत्र

दिनांक २६-१०-६६ को श्री दि० जैन धर्मशाला में पू० उपाध्याय ज्ञानसागर महाराज एवं वैराग्यसागर महाराज के मंगल सान्निध्य में श्री पं० मूलचन्द शास्त्री टीकमगढ़ (म० प्र०) के मंगलाचरण से षष्ठ सत्र प्रारम्भ हुआ। इस सत्र की अध्यक्षता 'जैन गजट' के यशस्वी सम्पादक प्राचार्य पं० नरेन्द्र प्रकाश फिरोजाबाद (उ० प्र०) ने की एवं संयोजन पं० निर्मल जैन सतना ने किया।

षष्ठ सत्र के शोध पत्र वाचक विद्वान एवं उनके विषय-

१ पं० निहालचन्द जैन, प्राचार्य, बीना (म० प्र०)	"आचार्य अकलंकदेव कृत तत्त्वार्थवार्तिक में अजीव द्रव्य की वैज्ञानिकता"
२ डॉ० सुरेन्द्र भारती, बुरहानपुर (म० प्र०)	"आ० अकलंकदेव कृत तत्त्वार्थवार्तिक में प्रतिपादित मानवीय मूल्य"
३ डॉ० अशोक कुमार जैन, लाडनूं (राज०)	"अनेकान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य अकलंकदेव"

सत्र में पठित आलेखों पर विद्वानों ने पर्याप्त उहापोह किया।

प्रो० उदयचन्द जैन वाराणसी ने अनेकान्त के सन्दर्भ में विद्वानों को प्रामाणिक विशिष्ट जानकारी दी।

अध्यक्षीय वक्तव्य में प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जैन ने कहा कि व्यक्तित्व के विकास में जो व्यावहारिक हो उसे प्रकाशित करना चाहिए। समता, सुख, मानवीयता का विकास मनुष्य का लक्ष्य होगी। समापन सत्र में गुणात्मक समीक्षा होना चाहिए।

पूज्य उपाध्याय श्री ने अपने आर्शीर्वचन में कहा कि सत्य से साक्षात्कार और विषमता से समता की ओर जाना जीवन का लक्ष्य है। दर्शन के साथ मानवीय गुणों की चर्चा भी हो। अनेकान्तवाद सहिष्णुता का पाठ पढ़ाता है। आ० अकलंकदेव ने सिद्धान्तों में अनेकान्त की उपयोगिता का प्रतिपादन करने के साथ उसमें व्यावहारिक पक्ष के तथ्यों को भी उद्घाटित किया है। अनेकान्त के द्वारा विश्व की अनेक समस्याओं का निराकरण हो सकता है।

जिनवाणी के स्तवन के साथ षष्ठ सत्र उल्लासमय वातावरण में सम्पन्न हुआ। दिनांक २६-१०-६६ को दि० जैन धर्मशाला शाहपुर के प्रांगण में पू० उपाध्याय ज्ञानसागर एवं वैराग्य सागर महाराज के सान्निध्य में अतुल भैया एवं विदुषी बहिन अनीता के मंगलाचरण से समापन सत्र की कार्यवाही प्रारम्भ हुई। इस सत्र की अध्यक्षता सुप्रसिद्ध विद्वान श्री पं० शिवचरण शास्त्री, मैनपुरी ने तथा सत्र का संयोजन डॉ० अशोककुमार जैन, लाडनूं ने किया। सर्वप्रथम सराक ज्योति के सम्पादक युवा विद्वान डॉ० सुशील जैन (कुरावली) ने भक्ति परक काव्य की पंक्तियों से श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध किया। प्राचार्य डॉ० प्रकाशचन्द दिल्ली ने स्वरचित संस्कृत श्लोकों में संगोष्ठी की कार्यवाही का हृदयग्राही चित्रण किया। डॉ० मूलचन्द जैन (मुजफ्फरनगर) ने "श्रावकाचार तनाव मुक्ति का साधन" इस विषय पर अपने महत्त्वपूर्ण लेख को पढ़ा। डॉ० सुशील मैनपुरी ने कहा कि गुरुओं के दर्शन से हमें आध्यात्मिक ऊर्जा प्राप्त होती है। उन्होंने पू० उपाध्यायश्री के प्रेरक व्यक्तित्व एवं चातुर्मास की महत्ता का प्रतिपादन किया।

इस अवसर पर डॉ० अशोककुमार जैन (लाडनूं) द्वारा सम्पादित कृति "सराकोत्थान प्रेरणा के स्वर" पुस्तक का विमोचन प्राचार्य प० नरेन्द्रप्रकाश जी फिरोजाबाद ने किया। समाज का आहान करते हुए प्राचार्य जी ने सामयिक संदर्भो में समाज को जागरूक होने का आहान किया। इस प्रकार की ज्ञान गोष्ठियां समाज को जागरण का मन्त्र प्रदान करती हैं। शाहपुर की छोटी सी जैन समाज का आतिथ्य सत्कार आज समाज को प्रेरणादायी है। उनकी गुरु भक्ति एवं समर्पण भाव, वह अनुकरणीय है।

तत्पश्चात शाहपुर दि० जैन समाज के पदाधिकारियों ने सरस्वती के उपासक विद्वानों का तिलक, प्रशस्ति पत्र एवं प्रतीक से हार्दिक सम्मान किया। डॉ० रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर ने विद्वानों की ओर से शाहपुर दि० जैन समाज के इतने सुन्दर कार्यक्रम हेतु बधाई दी तथा आतिथ्य सत्कार हेतु समाज की भूरि-भूरि प्रशंसा की। पं० पवनकुमार शास्त्री मोरेना ने कविता प्रस्तुत की।

अध्यक्ष वक्तव्य में श्री पं० शिवचरण लाल मैनपुरी ने कहा कि यह गोष्ठी जैन न्याय का मानो दशाब्दी समारोह है क्योंकि १९८६ में सर्वप्रथम पू० उपाध्यायश्री जब क्षुल्लक अवस्था में ललितपुर में विराजमान थे उस समय उन्हीं की प्रेरणा से डॉ० अशोक कुमार जैन के संयोजकत्व में यह प्रयास प्रारम्भ हुआ था। जैन दर्शन के क्षेत्र में अकलंक का समाज एवं राष्ट्र पर महान् उपकार है।

संयोजक डॉ० अशोक कुमार जैन ने समागत सभी विद्वानों के प्रति एवं शाहपुर दि० जैन समाज के सदस्यों के प्रति आभार व्यक्त किया।

अन्त में पू० उपाध्यायश्री ने आशीर्वचन में कहा कि विद्वान् समाज के मार्गदर्शक हैं। साहित्य साधना के साथ-साथ चारित्रिक क्षेत्र में भी इन्हें विकास की ओर अग्रसर होकर समाज के बीच में आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए।

संगोष्ठी में लिये गये महत्त्वपूर्ण निर्णय-

१. आ० जिनमती जी ने कुछ वर्षों पूर्व प्रमेयकमलमार्त्तण्ड का अनुवाद किया था। उसका पुनः मुद्रण हो।

२. राष्ट्रीय विद्वत् संगोष्ठी में पठित आलेखों का सम्पादन कर प्रकाशित किया जाए।



विषयानुक्रमणिका

प्राचीन जैनाचार्य और उनका दार्शनिक साहित्य

*सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री**

आचार्य कुन्दकुन्दः

जैन दार्शनिक साहित्य का क्रमबद्ध इतिहास ईसा की प्रथम शताब्दी से प्रारम्भ होता है। इस शताब्दी में कुन्दकुन्दाचार्य नाम के महान् प्रभावक आचार्य हुए। इनका समय विक्रम की तीसरी शताब्दी का है। इनका नाम पद्मनन्दि था। किन्तु अपने जन्म-स्थान कुन्दकुन्दपुर के नाम पर ये आचार्य कुन्दकुन्द के नाम से ही ख्यात हैं। ये मूलसंघ के अग्रणी थे जो दिगम्बर-आम्नाय का ही एक उपनाम है। उनके ग्रन्थ दिगम्बर आम्नाय में आगम-ग्रंथों के समान ही प्रमाण माने जाते हैं। प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, समयसार, नियमसार, अष्टपाहुड़ आदि अनेक ग्रंथ उनके बनाए हुए हैं। इनके शुरू के तीन ग्रन्थ बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। जैसे वेदान्तदर्शन में उपनिषद, भगवद्-गीता और ब्रह्मसूत्र को प्रस्थान-त्रयी कहते हैं, वैसे ही जैनदर्शन में प्रवचनसार, पंचास्तिकाय और समयसार नाटक-त्रयी के नाम से ख्यात हैं।

प्रवचनसार में तीन अधिकार हैं-- ज्ञानाधिकार, ज्ञेयाधिकार और चारित्राधिकार। ज्ञानाधिकार में सबसे प्रथम तो यह बतलाया है कि शुद्धात्मा के इन्द्रियों के बिना भी ज्ञान और सुख होता है। ज्ञान और सुख दोनों आत्मा के स्वभाव हैं। सुख का कारण न तो शरीर ही है और न इन्द्रियों के विषय ही। इन्द्रिय-सुख यथार्थ में सुख नहीं है किन्तु दुःख ही है। सुख ज्ञान से अभिन्न है। इन्द्रिय-सुख का कारण इन्द्रिय-ज्ञान है और अतीन्द्रिय-सुख का कारण अतीन्द्रिय-ज्ञान है। इन्द्रिय-ज्ञान हेय है और अतीन्द्रिय-ज्ञान उपादेय है। इन्द्रिय-ज्ञान अक्ष-निपतित अर्थ को ही जानता है अतः वह अतीत-अनागत को नहीं जान सकता। किन्तु अतीन्द्रिय-ज्ञान में सब को जानने की सामर्थ्य है। अतीन्द्रिय-ज्ञान क्षायिक है, नित्य है और व्यापक है। अतः वह त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती नाना प्रकार के सब पदार्थो को युगपत् जानता है।

आत्मा और ज्ञान के भेदाभेद की चर्चा करते हुए लिखा है कि ज्ञान आत्मा है क्योंकि आत्मा के बिना ज्ञान नहीं पाया जाता। अतः ज्ञान आत्म-स्वरूप है, किन्तु

* पूर्व प्राचार्य, श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, भदैनी, वाराणसी

आत्मा ज्ञान रूप भी है और अन्य गुण रूप भी है क्योंकि आत्मा अनन्त-गुणों का भण्डार है। अब चूंकि आत्मा और ज्ञान एक हैं, अतः आत्मा ज्ञानप्रमाण है। जितना बड़ा ज्ञान होता है उतना बड़ा आत्मा होता है और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण होता है तथा ज्ञेय समस्त लोकालोक है अतः ज्ञान सर्वगत है और ज्ञान की अपेक्षा आत्मा भी सर्वगत है। यदि आत्मा को ज्ञान-प्रमाण नहीं माना जाता तो, या तो आत्मा ज्ञान से छोटा हुआ अथवा ज्ञान से बडा हुआ। यदि वह ज्ञान से छोटा है तो आत्मा से बाहर का ज्ञान अचेतन हो जाएगा, तब वह कैसे जानेगा? और यदि वह ज्ञान से बड़ा है तो बिना ज्ञान के वह कैसे किसी को जान सकेगा? इस तरह ज्ञान को आत्म-प्रमाण और आत्मा को ज्ञान-प्रमाण सिद्ध करके आचार्य कुन्दकुन्द[१] ने उसे सर्वज्ञ सिद्ध किया है। उनका कहना है कि जो सबको नहीं जानता है वह एक को भी नहीं जानता और जो एक को नहीं जानता वह सबको नहीं जानता।

इस तरह ज्ञान की बहुत ही सुन्दर चर्चा करके आचार्य कुन्दकुन्द ने ज्ञान के दो भेद किए है- प्रत्यक्ष और परोक्ष। जो पर की सहायता से पदार्थों का ज्ञान होता है वह परोक्ष है और जो केवल जीव के द्वारा ही पदार्थ-ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष-ज्ञान अवग्रह-ईहा आदि क्रमिक ज्ञानों से रहित होता है।

ज्ञानाधिकार की तरह दूसरा ज्ञेयाधिकार भी महत्त्वपूर्ण चर्चाओं से ओतप्रोत है। इसमें सत्ता, द्रव्य, गुण और पर्याय की बहुत ही मनोहर चर्चा है। जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से सहित हो तथा गुण और पर्याय वाला हो वह द्रव्य है। द्रव्य स्वभाव-सिद्ध है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप परिणाम के होते हुए भी वह स्वभाव से सत् और अवस्थित है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का परस्पर में अविनाभाव है। बिना उत्पाद के विनाश नहीं, बिना विनाश के उत्पाद नहीं और बिना ध्रौव्य के उत्पाद-विनाश नहीं। किन्तु उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य पर्यायों में रहते है और पर्याय द्रव्य में होती है अतः सब द्रव्य रूप ही हैं। इसी तरह स्वयं द्रव्य ही एक गुण से अन्य गुण रूप परिणमन करता है अतः गुण और पर्याय भी द्रव्य रूप ही हैं तथा द्रव्य सत्स्वरूप है। द्रव्य सत् है, गुण सत् है, पर्याय सत् है यह सब सत्ता का ही विस्तार है।

इस तरह आचार्य कुन्दकुन्द ने सत्ता, द्रव्य, गुण और पर्याय में भेदाभेद का विवेचन सयुक्तिक और सुन्दर शैली में करके जैनदर्शन की अनुपम देन सप्तभंगी के अस्ति, नास्ति, अवक्तव्य और उभय-- इन चार भंगों का उल्लेख मात्र किया है। इसके

१. इनके विशेष परिचय के लिए 'जीवराज ग्रंथमाला' शोलापुर से प्रकाशित 'कुन्दकुन्द प्राभृत संग्रह' की प्रस्तावना पढ़ना चाहिए।

आगे द्रव्य के भेद-- जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल का वर्णन करते हुए जीव और कर्म के सम्बन्ध का तथा जीव के कर्तृत्व का विचार किया है।

लिखा है- न तो यह आत्मा पुद्‌गल है और न इस आत्मा ने पुद्‌गलों को पिण्ड रूप किया है अतः न तो आत्मा देह रूप है और न देह का कर्त्ता है किन्तु स्निग्ध-गुण और रूक्ष-गुण के निमित्त से परमाणु स्वयं ही पिण्ड रूप हो जाते हैं। अतः आत्मा पुद्‌गल-पिण्ड रूप कर्म का कर्त्ता नहीं है। आत्मा तो अपने राग-द्वेष रूप भावों को करता है। उन भावों को निमित्त पाकर पुद्‌गल-कर्म-वर्गणाएँ कर्म रूप होकर आत्मा से बद्ध हो जाती है। इसी का नाम बन्ध है।

इस तरह बन्ध का निरूपण करके उसके छूटने का उपाय भी उसी के साथ बतला दिया है। लिखा है-- जो शुद्ध आत्म-स्वरूप को जानकर उसी का ध्यान करता है वह मोह की ग्रन्थि को नष्ट कर देता है। मोह की ग्रन्थि के नष्ट हो जाने पर राग-द्वेष को छोड़कर जब आत्मा सुख-दुख में समबुद्धि हो जाता है तो अक्षय-सुख को प्राप्त कर लेता है। अक्षय-सुख की प्राप्ति ही ज्ञान और ज्ञेय की चर्चा का निचोड़ है। यही प्राप्तव्य है। उसी की प्राप्ति के लिए मनुष्य श्रमण होने की इच्छा करता है और श्रमण होकर उसकी साधना करता है। श्रमण की इस साधना का वर्णन तीसरे चारित्राधिकार में है।

दूसरे पंचास्तिकाय नामक ग्रन्थ में भी तीन ही अधिकार हैं। प्रथम अधिकार में पाँच अस्तिकायों का वर्णन है। इसका विषय यद्यपि प्रवचनसार के ज्ञेयाधिकार से मिलता हुआ है किन्तु कई दृष्टियों से उससे विशिष्ट है। दूसरे अधिकार में जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष-- इन नव पदार्थों का वर्णन है और तीसरे में मोक्ष-मार्ग का कथन है।

तीसरा समयसार नामक ग्रंथ तो अध्यात्म का एक महानद ही है। 'समय' नाम आत्मा का है। आत्मा का सार यानि शुद्धावस्था का वर्णन इस ग्रंथ में है। इसको प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकार ने समय के दो भेद किए हैं-स्व-समय और पर-समय। जो आत्मा अपने ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप स्वभाव में स्थित है वह स्व-समय है और जो आत्मा कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले पर-भाव में स्थित है वह पर-समय है। इन दोनों में से अपने शुद्ध गुण-पर्याय-रूप परिणत आत्मा ही उपादेय है। उस आत्मा के कर्म-बंधन से बद्ध होने की कथा विसंवाद पैदा करती है अतः वह सत्य नहीं है। सत्य तो एक शुद्ध आत्म-तत्त्व ही है। किन्तु उससे सब लोग अपरिचित हैं, उन्होंने न तो कभी उसको सुना ही है और न उसका अनुभव ही किया है वे तो बस, काम-भोग में

ही मस्त हैं उसे ही जीवन का सार समझते हैं। अतः इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने उस शुद्ध आत्मतत्त्व का दर्शन कराने का ही भरसक प्रयत्न किया है।

जैनदर्शन में वस्तुतत्त्व का विवेचन दो दृष्टियों से किया जाता है-- एक निश्चयनय से और एक व्यवहारनय से। निश्चयनय वस्तु के पर-निरपेक्ष असली स्वरूप को ग्रहण करता है और व्यवहारनय पर-सापेक्ष को। जैसे मिट्टी के घड़े में घी भरा होने से उसे घी का घड़ा कहना व्यवहार है और मिट्टी का घड़ा कहना यथार्थ है। जो यथार्थग्राही है, वही निश्चय है अतः निश्चयनय की दृष्टि से वस्तु-तत्त्व अभेद रूप है किन्तु अभेद रूप तत्त्व का प्रतिपादन करना शक्य नहीं है। प्रतिपादन करने से वह तत्त्व अभेद रूप न रहकर भेद रूप प्रतीत होता है, जो यथार्थ नहीं है किन्तु बिना प्रतिपादन किए दूसरे को समझाया नहीं जा सकता। जैसे, 'आत्मा' कहने मात्र से दूसरा नहीं समझ सकता कि आत्मा क्या वस्तु है? किन्तु यदि कहा जाए कि जो जानता, देखता है वह आत्मा है तो दूसरा झट समझ जाता है। अतः निश्चय अभेदग्राही है और व्यवहार भेदग्राही है। इसी से निश्चय यथार्थ है और व्यवहार अयथार्थ किन्तु बिना व्यवहारनय की सहायता के परमार्थ का उपदेश नहीं हो सकता, इसलिए व्यवहार को छोड़ा भी नहीं जा सकता।

इन्हीं दो दृष्टियों को सामने रखकर ग्रन्थकार ने आत्मतत्त्व का विवेचन किया है। वे कहते हैं-- जो आत्मा को जल में कमल की तरह कर्म-नोकर्म से असंस्पृष्ट जानता है, नर-नारक आदि पर्यायों में भी उसे एक रूप देखता है तथा रागादि विकल्पों से असंयुक्त और ज्ञानदर्शन आदि के भेद से रहित अनुभव करता है वह शुद्धनय है (गाथा १५) और जो इसके विपरीत जानता है वह व्यवहार-नय है। व्यवहार-नय कहता है कि जीव और शरीर एक हैं किन्तु निश्चयनय की दृष्टि से ये दोनों कभी एक नहीं हो सकते। ग्रन्थकार का कहना है कि जीव-अजीव आदि नौ पदार्थों को निश्चय नय से जानने पर ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है अतः उन्होंने निश्चय और व्यवहार-दृष्टि से नौ पदार्थों तत्त्वों का निरूपण करके शुद्ध आत्मतत्त्व की प्रतिष्ठा इस ग्रंथ में की है। उनका कहना है कि एक जीव-तत्त्व ही नौ पदार्थ रूप हो रहा है किन्तु वह अपने एकत्व को फिर भी नहीं छोड़ता।

हम ऊपर लिख आए हैं कि पंचास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार को नाटकत्रयी कहते है। किन्तु वास्तव में तो समयसार को ही नाटक कहना उचित है; क्योंकि उसमें संसार का नाटक दिखाया गया है, जिसमें जीव और अजीव नाम के दो नट आस्रव आदि तत्त्वों का अभिनय करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इसके टीकाकार

अमृतचन्द्रसूरि ने इसको नाटक का ही रूप दिया है। अतः उन्होंने इसके प्रारम्भिक भाग का नाम पूर्वरंग रक्खा है तथा जब एक तत्त्व का निरूपण समाप्त होता है तो वह नाटक पद्धति में लिखते हैं-- 'आस्रवो निष्क्रान्तः।' आस्रव चला गया और जब दूसरा प्रकरण प्रारम्भ होता है तो वे लिखते हैं--'अथ प्रविशति संवरः।' अब संवर प्रवेश करता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने इन ग्रंन्थरत्नों में जो ज्ञान और ज्ञेय की चर्चा की, आगे चलकर वही जैनदर्शन की आधार-शिला बनी।

सूत्रकार उमास्वामीः

आचार्य कुन्दकुन्द के बाद में एक आचार्य हुए जिन्होंने वैदिकदर्शनों के सूत्र-ग्रंथों की तरह की जैनदर्शन को संस्कृत भाषा के सूत्रों में संगृहीत करने का सफल प्रयत्न किया। उस सूत्र-ग्रंथ को 'तत्त्वार्थ-सूत्र' कहते हैं। इस ग्रंथ का प्रधान प्रतिपाद्य विषय 'मोक्ष' है, इसी से इसको 'मोक्ष-शास्त्र' भी कहते हैं। इसका आरम्भ होता है - मोक्ष-मार्ग से। आचार्य कुन्दकुन्द की तरह ही सूत्रकार ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्ष-मार्ग बतलाया है और सात तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन बतलाया है। उन्हीं सात तत्त्वों का निरूपण इस ग्रंथ में है। आचार्य कुन्दकुन्द ने नौ पदार्थों का निरूपण किया है किंतु सूत्रकार ने पुण्य और पाप तत्त्व को आस्रव और बन्ध तत्त्व में गर्भित करके तत्त्वों की संख्या सात ही रखी है।

इस ग्रंथ में दस अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में सात तत्त्वों को जानने के उपाय बतलाते हुए ज्ञान के दो भेद किए हैं। सूत्रकार ने ज्ञान को ही प्रमाण बतलाकर प्रमाण के दो भेद किए हैं-- परोक्ष और प्रत्यक्ष।

जैन साहित्य में ज्ञान-निरूपण की दो पद्धतियाँ पाई जाती हैं-- पहली सैद्धान्तिक, दूसरी दार्शनिक। सैद्धान्तिक पद्धति में ज्ञान के मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल-- इस तरह पाँच भेद करके समग्र ज्ञानों का निरूपण किया गया है और दार्शनिक पद्धति में उक्त पाँच ज्ञानों में परोक्ष और प्रत्यक्ष का विभाग करके समग्र ज्ञानों का निरूपण किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने प्रवचनसार में परोक्ष और प्रत्यक्ष ज्ञान का स्वरूप मात्र बतलाया है, उनके भेद-प्रभेद नहीं किए किन्तु सूत्रकार ने पाँचों ज्ञानों को प्रमाण बतलाकर तथा प्रमाण के परोक्ष और प्रत्यक्ष भेद में उनका विभाग करके दोनों परम्पराओं का समन्वय ही नहीं किया, बल्कि दार्शनिक जगत् के स्मृति आदि प्रमाणों का अन्तर्भाव भी परोक्ष प्रमाण में करके अपने पश्चात् होने वाले जैन तार्किकों का मार्ग-दर्शन भी कर दिया। इस दिशा में उक्त सूत्रकार के बाद होने वाले

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं के जैन तार्किकों ने सूत्रकार के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का ही अनुसरण किया है।

तत्त्वार्थ सूत्र के दूसरे अध्याय में जीव तत्त्व का वर्णन है। उसमें प्रथम जीव के भावों का वर्णन करके उसका लक्षण बतलाया है। फिर ज़ीव के संसारी और मुक्त--दो भेद करके संसारी जीवों का वर्णन किया है। उसमें बतलाया है कि मरने के बाद कैसे जीव एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाता है। वहाँ जाकर कैसे जन्म लेता है? कैसे उसके शरीर का निर्माण होता है ? तथा किन जीवों की अकाल मृत्यु होती है?

तीसरे अध्याय में अधोलोक की रचना बतलाते हुए सात नरकों का वर्णन किया है। उसके बाद मध्यलोक का वर्णन है। चौथे अध्याय में ऊर्ध्वलोक का वर्णन करते हुए स्वर्गों में रहने वाले देवों का वर्णन किया है।

पाँचवें अध्याय में अजीव तत्त्व का वर्णन है जो प्रवचनसार के ज्ञेयाधिकार की चर्चा से मिलता हुआ है। इसमें भी उस तरह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को तथा गुण और पर्यायों का द्रव्य को लक्षण बतलाया है तथा द्रव्य के छह भेद--जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल--किए हैं। पुद्गल के दो भेद किए हैं-- अणु और स्कन्ध। अणु की उत्पति बतलाते हुए एक परमाणु से दूसरे परमाणु का बन्ध कैसे होता है, इसका निरूपण भी प्रवचनसार के अनुसार ही किया है।

छट्ठे अध्याय में आस्रव तत्त्व का वर्णन करते हुए बतलाया है कि किन-किन कामों के करने से किन-किन का आस्रव (आगमन) होता है। सातवें अध्याय में पुण्यास्रव के कारणों का निर्देश करते हुए अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-- इन पाँच व्रतों का वर्णन किया है। यह अध्याय श्रावक के आचार से सम्बद्ध है। आठवें में बन्ध तत्त्व का वर्णन करते हुए जैन कर्म-सिद्धांत का वर्णन किया गया है। उसमें कर्मबन्ध के कारण बतलाकर बन्ध का स्वरूप और भेद बतलाए है। नवें अध्याय से संवर और निर्जरा तत्त्व का वर्णन है। एक तरह से यह अध्याय मुनि-धर्म से सम्बद्ध है। इसमें गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह-जंय और चारित्र का तथा ध्यान का विशद वर्णन है। दसवें अध्याय में मोक्ष का स्वरूप बतलाकर मुक्त-जीव का वर्णन किया है। इस तरह इस सूत्र ग्रन्थ में समस्त जैन पदार्थों को दार्शनिक शैली में गूँथा गया है। सभी जैन सम्प्रदाय इसको मानते हैं और इसका आदर करते है। मीमांसा-दर्शन में जैमिनि के सूत्रों का, वेदान्तदर्शन में ब्रह्मसूत्र का, योगदर्शन में योगसूत्र का, न्यायदर्शन में न्यायसूत्र का और वैशेषिक दर्शन में वैशेषिकसूत्र का जो स्थान है, वही स्थान जैनदर्शन में तत्त्वार्थसूत्र का है।

'तत्त्वार्थसूत्र' के रचयिता के विषय में मतभेद है। इस सूत्र-ग्रन्थ के दो पाठ प्रचलित हैं। एक पाठ दिगम्बर-परम्परा में प्रचलित है और दूसरा श्वेताम्बर-परम्मरा में। श्वेताम्बर मान्य पाठ के साथ एक भाष्य है जिसे श्वेताम्बरसूत्रकार-कृत ही मानते हैं। उसके अन्त में ग्रन्थकार ने अपनी प्रशस्ति भी दी है और उसमें अपना नाम उमास्वाति दिया है। दिगम्बर-परम्परा में भी तत्त्वार्थसूत्र को उमास्वामी अथवा 'उमास्वाति' की रचना माना जाता है और ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के शिलालेखों में ऐसा उल्लेख भी मिलता है किन्तु नवीं शताब्दी के विद्वान् आचार्य वीरनन्दि और विद्यानंद उसे गृद्धपिच्छाचार्य की कृति बतलाये हैं। गृद्धपिच्छाचार्य नाम तो नहीं हो सकता, उपनाम हो सकता है, किन्तु गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वाति का ही उपनाम है इस विषय में प्राचीन प्रमाणों का अभाव है।

अकलंकदेव के तत्त्वार्थवार्तिक से इतना तो पता चलता है कि उनके सामने एक दूसरा सूत्रपाठ भी था, जो सम्भवतः श्वेताम्बर-सम्मत सूत्रपाठ ही था। दिगम्बर-सम्मत सूत्रपाठ पर सब से प्रथम उपलब्ध टीका पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि है, जो ईसा की पाँचवीं शताब्दी में रची गई है और भाष्य सहित श्वेताम्बर सूत्र पाठ पर सबसे पहली टीका सिद्धसेनगणि की है, जो आठवीं-नवीं शताब्दी में रची गई है।

आचार्य समन्तभद्रः

जैनाचार्यों में समन्तभद्र स्वामी का स्थान बहुत उँचा है। उत्तरकाल में होने वाले प्रायः सभी प्रमुख जैनाचार्यों ने अपने ग्रंथ के आदि में बड़े ही सम्मानपूर्वक उनका स्मरण किया है। नवीं शताब्दी के विद्वान् जिनसेनाचार्य ने अपने महापुराण के आरम्भ में लिखा है कि उस समय जितने वादी, वाग्मी, कवि और गमक थे उन सब के हृदय पर आचार्य समन्तभद्र का सिक्का जमा हुआ था। यह बड़े भारी वादी थे। इन्होंने समस्त भारत में भ्रमण करके बड़े-बड़े वादियों के दाँत खट्टे किए थे। इसी से जिनसेनाचार्य ने लिखा है कि-इनके वचन रूपी वज्राघात से कुमत रूपी पर्वत खण्ड-खण्ड हो गये थे। हनुमच्चरित में लिखा है कि-वे दुर्वादियों की वाद रूपी खाज को मिटाने के लिये अद्वितीय महौषधि हैं। श्वेताम्बराचार्य हरिभद्र-सूरि ने इन्हें 'वादिमुख्य' लिखा है।

ये प्रबल तार्किक होने के साथ ही साथ प्रथित ग्रन्थकार भी थे। इन्हें मुनि-जीवन में भस्मक व्याधि हो गई थी, तब उसे शान्त करने के लिए वाराणसी में राजा शिवकोटि के शिवालय में इन्हें वेश बदल कर रहना पड़ा था। भगवान् के भोग के लिए जितना नैवेद्य आता था उसे यह स्वयं खा जाते थे, जब रोग शांत हुआ और नैवेद्य बचने लगा

तो कलई खुल गई। तब राजा ने इनसे 'शिवलिंग' को नमस्कार करने का आग्रह किया। उस समय इन्होंने 'वृहत्स्वयंभू स्तोत्र' नामक एक दार्शनिक स्तोत्र की रचना करके अपना चमत्कार दिखाया और कहा--राजन् ! मै जैन निर्ग्रन्थवादी हूँ, जिसकी शक्ति मुझसे वाद करने की हो वह सम्मुख आवे। इसी से ये आद्य स्तुतिकार भी कहे जाते हैं।

उक्त स्तोत्र के सिवा इनके युक्त्यनुशासन, आप्तमीमांसा, जिनस्तुति-शतक, रत्नकरण्डश्रावकाचार ग्रंथ उपलब्ध है। जीवसिद्धि आदि कुछ अन्य ग्रंथों का भी उल्लेख मिलता है किन्तु वे उपलब्ध नहीं हो सके हैं। युक्त्यनुशासन ग्रंथ बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें स्तोत्र-प्रणाली से ६४ पद्यों के द्वारा स्वमत और पर-मत के गुण-दोषों का मार्मिक विवेचन किया गया है और प्रत्येक विषय का निरूपण प्रबल युक्तियों के द्वारा किया है। वृहत्स्वयंभू स्तोत्र में चौबीस तीर्थकरों की स्तुति है। स्तुतियों के द्वारा चौबीस तीर्थंकरों के धर्म का प्रतिपादन करना ही इसका मुख्य विषय है। संपूर्ण ग्रंथ दार्शनिक चर्चाओं और धार्मिक शिक्षाओं से परिपूर्ण है।

आप्तमीमांसा समन्तभद्र के ग्रंथों में सब से प्रधान ग्रंथ है। इसमें आप्त के स्वरूप की मिमांसा करते हुए उसे सर्वा और निर्दोष बतलाया है तथा उनके वचनों को युक्ति और आगम से अविरुद्ध प्रमाणित करने के लिए एकान्तवादी मतों को स्याद्वादरूपी कसौटी पर कसकर सर्वत्र अनेकांतवाद की प्रतिष्ठा की है। जिन एकान्तवादों की समीक्षा इस ग्रंथ में की गई है उनकी तालिका इस प्रकार है:

१. भावैकान्तवाद- जो केवल भावात्मक पदार्थों को ही स्वीकार करता है। २. अभावैकान्तवाद -जो केवल अभाव को ही स्वीकार करता है। ३. अद्वैतैकान्तवाद- जो केवल अद्वैत को ही स्वीकार करता है। ४. द्वैतैकान्तवाद- जो केवल द्वैत को ही स्वीकार करता है। ५. नित्यत्यैकान्तवाद- जो वस्तु को सर्वथा नित्य ही मानता है। ६. अनित्यत्वैकान्तवाद- जो वस्तु को सर्वथा क्षणिक ही मानता है। ७.भैदैकान्तवाद-जो कार्य-कारण को, गुण-गुणी वगैरह को भिन्न ही मानता है। ८. अभेदैकान्तवाद- जो इनको सर्वथा अभिन्न ही मानता है। ९. अपेक्षैकांतवाद- जो पदार्थों की सिद्धि अपेक्षा से ही मानता है। १०. अनपेक्षैकांतवाद- जो पदार्थों की सिद्धि बिना अपेक्षा के ही मानता है। ११. युक्त्यैकांतवाद- जो केवल युक्ति से वस्तु की सिद्धि मानता है। १२. आगमैकांतवाद- जो केवल शास्त्राचार से ही वस्तु की सिद्धि मानता है। १३. अन्तरंगार्थतैकांतवाद- जो केवल अन्तरंग पदार्थों को ही मानता है। १४. बहिरंगार्थतैकांतवाद- जो केवल बाह्य पदार्थों को ही मानता है। १५. दैवैकांतवाद- जो केवल दैव को ही कार्य का साधक मानता है। १६. पौरुषैकांतवाद- जो केवल पौरुष को ही कार्य का साधक

मानता है। १७. दूसरे जो दुख देने से पाप ही होता है और सुख देने से पुण्य ही होता है यह एकान्त-वाद। १८. स्वयं दुख उठाने से पुण्य ही होता है और सुखोपभोग करने से पाप ही होता है यह एंकातवाद। १६. अज्ञान से बन्ध ही होता है यह एकान्तवाद। २०. स्तोक ज्ञान से मोक्ष होता है यह एकान्तवाद।

इस तरह इन एकान्तवादों की समीक्षा करके आचार्य समन्तभद्र ने तत्त्व को भावाभावात्मक, द्वैताद्वैतात्मक, नित्यानित्यात्मक, भेदाभेदात्मक आदि स्वीकार किया है। स्याद्वाद या अनेकान्तवाद का दार्शनिक क्षेत्र में सफल प्रयोग करने का श्रेय आचार्य समन्तभद्र को ही है। इसी से विद्वान् लोग उन्हें स्याद्वाद-तीर्थंकर और स्याद्वाद का पिता तक कहते हैं। इनका समय विक्रम की चौथी-पाँचवीं शताब्दी है।

आचार्य सिद्धसेनः

जैन वाङ्मय में आचार्य सिद्धसेन का स्थान बहुत ऊँचा है। श्वेताम्बर-परम्मरा में सिद्धसेन दिवाकर के नाम से इनकी ख्याति है किन्तु दिगम्बर-परम्मरा में यह सिद्धसेन के नाम से ही ख्यात हैं। दिगम्बर-परम्परा में जिस प्रकार की घटना का उल्लेख स्वामी समन्तभद्र के जीवन के सम्बन्ध में पाया जाता है, श्वेताम्बर-परम्परा में उसी प्रकार की घटना का उल्लेख सिद्धसेन दिवाकर के सम्बन्ध में मिलता है अर्थात् विक्रमादित्य राजा की ओर से शिवलिंग को नमस्कार करने का अनुरोध करने पर जब सिद्धसेन ने कहा कि यह देवता मेरा नमस्कार नहीं सह सकता तब राजा ने उनसे आग्रह किया । इस पर सिद्धसेन ने इष्टदेव की स्तुति की।

सिद्धसेन प्राचीन तर्क ग्रन्थकार थे। द्वात्रिंशद्-द्वात्रिंशिका, सन्मति-तर्क, न्यायावतार और कल्याणमन्दिर-स्तोत्र को इसकी कृति माना जाता है। पं० सुखलालजी का मन्तव्य है कि सिद्धसेन श्वेताम्बर थे। किन्तु पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने 'सन्मति-सूत्र और सिद्धसेन'[1] शीर्षक वाले अपने गवेषणा-पूर्ण निबन्ध में यह सिद्ध किया है कि सिद्धसेन नाम के कई आचार्य हुए हैं और उक्त ग्रन्थ एक ही सिद्धसेन की कृतियाँ नहीं हैं तथा सन्मति सूत्र के कर्त्ता प्रसिद्ध सिद्धसेन दिगम्बर थे। दिगम्बर आचार्यों ने उनके सन्मति-सूत्र नाम के ग्रन्थ का उल्लेख भक्ति-भाव से किया है। इतना ही नहीं किन्तु सुमति नाम के दिगम्बर विद्वान् ने, जिनका उल्लेख तत्त्वसंग्रह की टीका में बौद्ध विद्वान् कमलशील ने भी किया है, सन्मति-सूत्र पर एक टीका भी रची थी, जिसका उल्लेख वादिराजसूरि ने अपने पार्श्वनाथ-चरित के प्रारम्भ में किया है। यथा-

१ अनेकान्त वर्ष-६ अंक १४

नमः सन्मतये तस्मै, भवकूपनिपातिनाम्।
सन्मतिर्विवृता येन सुखधाम-प्रवेशिनी।।

यह टीका उपलब्ध नहीं है। श्वेताम्बराचार्य मल्लवादी की भी एक टीका इस ग्रन्थ पर थी, जो उपलब्ध नहीं है। ग्यारहवीं शताब्दी के श्वेताम्बराचार्य अभयदेव की टीका उपलब्ध है।

सन्मति-सूत्र में नयवाद पर अच्छा प्रकाश डाला गया है तथा अन्त में लिखा है कि जितने वचन-मार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय यानी जैनेतर दर्शन हैं। उन दर्शनों में कपिल का साँख्यदर्शन द्रव्यार्थिक नय का विषय है, बुद्ध का दर्शन शुद्ध पर्याय-नय का विषय है और कणाद का दर्शन दोनों नयों के द्वारा प्ररुपित होने पर भी मिथ्या है; क्योंकि उक्त दर्शन में दोनों दृष्टियाँ सापेक्ष नहीं हैं।

सन्मति-सूत्र के दूसरे काण्ड में ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के क्रमवाद तथा युगपद्वाद में दोष दिखाकर अभेदवाद का स्थापन है। दिगम्बर-परम्परा में केवली के दर्शन और ज्ञान युगपत् माने जाते है और श्वेताम्बर-परम्मरा में क्रम से माने जाते हैं किन्तु सन्मतिकार का कहना है कि ज्ञान और दर्शन का भेद छद्यस्थ-अवस्था तक ही रहता है, केवलज्ञान हो जाने पर कोई भेद नहीं रहता। तब दर्शन कहो या ज्ञान कहो, एक ही बात है। इसी से सन्मति के कर्त्ता सिद्धसेन अभेदवाद के पुरस्कर्त्ता माने जाते हैं।

न्यायावतार में प्रमाण का विवेचन है। इसमें समन्तभद्रोक्त प्रमाण के लक्षण में 'बाध-विवर्जित' पद बढाया गया है और उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद करके दोनों की परिभाषा बतलाई है। उसके बाद अनुमान-प्रमाण की परिभाषा और उसके स्वार्थ और परार्थ भेदों का स्वरूप बतलाया है। परार्थानुमान के साथ ही साथ पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, दूषण और तदाभासों का विवेचन भी इस ग्रन्थ में है। इस तरह न्यायोपयोगी तत्त्वों का समावेश इस ३२ कारिकाओं के प्रकरण में है। भाषा संस्कृत है।

यद्यपि इस ग्रन्थ में न तो ग्रंथ का नाम दिया गया है और न ग्रंथकार का। 'न्याय' शब्द तक उसमें नहीं है किन्तु उसके टीकाकार सिद्धर्षि ने उसका नाम न्यायावतार ही बताया है तथा परम्परा से इसे सिद्धसेन की कृति माना जाता है। पं. सुखलालजी का यही मत है किन्तु इसके अवलोकन से यह धारणा दृढ़ होती है। कि ग्रंथ धर्मकीर्ति के बाद में रचा गया होना चाहिये -

क्योंकि इसमें अनुमान को अभ्रान्त बतलाकर प्रत्यक्ष को अभ्रान्त सिद्ध करने के लिए एक पृथक् कारिका ही रची गई है। यथा--

'न प्रत्यक्षमपि भ्रान्तं, प्रमाणत्वविनिश्चयात्।'

यहाँ 'प्रमाणत्व विनिश्चय' पद पढ़ते ही धर्मकीर्ति के प्रमाण-विनिश्चय का स्मरण वरबस हो आता है। दूसरे, हेतु का लक्षण अन्यथानुपत्तिः 'त्रिलक्षण कदर्थन' ग्रन्थ के रचयिता पात्रस्वामी की देन है जो कि न्यायावतार में भी पाया जाता है। अतः पं. जुगलकिशोर जी मुख्तार का यह मत हमें समुचित ही प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ सन्मति-सूत्र से कोई एक शताब्दी से भी बाद का बना हुआ है, क्योंकि इस पर समन्तभद्र स्वामी के उत्तरकालीन पात्रस्वामी (पात्रकेसरी) जैसे जैनाचार्यों का ही नहीं, किन्तु धर्मकीर्ति और धर्मोत्तर जैसे बौद्धाचार्यों का भी स्पष्ट प्रभाव है। मुख्तार सा. ने सन्मति सूत्र के रचयिया सिद्धसेन का समय ई.स. ५०७ से ६०६ तक निश्चित किया है किन्तु पं. सुखलाल उन्हें विक्रम की पाँचवी शताब्दी का विद्वान् मानते हैं।

आचार्य पूज्यपादः

इनका नाम देवनन्दि था किन्तु यह पूज्यपाद के नाम से विशेष प्रसिद्ध हैं। यह गंग राजा दुर्विनीत के शिक्षा-गुरू थे और दुर्विनीत राजा का राज्यकाल ई.सन् ४८२ से ५२२ तक रहा है। अतः ये ईसा की पाँचवीं शताब्दी में हुए हैं। पूज्यपाद के एक शिष्य वज्रनन्दि ने वि.सं. ५२६(ई.स. ४७०) में द्राविड़-संघ की स्थापना की थी, जिसका उल्लेख देवसेन ने अपने 'दर्शनसार' में किया है।

पूज्यपाद भारत के आठ प्रसिद्ध वैयाकरणों में से हैं। इन्होंने जैन्द्र-व्याकरण रचा है तथा 'तत्त्वार्थ-सूत्र' पर सबसे पहली टीका इन्हीं की पायी जाती है, जिसका नाम सर्वार्थसिद्धि है। इस टीका में इन्होंने कई स्थानों पर सांख्य, योग, बौद्ध आदि दर्शनों के कतिपय मन्तव्यों की चर्चा की है। यह चर्चा मोक्ष-स्वरूप, प्रमाणस्वरूप और द्रव्य-व्यवस्था से सम्बन्ध रखती है। प्रथम सूत्र की उत्थानिका करते हुए आचार्य पूज्यपाद ने साँख्य, वैशेषिक और बौद्ध मत के मोक्ष का स्वरूप बतलाकर उन्हें सदोष बतलाया है। ज्ञान के प्रामाण्य की चर्चा करते हुए साँख्य के इन्द्रिय-प्रामाण्यवाद और योगों के सन्निकर्ष प्रामाण्यवाद की आलोचना की है।

अन्य दर्शन इन्द्रिय-जनित ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं तब जैनदर्शन उसे परोक्ष कहता है । पूज्यपाद ने इन्द्रिय-जनित ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने में आपत्ति देते हुए जैनदर्शन की मान्यता का समर्थन किया है और यह भी लिखा है कि दीपक की तरह प्रमाण अपना भी प्रकाशन करता है और बाह्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है। इसी तरह पाँचवें अध्याय में जैनाभिमत द्रव्यों की परिगणना कराते हुए वैशेषिक दर्शन के नौ

द्रव्यों का अन्तर्भाव जैनाभिमत छह द्रव्यों में किया है और बतलाया है कि सब परमाणु एक ही जाति के हैं उन्हीं से पृथ्वी, जल, तेज और वायु बनते हैं।

पूज्यपाद की समाधि-शतक, इष्टोपदेश आदि अन्य रचनाएँ हैं जो आध्यात्मिक हैं। वैद्यक पर भी इनके ग्रन्थ पाए जाते हैं। इसी से ज्ञानार्णव के कर्त्ता ने पूज्यपाद का स्मरण करते हुए उनके वचनों को शरीर, मन और वचन के मल को ध्वंस करने वाला बतलाया है क्योंकि वैद्यक ग्रन्थ शरीर-मलध्वंसी हैं, समाधिशतक आदि ग्रंथ मनोमलध्वंसी हैं और जैनेन्द्र व्याकरण वचनमलध्वंसी है।

आचार्य मल्लवादीः

श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में आचार्य मल्लवादी का स्थान बहुत ऊँचा है। इनका बनाया 'द्वादशार यमनयचक्र' नाम का एक महत्त्वपर्ण ग्रंथ सिंहगणि क्षमाश्रमण की टीका के साथ उपलब्ध है। जैनदर्शन में अनेकान्तात्मक वस्तु की व्यवस्था प्रमाण और नय के अधीन है। नयचक्र में जैसा कि उसके नाम ने स्पष्ट है, नय का प्रतिपादन है। यह ग्रन्थ संस्कृत में है किन्तु मूल नयचक्र उपलब्ध नहीं है, केवल उनकी टीका ही उपलब्ध है।

श्वेताम्बर[1] मुनि श्री जम्बूविजयजी ने इस सटीक नयचक्र का पारायण करके उसका परिचय आनन्दप्रकाश (वर्ष ४५, अंक ७) में प्रकट किया । उस पर से मालूम होता है कि मल्लवादी ने अपने नयचक्र में पद-पद पर भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' ग्रंथ का उपयोग ही नहीं किया, बल्कि भर्तृहरि के नाम का उल्लेख भी किया है। भर्तृहरि का समय ई.सन् ६०० से ६५० तक माना जाता है। अतः यह स्पष्ट है कि वे इस समय के बाद ही हुए हैं तथा हरिभद्र ने अपनी 'अनेकान्त जयपताका' की टीका में मल्लवादी का उल्लेख किया है। मुनि जिनविजयजी ने हरिभद्र का समय ई. ७०० से ७७० तक सिद्ध किया है किन्तु ई. ८०० के लगभग बनी हुई भट्टजयन्त की न्यायमंजरी का एक पद्य हरिभद्र के षड्दर्शन-समुच्चय में उद्धृत होने से पं. महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य ने हरिभद्र की उत्तरावधि ई. ८१० मानी है।

उधर डॉ. सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने लिखा है कि मल्लवादी ने बौद्ध विद्वान् धर्मोत्तर की न्यायबिन्दु टीका पर धर्मोत्तर टिप्पणक नाम से एक टिप्पण लिखा है। इस पर से डॉ. पी.एल.वैद्य मल्लवादी को धर्मोत्तर के बाद हुआ मानते हैं और प्रभावक-चरित में जो मल्लवादी का समय वीर सं. ८८४ बतलाया है, उसे वे विक्रम संवत् मानने की सलाह देते हैं और कहते हैं कि मल्लवादी का समय ८२७ ई. ही ठीक हो सकता है

१. देखो, अनेकान्त वर्ष ८, कि० ११, पृष्ठ ४४७

अतः ईसा की सातवीं शती के उत्तरार्ध के विद्वान् भट्टाकलंक ने जिस नयचक्र को देखने का उल्लेख किया है, वह मल्लवादीकृत नयचक्र प्रतीत नहीं होता।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणः

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण एक बहुत समर्थ विद्वान् हुए हैं। इनका विशेषावश्यकभाष्य सुप्रसिद्ध महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। उसी के कारण भाष्यकार नाम से इनकी ख्याति है। यों तो विशेषावश्यकभाष्य आगमिक चर्चाओं से भरपूर है, किन्तु उसकी ज्ञान-विषयक चर्चा जैनदर्शन में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। श्वेताम्बर-परम्मरा में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण और दिगम्बर-परम्परा में भट्टाकलंक देव, ये दोनों ऐसे समर्थ विद्वान् हो गए हैं जिन्होंने जैनदर्शन की ज्ञान विषयक चर्चा को समृद्ध किया है और उसकी स्थिति को दार्शनिक क्षेत्र के अनुकूल बनाया है।

क्षमाश्रमणजी तर्ककुशल होते हुए भी आगमप्रधान थे। उनका तर्क आगमानुमारी होता था। इसी से उन्होंने अपने पूर्वज तर्क-प्रधान आचार्य सिद्धसेन के मत की कड़ी आलोचना की है। सिद्धसेन ने अपने 'सन्मति तर्क' में तर्क से यह सिद्ध किया है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों एक ही है, जुदे नहीं हैं किन्तु यह बात श्वेताम्बरीय आगम-परम्मरा के विरुद्ध है। अतः गणिजी ने अपने विशेषावश्यक- भाष्य में सिद्धसेन के मत का जमकर खण्डन किया है।

इनके रचे हुए वृहत्संग्रहणी, वृहत्-क्षेत्र-समास आदि और भी अनेक ग्रन्थ हैं। इनका समय ईसा की छठीं शताब्दी का अन्तिम भाग है।

दिगम्बर-परम्मरा में पात्रकेसरी नाम के एक समर्थ आचार्य हो गए हैं। उन्हें पात्रस्वामी भी कहते हैं। उन्होंने 'त्रिलक्षण कदर्थन' नाम का एक महत्त्वशाली ग्रंथ रचा था, जो अनुपलब्ध है। बौद्धदर्शन में हेतु का लक्षण त्रैरूप्य माना गया है। बौद्धाचार्य बसुबन्धु ने त्रैरूप्य का निर्देश किया है किन्तु उसका विकास दिङ्नाग ने ही किया था। इसी से वाचस्पति मिश्र उसे दिङ्नाग का सिद्धान्त बतलाते हैं। उसी त्रैरूप्य या त्रिलक्षण का कदर्थन करने के लिए पात्रकेसरी ने उक्त शास्त्र की रचना की। अतः पात्रकेसरी दिङ्नाग (ईसा की पाँचवीं शताब्दी) के बाद के विद्वान् हैं। त्रिलक्षण का कदर्थन करने वाला उनका निम्न श्लोक बहुत प्रसिद्ध है

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।।

बौद्धाचार्य शान्तरक्षित ने अपने तत्त्वसंग्रह के अनुमान परीक्षा नामक प्रकरण में पात्रस्वामी के मत की आलोचना करते हुए कुछ कारिकाए पूर्वपक्ष के रूप से उद्धृत की

हैं। उनमें उक्त श्लोक भी है। श्वेताम्बराचार्य वादिदेवसूरि ने भी अपने स्याद्वाद-रत्नाकर[1] में पात्रकेसरी के नाम से उक्त श्लोक उद्धृत किया है। यह श्लोक अकलंकदेव के 'न्याय विनिश्चय' के अनुमान प्रस्ताव नामक द्वितीय परिच्छेद में भी आया है। न्यायविनिश्चयालंकार नामक विवरण के रचयिता श्रीवादिराजसूरि ने उसकी उत्थानिका में लिखा है कि यह श्लोक पद्मावतीदेवी ने भगवान् सीमंधर स्वामी के समवसरण से आकर पात्रकेसरी को दिया था। इसी ग्रंथ में वादिराजसूरि ने यह भी लिखा है कि त्रिलक्षण कदर्थन नाम के शास्त्र में पात्रकेसरी स्वामी ने विस्तार से कथन किया है। अतः स्पष्ट है कि अकलंकदेव से पहले पात्रकेसरी नाम के एक प्रकाण्ड जैन दार्शनिक हो गए हैं।

भट्टाकलंक:

भट्टाकलंक का स्थान जैन वाङ्मय में अनुपम है। स्वामी समन्तभद्र और सिद्धसेन के पश्चात् इसी प्रखर तार्किक ने अपनी प्रभावक कृतियों से जैन वाङ्मय को समृद्ध बनाया है। ये जैनन्याय के सृजक कहे जाते हैं और उनके नाम के आधार पर श्लेषात्मक भाषा मे जैनन्याय को 'अकलंक न्याय' भी कहा जाता है। जैनों के दोनों सम्प्रदायों के महान् ग्रन्थकारों ने आदर के साथ उनका स्मरण किया है और जैनन्याय में उनके द्वारा समाविष्ट किए गए मन्तव्यों को बिना किसी भेद-भाव के ज्यों का त्यों अपनाया है। इनका समय मैने अनेक प्रमाणों के आधार पर ई. ६२० से ६८० तक निर्धारित किया है।[2] यह बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्ति और मीमांसक कुमारिल्लभट्ट के लघु समकालीन थे। इन्होंने अपने ग्रन्थों में उक्त दोनों विद्वानों के मन्तव्यों की आलोचना की है।

अकलंकदेव ने जैन-न्याय में किन-किन सिद्धांतों की स्थापना की, यह जानने के लिए अकलंक के पूर्व जैनन्याय की रूपरेखा पर दृष्टि डालना आवश्यक है।

पहले बतलाया है कि प्रथम शताब्दी के आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने प्रवचनसार में प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणके सामान्य लक्षण बतलाए थे और सप्तभंगी के सात भंगों की गणना मात्र की थी। उसके बाद तत्त्वार्थ-सूत्रकार ने 'मतिःस्मृतिः' इत्यादि सूत्र के द्वारा न्यायोपयोगी सामग्री का संकेत मात्र किया था।

इसके बाद जैन वाङ्मय के नीलाम्बर में समन्तभद्र और सिद्धसेन नाम के दो जाज्वल्यमान नक्षत्रों का उदय हुआ। समन्तभद्र ने अनेकान्तवाद और सप्तभंगीवाद की

१. पृष्ठ-५२१

२. न्यायकुदुदचन्द्र की प्रस्तावना

रूपरेखा स्थिर करके दार्शनिक क्षेत्र में उनके व्यावहारिक उपयोग करने की प्रणाली बतलाई।[1] प्रमाण[2] का दार्शनिक लक्षण और फल बतलाया।[3] स्याद्वाद[4] की परिभाषा स्थिर की। श्रुतप्रमाण[5] को स्याद्वाद और उसके अंशों को नय बतलाया। सुनय और दुर्नय की व्यवस्था की और अनेकान्त में अनेकान्त की योजना करने की प्रक्रिया बतलाई।

स्वामी समन्तभद के पश्चात् आचार्य सिद्धसेन का उदय हुआ। इन्होंने अपने 'सन्मति तर्क' नामक प्रकरण में नयों का बहुत विशद और मौलिक विवेचन किया और कथन करने की प्रत्येक प्रक्रिया को नय बतलाकर विभिन्न नयों में विभिन्न दर्शनों का अन्तर्भाव करने की प्रक्रिया को जन्म दिया।

अकलंकदेव ने इस दिशा में जो प्रयत्न किया, उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है- जो तत्त्व समन्तभद्र की कृति में अव्यक्त थे, उन्हें उन्होंने व्यक्त किया। जैसे, समन्तभद्र की आप्तमीमांसा में सप्तभंगी के प्रमाण सप्तभंगी और नय-सप्तभंगी भेदों की अस्पष्ट-सी सूचना है, अकलंकदेव ने उसे स्पष्ट करके सप्तभंगी के दो विभाग कर दिए।

अकलंकदेव के समय में भारतीय न्यायशास्त्र की बहुत उन्नति हो चुकी थी। बौद्धदर्शन का वह मध्यकाल था। शास्त्रार्थों की धूम थी, शास्त्रार्थों में उपयोग किये जाने वाले परार्थानुमान, छल, जाति, निग्रह-स्थान आदि में निपुण हुए बिना जय पाना दुर्लभ था। अतः अकलंकदेव ने उस ओर भी अपना ध्यान दिया।

सबसे पहले उन्होंने जैनदर्शन की प्रमाण-पद्धति की ओर ध्यान दिया और उसे दार्शनिक क्षेत्र के उपयुक्त बनाया। उसके बाद उन्होंने शास्त्रार्थ में प्रयुक्त होने वाले छल, जाति आदि असद् उपायों का विरोध किया और जय-पराजय की समुचित व्यवस्था की। इन सब बातों का वर्णन तथा स्थान तत्-तत् प्रकरणों में किया जाएगा।

अकलंकदेव की लेखनी बड़ी गूढ़ है। इसी से उन्होंने अपने स्वोपज्ञ प्रकरण ग्रन्थों पर विवृत्तियां भी बनाई हैं। इनके लघीयस्त्रय, सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय और प्रमाण-संग्रह नामक मौलिक ग्रन्थ बहुत महत्त्व के हैं। श्वेताम्बरों के जीतकल्पचूर्णि ग्रंथ की चन्द्रसूरि-विरचित टीका में 'सन्मति तर्क' के साथ सिद्धि-विनिश्चय ग्रन्थ का उल्लेख दर्शन प्रभावक शास्त्रों में किया है। इन मौलिक ग्रन्थों की रचना के सिवा

१. देखो आप्तमीमांसा

२. "स्व-परावभासकं तथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्"--स्वयंभू.श्लो. ६३

३. "उपेक्षाफलमाद्यस्य शेषस्यादान ....।" --आ. मी.का १०२

४. आ. मी. का १०४

५. आ. मी. का १०६

अकलंकदेव ने तत्त्वार्थसूत्र पर तत्त्वार्थवार्तिक तथा समन्तभद्र के आप्तमीमांसा पर अष्टशती नामक भाष्य भी रचे हैं।

हरिभद्रः

मुनिश्री जिनविजयजी ने आचार्य हरिभद्रसूरि का समय ई. सन् ७०० से ८०० निर्धारित किया है। यह श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के एक मान्य आचार्य थे। इन्होंने संस्कृत तथा प्राकृत भाषा में अनेक धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की है। कहा जाता है कि इन्होंने १४०० प्रकरण-ग्रन्थ[१] रचे थे। इनके उपलब्ध ग्रन्थों में विशेष प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ इस प्रकार हैं-- अनेकान्तवाद प्रवेश, अनेकांत-जय-पताका (स्वोपज्ञ वृत्ति सहित), दिङ्नागकृत न्यायप्रवेश की वृत्ति, षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्ता-समुच्चय (स्वोपज्ञ वृत्ति सहित)।

इनके समय में चैत्यवासी सम्प्रदाय के कारण श्वेताम्बर जैन साधुओं में शिथिलाचार बहुत बढ़ गया था। अपने सम्बोध-प्रकरण में इन्होंने उनकी अच्छी पोल खोली है और उन्हें कड़ी फटकार बतलाई है। प्रभावक-चरित में इनका जीवन-वृत्त विस्तार से दिया है।

स्वामी विद्यानन्दः

स्वामी विद्यानन्द दिगम्बर-सम्प्रदाय में एक बहुत ही विशिष्ट विद्वान् हो गए हैं। ये ब्राह्मण मीमांसक थे। आचार्य समन्तभद्र के आप्तमीमांसा नामक प्रकरण को सुनकर ये जैनदर्शन से प्रभावित हुए और जैन बन गए। इन्होंने आप्तमीमांसा पर अकलंकदेव के अत्यन्त गूढ़ार्थक अष्टशती भाष्य को आत्मसात् करके अष्टसहस्री नामक ग्रन्थ की रचना की। उसके प्रारम्भ में ही उन्होंने भावना, विधि और नियोग की जमकर आलोचना की है। यह ग्रन्थ भारतीय दर्शन साहित्य में अपना अनुपम स्थान रखता है। उसकी प्रसन्न शैली, मार्मिक शब्द-योजना और अकाट्य तर्क-कुशलता देखकर विद्वान् मुग्ध हो जाते हैं। उसमें उन्होंने लिखा है--

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।
विज्ञायेत यथैव स्वसमय-परसम-सद्भावः।।

अर्थात्-एक अष्टसहस्री श्रवण करना पर्याप्त है, अन्य हजारों शास्त्रों के सुनने से क्या लाभ? जिससे जैन और जैनेतर दर्शन का ज्ञान बखूबी हो जाता है।

विद्यानन्द अकलंक के सुयोग्य उत्तराधिकारी थे। अकलंक के अस्त के बाद

१. १४४४ ग्रन्थों की रचना करने का भी उल्लेख मिलता है।

दार्शनिक क्षेत्र में जो विचारधाराएँ आविर्भूत हुईं, उनका समीकरण और परिमार्जन विद्यानन्द ने किया। उनकी 'प्रमाण परीक्षा' अकलंक के प्रकरणों के आधार पर ही रखी गई हैं। इनका एक महत्त्वशाली ग्रन्थ 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' है, जो कुमारिल्ल के 'मीमांसाश्लोकवार्तिक' का स्मरण करा देता है। यह ग्रन्थ अकलंक की मुद्रा से पद-पद पर अंकित है। 'आप्तपरीक्षा' नामक प्रकरण में ईश्वर के सृष्टि-कर्त्तृत्व की समीक्षा अद्‌भुद्‌ और अनुपम है। पं० दरबारीलाल जी कोठिया[1] ने इनका समय ई० सन्‌ ७७५ से ८४० तक निर्धारित किया है।

आचार्य माणिक्यनन्दिः

आचार्य माणिक्यनन्दि सूत्रकार थे। इनका 'परीक्षामुख' नामक एक सूत्र-ग्रन्थ उपलब्ध है, जो न्याय-शास्त्र की दृष्टि से निबद्ध किया गया है। इसमें ६ उद्देश्य हैं-- प्रमाण, प्रत्यक्ष, परोक्ष, विषय, फल और तदाभास। माणिक्यनंदि से पहले प्रमाण का लक्षण 'स्वपर व्यवसायि ज्ञान' था। इन्होंने उसमें 'अपूर्व' पद की वृद्धि करके 'स्वापूर्वार्थ व्यावसायि ज्ञान' को प्रमाण माना है। इसमें तो संदेह ही नहीं कि परीक्षामुख के द्वारा अकलंक-न्याय को ही सूत्रबद्ध किया गया है किन्तु उस पर बौद्धाचार्य दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के सूत्र-ग्रन्थों का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। जैनदर्शन में न्यायप्रवेश अथवा न्यायबिन्दु के ढ़ंग के एक सूत्र-ग्रन्थ के अभाव की पूर्ति आचार्य माणिक्यनंदि ने 'परीक्षा-मुख' को रचकर पूरी की। ये विद्यानन्द के समय के लगभग ही हुए हैं।

अभयदेव सूरिः

श्वेताम्बराचार्य अभयदेवसूरि प्रद्युम्नसूरि के शिष्य थे। इन्होंने सिद्धसेन के 'सन्मति तर्क' पर एक टीका संस्कृत में रची है। उससे इनकी दर्शनशास्त्र विषयक असाधारण विद्वत्ता का पता चलता है। इसमें सैकड़ों दार्शनिक ग्रन्थों का निचोड़ भरा हुआ है। मूल ग्रन्थ से इसकी शैली जुदी प्रकार की है। इसे दसवीं शताब्दी के दार्शनिक वादों का संग्रह कहा जा सकता है। जिस स्त्री-मुक्ति, सवस्त्र-मुक्ति और केवलि-भुक्ति को लेकर दिगम्बर और श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में तीव्र मतभेद है उनका समर्थन भी इस ग्रन्थ में किया गया है, इतना ही नहीं, मूर्ति को श्रृंगारित करने का भी समर्थन इस दार्शनिक ग्रंथ में है। अतः यह अपने समय के प्रचलित वादों का एक संग्रह ग्रन्थ है।

---

१. आप्तपरीक्षा की प्रस्तावना में।

आचार्य प्रभाचन्दः

आचार्य प्रभाचन्द भी अभयदेवसूरि की टक्कर के विद्वान् थे। इन्होंने अकलंकदेव के 'लघीयस्त्रय' पर न्यायकुमुदचन्द्र नाम का और परीक्षा-मुख सूत्र पर 'प्रमेयकमल मार्तण्ड' नाम का सुविस्तृत टीकाग्रन्थ अत्यन्त प्रांजल-भाषा में निबद्ध किए हैं। पहला ग्रन्थ उनकी दार्शनिकता का और दूसरा उनकी तार्किकता का प्रतीक है। उन्होंने भी अपने ग्रन्थों में स्त्री-मुक्ति, सवस्त्र-मुक्ति और केवलि-भुक्ति का खण्डन जोरदार शब्दों में किया है। शाकटायन-व्याकरण पर इनका एक न्यास-ग्रन्थ भी है, जो दार्शनिक विचार-सरणि से ओतप्रोत है। ये भोजदेव राजा के समय में धारा नगरी में निवास करते थे। अतः इनका समय ई. की ग्यारहवीं शती है।

वादिराजसूरिः

वादिराजसूरि दिगम्बर-सम्प्रदाय के महान् तार्किकों में से हैं। ये प्रभाचन्द्राचार्य के समकालीन थे। षट्तर्क-षण्मुख, स्याद्वाद-विद्यापति, जगदेक-मल्लवादी इनकी उपाधियाँ थीं। इन्होंने अकलंकदेव के 'न्याय-विनिश्चय' पर 'न्यायविनिश्चय पद विवरण' नामक अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण मौलिक टीका-ग्रन्थ का निर्माण किया है। इसमें अनेक ग्रन्थों के प्रमाण उद्धृत हैं। बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति के प्रमाण-वार्तिक और उस पर प्रज्ञाकर के वार्तिकालंकार की समीक्षा से यह विवरण भरा हुआ है।

चौलुक्य-नरेश जयसिंहदेव की राज-सभा में इनका बड़ा सम्मान था। इन्हीं की राजधानी में निवास करते हुए वादिराज ने शक सं.९४७ ई. से १०२५ में अपना 'पार्श्वनाथ-चरित' बनाया था।

देवसूरिः

श्वेताम्बराचार्य देवसूरि मुनिचन्द्रसूरि के शिष्य थे। गुजरात में वि.सं. ११४३ में इनका जन्म हुआ था। इन्होंने दिगम्बराचार्य माणिक्यनंदि के परीक्षामुख सूत्र का अनुकरण करके 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' नामक न्याय सूत्र-ग्रन्थ आठ परिच्छेदों में रचा है और उस पर 'स्याद्वादरत्नाकर' नामक टीका भी रची है। यह टीका-ग्रन्थ भी जैन-न्याय में विशिष्ट स्थान रखता है। इसकी शैली प्रसन्न है और अनेक ग्रन्थों के उद्धरणों से ओतप्रोत है।

आचार्य हेमचन्द्रः

आचार्य हेमचन्द्र तो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन्होंने गुर्जर-नरेश सिद्धराज जयसिंह को प्रभावित करके अपना अनुयायी बनाया था। उसका उत्तराधिकारी कुमारपाल तो उनका शिष्य ही था। आचार्य हेमचन्द्र की प्रतिभा सर्वमुखी थी। व्याकरण, काव्य, अलंकार, कोष, दर्शन, योग आदि सभी विषयों पर इनकी रचनाएँ उपलब्ध हैं। इनकी

'प्रमाण-मीमांसा' यद्यपि अधूरी है, किन्तु उसके मूल सूत्र तथा उनकी वृत्ति अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। प्रमाण के लक्षण में माणिक्यनंदि ने जो 'अपूर्व' पद को स्थान दिया था, आचार्य हेमचन्द्र ने उसका सयुक्तिक निरसन इस ग्रन्थ में किया है। इनकी एक 'द्वात्रिंशिका' पर मल्लिषेण ने 'स्याद्वाद मंजरी' नामक सुन्दर टीका रची है जो जैनदर्शन की वाटिका है।

यशोविजयः

ईसा की सोलहवीं शती में श्वेताम्बर-परम्परा में यशोविजय बहुत ही विचारक विद्वान् हो गए हैं। इन्होंने काशी में विद्याभ्यास किया था और यह 'नव्य-न्याय' में न केवल पटु थे किन्तु नव्य-न्याय की शैली में उन्होंने ग्रन्थ-रचना भी की है। इनकी रचनाएँ मौलिक हैं, उनमें केवल पिष्टपेषण ही नहीं हैं, किन्तु नवीन विचार-धारा प्रवाहित है। उनके दार्शनिक ग्रन्थों में जैन तर्कभाषा, ज्ञानबिन्दु और शास्त्रवार्ता-समुच्चय की टीका उल्लेखनीय हैं।

उपसंहारः

संक्षेप में यहाँ कुछ प्रमुख जैन दार्शनिकों का परिचय है। इससे पता चलता है कि जैनदर्शन के काल को दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक भट्टाकलंकदेव तक का और दूसरा उसके बाद का काल। जैनदर्शन के विकास और निर्माण में अकलंकदेव का बहुमुखी प्रयत्न अनुपम है। उन्होंने जैन दार्शनिकों के सामने जैनेतर दार्शनिकों की दृष्टि से उपस्थित होने वाली सब समस्याओं का समाधान सर्वप्रथम करके आगे का मार्ग प्रशस्त कर दिया। उनके बाद उनके द्वारा सृजित भूमिका का आलम्बन लेकर विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि, अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र, वादिराज आदि न केवल दिगम्बराचार्यों ने बल्कि अभयदेव, देवसूरि, हेमचन्द्र, यशोविजय आदि श्वेताम्बराचार्यों ने भी अकलंक-न्याय को विस्तीर्ण किया।



जिनशासन-प्रभावक आचार्य अकलंकदेव

*प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाश जैन**

श्रीमत् परम-गम्भीर-स्याद्वादामोघलांछनम्।
जीयात् त्रैलोकनाथस्य शासनं जिनशासनम्।।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को 'रत्नत्रय' कहते हैं। यह रत्नत्रय ही धर्म है। सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है। सम्यग्दर्शन के बिना नियम से सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नहीं होते। जैसे बीज के बिना वृक्ष नहीं होता, वैसे ही सम्यक् दर्शन के अभाव में ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल की प्राप्ति नहीं होती, इसलिए सभी जैनाचार्यों ने सुख की प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन को भावपूर्वक धारण करने की सीख पदे-पदे की है।

अष्टांग-सहित सम्यग्दर्शन ही पूर्ण माना जाता है। इन आठ अंगों में प्रभावना आठवां अंग है। सम्यग्दर्शन की यात्रा का यह अन्तिम पड़ाव है। जिन कार्यों के करने से जैनधर्म उत्कर्ष को प्राप्त हो तथा उनसे उसकी कीर्ति का विस्तार हो, उनका सम्पन्न होना प्रभावना है। इस प्रभावना अंग के निर्दोष परिपालन से तीर्थंकर प्रकृति का भी बन्ध सम्भव है। सोलह कारण भावनायें तीर्थंकर-प्रकृति के सम्बन्ध में निमित्त हैं। धवला में कहा गया है कि इस एक मार्ग-प्रभावना में शेष पन्द्रह भावनाओं का समावेश है। इतना महत्त्वपूर्ण है यह प्रभावना अंग।

प्रभावना के अनेक साधन हैं। धर्म चर्चा या धर्म-कथा के व्याख्यान से, हिंसा-रहित निर्दोष तपश्चरण से, जीवों पर दया-भाव रखने से, परवादियों पर विजय प्राप्त करने से, अष्टांग निमित्त ज्ञान से, निर्मल पूजा-भक्ति और दान आदि से धर्म की प्रसिद्धि और प्रभावना होती है। आचार्य समन्तभद्र ने प्रभावना अंग की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए लिखा है -

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।
जिनशासन-माहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना।

अर्थात् अज्ञान रूपी अंधकार के विनाश को, जिस प्रकार बने उस प्रकार, दूर करके (समस्तमतावलम्बियों में) जिनमार्ग का प्रभाव प्रकट करना प्रभावना है।

---

* १०४, नई बस्ती, फिरोजाबाद (उ०प्र०)

आचार्य अकलंक : जैन न्यायाकाश के सूर्य :

जैनदर्शन के दिग्गज व्याख्याताओं में अपने अतुल और अमल ज्ञान-बल से एकान्तवादियों के द्वारा निरूपित मिथ्यामतों का खण्डन जिस तेजस्विता से आचार्य समन्तभद्र और आचार्य अकलंकदेव ने किया है, वह जैन इतिहास में अप्रतिम है। आचार्य समन्तभद्र को जैनन्याय के दादा और अकलंक को पिता के समान माना जाता है। इन दोनों आचार्यों की टक्कर में अन्य कोई भी तार्किक कहीं नहीं टिकता। आचार्य अकलंकदेव तो जैन न्यायाकाश के सूर्य ही हैं। उनके विषय में श्रवणबेलगोला के अभिलेख संख्या ४७ में लिखा है-

'षट्तर्केष्वकलंकदेवविबुधः साक्षादयं भूतले'

अर्थात् अकलंकदेव षट्दर्शन और तर्कशास्त्र में इस पृथ्वी पर साक्षात् विबुध (बृहस्पतिदेव) थे। यद्यपि आचार्य समन्तभद्र के काल को जैनन्याय के विकास का आदिकाल कहा जाता है, तथापि उनके द्वारा प्रस्थापित नींव पर जैनन्याय का एक उत्तुंग एवं भव्य प्रासाद आचार्य अकलंकदेव ही खड़ा कर सके। उन्होंने जैनन्याय की जो रूपरेखा और दिशा निर्धारित की, उसी का अनुसरण उत्तरकालीन सभी तार्किकों ने किया। सर्वश्री हरिभद्र, वीरसेन, कुमारनन्दी, विद्यानन्द, अनन्तवीर्य प्रथम, वादिराज, माणिक्यनन्दी आदि मध्ययुगीन सभी आचार्यों ने उनके ही कार्य को आगे बढ़ाते हुए उन्हें यशस्वी बनाया।

बौद्धविद्या का गहन अध्ययन :

आचार्य अकलंकदेव के समय देश में बौद्धधर्म का बोलबाला था। प्रमुख बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति, नागार्जुन, दिङ्नाग, उद्योतकर आदि ने जैनधर्म के स्याद्वाद, अनेकान्त अादि सिद्धान्तों पर आक्षेप और प्रहार करते हुए उन्हें असत्य तथा अपने शून्यवाद, नैरात्म्यवाद आदि के पक्ष को सत्य सिद्ध करने की हर सम्भव कोशिश की थी। जैनधर्म को अपने शब्द-छल एवं अन्य असत् उपायों से तिरस्कृत और पराजित करने में तत्कालीन बौद्ध विद्वानों को बड़ा आनन्द आता था। अकलंक का हृदय इस स्थिति को देखकर आकुल-व्याकुल हुए बिना न रहा। अतः बौद्ध विद्वानों के प्रहारों से जैनधर्म की रक्षा करने की भावना से उन्होंने बौद्धधर्म का गहन और सूक्ष्म अध्ययन करने का निश्चय किया।

वह युग धार्मिक असहिष्णुता और अनुदारता का युग था। धार्मिक कट्टरता के कारण कोई बौद्ध गुरु किसी जैनधर्मानुयायी को अपने धर्म-दर्शन का अध्ययन नहीं करने देता था। अकलंक और उनके अनुज निकलंक अनेक बाधाओं को पार करने

के बाद कांचीपुर की महाबोधि विद्यापीठ में अपना धर्म छिपाकर किसी प्रकार प्रवेश प्राप्त करने में सफल हुए। विद्याध्ययन करते समय उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

निकलंक का बलिदान :

अकलंक और निकलंक दोनों ही भाई प्रतिभा सम्पन्न थे। अकलंक एकसंस्थ और निकलंक द्विसंस्थ थे अर्थात् अकलंक एक बार में और निकलंक दो बार में किसी पाठ को सुनकर याद कर लेते थे। जैनधर्म के प्रेम में दीवाने इन दोनों नवयुवकों ने इस विद्यापीठ में अध्ययन करते हुए बौद्धधर्म का पर्याप्त ज्ञान अर्जित कर लिया था। इनके बौद्ध गुरु एक दिन दिङ्नाग कृत अनेकान्त खण्डन का कोई प्रकरण पढ़ा रहे थे। पाठ की किसी अशुद्धि के कारण पाठ को समझने और समझाने में रुकावट आ रही थी। अतः उस दिन पढ़ाने का अवकाश कर वह घर चले गए। रात्रि को अकलंक ने किसी को बताए बिना अपनी प्रत्युत्पन्नमति से उस पाठ को शुद्ध कर दिया। प्रातःकाल शुद्ध पाठ देखकर गुरुजी का माथा ठनका और उन्हें छद्म वेष में किसी जैन छात्र की उपस्थिति का सन्देह हो गया। पता लगाने के लिए अनेक उपाय किए गए-

(१) सबसे शपथ ली गई, किन्तु भेद नहीं खुला।

(२) एक जैनमूर्ति को लांघने के लिए कहा गया। अकलंक ने अपने उत्तरीय से एक धागा निकालकर मूर्ति के ऊपर डाल दिया और वे दोनों भाई उसे सरागी मानकर उसका उल्लंघन कर गए। यह कार्य चूंकि पलक झपकते हो गया, इसलिए इस रहस्य को कोई भी न जान सका।

(३) रात्रि में जब सभी छात्र गहरी नींद में थे, तब अचानक छत से कासे के बर्तन नीचे गिराए गए। तेज झन्नाटेदार आवाज से किसी आसन्न संकट की आशंका से भयभीत सभी छात्र जहां 'बुद्धं शरणं गच्छामि' का जाप करने लगे, वहां अकलंक-निकलंक के मुख से णमोकार मन्त्र निकल रहा था।

पंचनमस्कार मन्त्र के स्मरण और उच्चारण से जैन के रूप में उनकी पहचान हो गई और उन्हें कारागार में बन्द कर दिया गया।

किसी युक्ति से द्वारपालों की निगाहों से बचते हुए ये दोनों भाई कारागार से भाग निकले। राजाज्ञा से इन्हें पकड़ने और मारने के लिए अश्वारोही सैनिक भेजे गए। निकलंक ने अपने प्राणों की चिन्ता न कर अकलंक से जिनधर्म की सेवार्थ अपनी प्राण-रक्षा करने की साश्रु नयनों से प्रार्थना की। निकटस्थ सरोवर में स्थिर घने कमल-पत्रों के पीछे छिपकर अकलंक ने अपने को बचा लिया। ब्रह्म नेमिदत्त ने लिखा

है कि उन्होंने कमल-पत्रों के बहाने जिन-शासन की ही शरण ली थी। भागते हुए निकलंक और पास आती घोड़ों की टापों की आवाज को सुनकर कपड़े धो रहा धोबी डर गया और वह भी निकलंक के साथ भागने लगा। अश्वारोहियों ने उन्हें अकलंक-निकलंक समझकर मौत के घाट उतार दिया। वीर निकलंक ने अपने इस बलिदान से धर्म-प्रभावना की पीठिका पर अपने यश-गौरव के अमिट चिह्न अंकित कर इतिहास में सदा-सदा के लिए अपना नाम लिख दिया।

शास्त्रार्थों में अभूतपूर्व विजय :

कलिंग देश के रत्नसंचयपुर के पल्लववंशी राजा हिमशीतल चालुक्य-सम्राट् पुलकेशी द्वितीय के समकालीन और बौद्धगुरु संघश्री के शिष्य थे। इनकी रानी मदनसुन्दरी बड़ी धर्मात्मा और जिनधर्म परायणा थी। फाल्गुन की अष्टाह्निका में उसने जिनेन्द्र भगवान् की विराट रथयात्रा निकालने का विचार किया, किन्तु बौद्धगुरु ने यह शर्त लगवा दी कि उन्हें शास्त्रार्थ में हराए बिना रथ नहीं निकल सकता। रानी के सामने एक बड़ा धर्म-संकट उपस्थित हो गया। उसने सत्याग्रह का सहारा लिया और प्रतिज्ञा की कि जब तक कोई जैन विद्वान् बौद्धगुरु से शास्त्रार्थ के लिए सहमत नहीं होता, तब तक वह आहार ग्रहण नहीं करेगी। जैनविद्या के धुरंधर विद्वान् अकलंक ने यह सुना तो वह रत्नसंचयपुर आए और उन्होंने शास्त्रार्थ के लिए अपनी स्वीकृति प्रदान की। अकलंकदेव के स्याद्वाद महान्याय के सामने पहले दिन ही संघ-श्री का पसीना छूटने लगा। उनके अकाट्य तर्कों का कोई उत्तर उनसे देते नहीं बना। उसने बौद्ध देवी तारा को सिद्ध किया हुआ था। दूसरे दिन से उसके आह्वान पर तारादेवी घट में स्थित होकर पर्दे के पीछे से शास्त्रार्थ करने लगी। शास्त्रार्थ छह माह तक चलता रहा। दैवी शक्ति के सामने भी अकलंक भारी पड़ रहे थे। अन्त में चक्रेश्वरी देवी ने प्रकट होकर अकलंक को कुछ दिशा-निर्देश दिए और उसका अनुसरण करने पर इस षड्यन्त्र का भांडा फूट गया। तारादेवी भाग खड़ी हुई और जैनधर्म की विजय-पताका फहराने लगी।

शास्त्रार्थ में विजय-प्राप्ति के बाद जैन रथ गाजे-बाजे से निकला। राजा हिमशीतल ने अपनी सम्पूर्ण प्रजा के साथ जैनधर्म के स्वीकार करने की घोषणा की। अद्भुत और अभूतपूर्व धर्म-प्रभावना हुई।

राष्ट्रकूट वंशी राजा सहस्रतुंग की राजसभा में भी आचार्य अकलंकदेव ने बौद्ध विद्वानों को वाद में परास्त किया और उसके बाद उन्होंने सम्पूर्ण भारत में घूम-घूमकर जैनधर्म का प्रचार किया। शास्त्रार्थ में पराजित होकर अधिकांश बौद्ध जैन

हो गए। जो शेष रह गए, वे लोग लंका आदि सुदूर देशों में जाकर बस गए।

इस दिग्गज वाद-केशरी के विजय एवं प्रचार अभियान पर अपना अभिमत व्यक्त करते हुए ब्रह्म अजितसेन ने 'हनुमच्चरित' में लिखा है-

अकलंकगुरुर्जीयादकलंकपदेश्वरः ।
बौद्धानां बुद्धि-वैधव्य-दीक्षागुरुरुदाहृतः ।।

अर्थात् जिनके सामने बौद्ध विद्वानों की बुद्धि विधवा-जैसी दशा को प्राप्त हो गई, वे बौद्धों की बुद्धि को वैधव्य दीक्षा देने वाले अकलंक पद के अधिपति अकलंक गुरु जयवन्त हों।

आचार्य अकलंकदेव का कृतित्व :

आचार्य समन्तभद्र के सुयोग्य उत्तराधिकारी आचार्य अकलंकदेव ने एक ओर तो शास्त्रार्थों के द्वारा जैनदर्शन का सही रूप प्रस्तुत कर समस्त आक्षेपों का निराकरण किया, वहीं दूसरी ओर अनेक महान् ग्रन्थों की रचना कर जैन भारती को समृद्ध बनाया। उनके द्वारा रचित ग्रन्थ दो प्रकार के हैं- (१) तत्त्वार्थवार्तिक एवं (२) अष्टशती। मूल ग्रन्थ चार हैं- (१) लघीयस्त्रय, (२) न्यायविनिश्चय (३) सिद्धि विनिश्चय एवं (४) प्रमाण-संग्रह। इन चारों पर ही उनकी स्वोपज्ञ वृत्तियां भी हैं।

ये सभी ग्रन्थ कितने गूढ़, गहन, संक्षिप्त और अर्थबहुल हैं, इसका पता इस बात से लगता है कि इन पर परवर्ती आचार्यों ने बड़े-बड़े भाष्य लिखे हैं। उनके सभी ग्रन्थों में प्रमेय विषयों की चर्चा तो महत्त्वपूर्ण है ही, प्रमाणों के वर्णन और वर्गीकरण का उनका कार्य अधिक मौलिक और महत्त्व का है उनकी रचनाओं में षट्दर्शनों का गम्भीर और सूक्ष्म चिन्तन मिलता है। अनेकान्त सिद्धान्त की सार्थकता को सप्रमाण सिद्ध करने वाले तलस्पर्शी पाण्डित्य के धनी आचार्य अकलंकदेव जैनदर्शन की गौरव-गरिमा को सुरक्षित रखने के लिए विधि के एक अपूर्व वरदान की तरह हैं। शिलालेखों में उन्हें तर्कभूवल्लभ, महर्धिक, समस्तवादकरीन्द्रदर्पोन्मूलक, अकलंक-भानु, सकलतार्किकचन्द्रचूड़ामणि सरीखे महान् विशेषणों से विभूषित किया गया है। वह अपने समय के एक युग-निर्माता महापुरुष थे।

बाल ब्रह्मचारी :

बचपन में अपने माता-पिता के साथ एक बार उन्होंने जैन मुनि श्री रविगुप्त महाराज के दर्शन किए थे और उनके उपदेशों से प्रभावित होकर उन्होंने आठ दिन के लिए ब्रह्मचर्य व्रत लिया था, किन्तु इस असिधारा व्रत का निरतिचार निर्वाह उन्होंने

आजीवन किया। उन सरीखा दृढ़प्रतिज्ञव्यक्तित्व बिरला ही होता है। 'आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव' की अन्तरंग प्रभावना की व्याख्या को उन्होंने अपने आचरण में उतार लिया था।

अप्रतिम प्रभावक आचार्य :

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य अकलंकदेव ने अपने कृतित्व और कर्तृत्व -दोनों से धर्म की महती प्रभावना की। उसकी सुगन्ध आज भी दसों दिशाओं में व्याप्त है। राजवार्त्तिक में उन्होंने लिखा है कि तीन कार्यों से धर्म की प्रभावना होती है-

१.परसमयरूपी जुगनुओं के प्रकाश को पराभूत करने वाले ज्ञान रवि की प्रभा से

२.इन्द्र के सिंहासन को कंपा देने वाले सम्यक् तपश्चरण से तथा

३.भव्यजनरूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य-प्रभा के समान सद्धर्म का प्रकाश करने से।

आचार्य अकलंकदेव के जीवन में ये तीनों ही बातें साकार हुई हैं। निःसन्देह वह अप्रतिम जिनशासन-प्रभावक आचार्य थे। हम सबको भी देव-दुर्लभ इस मानव-जीवन को इस तरह जीना चाहिए कि जिससे जिनधर्म की प्रभावना हो।



आचार्य अकलंकदेव के विशेषण एवं उपाधियाँ

डॉ० कपूरचंद जैन*

जैनन्याय के पितामह प्रखर तार्किक, सकलतार्किकचक्रचूडामणि, जिनाधीश, अशेषकुतर्कविभ्रमतमोनिर्मूलोन्मूलक-तार्किक-लोकमस्तकमणि, समदर्शीवार्तिककार, स्याद्वाद-विद्याधिपति, तर्कभूवल्लभ, वादिसिंह, स्याद्वादामोघाजिह्वे, तार्किक-चक्रेश्वर-ताराविजेता, जिनसमयदीपक, जिनमतकुवलयशशांक, जिनशासनालंकर्ता, महामति भट्टाकलंक, सौगतादि-खण्डनकर्ता, समन्तादकलंकः, शास्त्रविद्मुनीनां अग्रेसरः, सूरि, मिथ्यान्धकार - विनाशकः, अखिलार्थप्रकाशकः, स्याद्वादन्यायवादि, अशेषकुतर्कविभ्रमतमोनिर्मूलनकर्ता अगाध-कुनीतिसरित्शोषकः, स्याद्वादकिरणप्रसारकः, अकलंकभानुः, तर्काब्जार्क, विद्वद्हृयमणिनालः प्रमाणवेत्ता, नरसुरेन्द्रवन्दनीयः तार्किकलोकमस्तकमणिः, समस्तमतवादिकरीन्द्रदर्पमुन्मूलकः, स्याद्वादकेसरी, पंचानन, अकलंकशशांकः, परहितावदानदीक्षितः, वृत्तिकार, विगलित-तिमिरादिकलंकः, निरस्तग्रहोपरागाद्युपद्रवः, विगलितज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मात्मकलंकः, सकलतार्किकचूड़ामणि, जिनतुल्यः, युगप्रवर्तक, वादविजेता, अकलंकधीः, भाष्यकारः, अकलंकब्रह्म, बौद्धबुद्धिवैधव्यदीक्षागुरूः, सकलतार्किकचक्रचूडामणिमरीचिमेचकितनखकिरणः आदि उपाधियों से अलंकृत अकलंकदेव ने किस काल में भारत वसुन्धरा को अपने जन्म से पवित्र बनाया था, यह 'इदमित्थं' कह पाना आज भी सम्भव नहीं है। हमारे प्राचीन आचार्यों ने भव्य जीवों के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करने, कुवादियों के कुतर्क-प्रासादों को ध्वस्त करने, जैन धर्म-न्याय को विश्वविजयी बनाने के बाद भी अपने सन्दर्भ में कहीं कुछ उल्लेख नहीं किया है। इसे काल का प्रभाव कहा जाये या उन आचार्यों/विद्वानों/इतिहासविदों/आलोचकों की निस्पृहता। फिर भी विद्वानों ने उनके पूर्वापर प्रसंगों/ उल्लेखों के आधार पर उनका समय निर्धारित करने का सफल प्रयत्न किया है।

अकलंकदेव के समय के सन्दर्भ में न केवल भारतीय विद्वानों अपितु पाश्चात्य विद्वानों ने भी पर्याप्त गवेषणा की है। विदेशी विद्वानों में डॉ० पीटर्सन, डॉ० लुइस राइस, डा० एम० विन्टरनित्ज, डा० ए० बी० कीथ, डा० एफ० डब्ल्यू० थॉमस आदि

* अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, कुन्दकुन्द महाविद्यालय, खतौली (उ०प्र०)

के नाम उल्लेखनीय हैं। भारतीय विद्वानों में डा० के० बी० पाठक, डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण, डॉ० आर० जी० भाण्डारकर, पं० नाथूराम प्रेमी, पं० कामताप्रसाद, पं० सुखलाल संघवी, डॉ० बी० एस० सालेतोर, पं० जुगलकिशोर मुख्तार, पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन आदि ने इस विषय में गहन अध्ययन किया है। इस विषय में दो मत प्रमुख रूप से सामने आते हैं। प्रथम मत के अनुसार अकलंक का समय सातवीं शताब्दी है। इसके समर्थक पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, श्रीकष्ठ शास्त्री, आर० नरसिंहाचार्य, पं० जुगलकिशोर मुख्तार, डॉ० ए० एन० उपाध्ये, डॉ० ज्योतिप्रसाद आदि है।

द्वितीय मत के अनुसार अकलंक का समय आठवीं शती का उत्तरार्ध है। इस मत को मानने वालों में पं० नाथूराम प्रेमी, डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, डॉ० के० बी० पाठक, डॉ० कीथ, डॉ० थामस, डॉ० भाण्डारकर आदि के नाम उल्लेखनीय है।

अकलंक के जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रसंग उनके द्वारा जैनधर्म की रक्षा किया जाना है, जिसमें उनके भाई निकलंक का प्राणोत्सर्ग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। अकलंक द्वारा बौद्धों से शास्त्रार्थ कर उन्हें पराजित करना तथा तारादेवी जो परदे के पीछे घट में विद्यमान थीं और शास्त्रार्थ कर रही थीं, के घट को नष्ट करना भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है।

पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री ने अकलंक को दक्षिण भारत का निवासी बताया है। उन्होंने कथाकोष में आई अकलंक विषयक कथाओं का, मान्यखेट आदि के सन्दर्भ को लेकर उसकी प्रामाणिकता में सन्देह व्यक्त किया है। पं० जी के अनुसार अकलंक राजपुत्र थे और उनके पिता का नाम लघुहव्व था।[1]

जैन न्यायशास्त्र को जो योगदान अकलंकदेव ने दिया है वह अपना उदाहरण आप है। उन जैसा तार्किक शायद ही जैनन्याय के इतिहास में कोई हो। उनके द्वारा दी गई प्रमाण व्यवस्था को दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों ने अपनी-अपनी प्रमाण-मीमांसा विषयक कृतियों में बिना किसी हेर-फेर के स्वीकार किया है।

आचार्य अकलंकदेव की कृतियों में तत्त्वार्थवार्तिक (अपरनाम तत्त्वार्थवार्तिक-व्याख्यालंकार, राजवार्तिक या तत्त्वार्थराजवार्तिक), अष्टशती, लघीयस्त्रय (सवृत्ति), न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय (सवृत्ति) और प्रमाण-संग्रह उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त स्वरूप-संबोधन, अकलंक-स्तोत्र, अकलंक-प्रतिष्ठापाठ और अकलंक प्रायश्चित्त उपलब्ध किन्तु विवादग्रस्त कृतियाँ हैं।

१. न्यायकुमुदचन्द्र की प्रस्तावना, पृ० २७

अकलंकदेव की निर्विवाद विद्वत्ता, तार्किकता और न्यायशास्त्र विशेषतः जैन न्याय के क्षेत्र में अप्रतिम अवदान के कारण परवर्ती अनेक आचार्यों ने उनका उल्लेख बड़े ही सम्मान के साथ किया है, साथ ही अनेक उपाधियों से उन्हें अलंकृत किया है। विशेषतः दक्षिण भारत के कर्नाटक प्रदेश में स्थित अनेक मन्दिरों-बस्तियों में उत्कीर्ण विभिन्न शिलालेखों में अकलंक का नाम भगवान् महावीर की विश्रुत परम्परा में गौरव के साथ लिया गया है। अनेक ग्रन्थों में उनके नाम का उल्लेख बड़े ही सम्मान के साथ किया गया है। इनमें अनेक उपाधियों के साथ उनका उल्लेख है, यहाँ कुछ उपाधियों के नाम उल्लेखनीय हैं।

हुम्मच के पञ्चबस्ति-प्रांगण में १०७७ ई० में लिखित संस्कृत तथा कन्नड भाषामय लेख में उन्हें 'स्याद्वादामोघजिह्वे' तथा 'वादिसिंह' उपाधियों से अलंकृत किया गया है।[१] कल्लूर गुड्ड (शिमोगा परगना) में सिद्धेश्वर मन्दिर की पूर्व दिशा में पड़े हुए पाषाण पर उत्कीर्ण लेख में अकलंक को 'तार्किक चक्रेश्वर' के रूप में उल्लिखित किया गया है।[२] यह शिलालेख ११२१ ई० का है। चन्द्रगिरि पर्वत की पार्श्वनाथ वसदि में एक स्तम्भ पर लिखित मल्लिषेण प्रशस्ति (शक सं० १०५०) में अकलंक की तारा-विजेता के रूप में स्तुति की गई है। यथा-

'तारा येन विनिर्जिता घट-कुटी गूढावतारा समं
बौद्धैर्यो धृत-पीठ-पीडित कुदृग्देवास्तसेवाञ्जलिः।
प्रायश्चित्तमिवांघ्रि वारिजरज-स्नानं च यस्याचरत्
दोषाणां सुगतस्य कस्य विषयो देवाकलंकः कृतीः।।[३]

उक्त शिलालेख से यह भी ज्ञात होता है कि उन्होंने राजा हिमशीतल की सभा में बौद्धों को परास्त किया था। जैसा कि अकलंकदेव ने स्वयं कहा है-

'नाहंकारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणां केवलं
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्ध्या मया।
राज्ञः श्रीहिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो
बौद्धान्यान्सकलान्विजित्य सुगतः पादेन विस्फोटितः।।[४]

बेलूर के शक सं० १०५९ के शिलालेख में उन्हें 'जिन-समय-दीपक' कहा गया

१. जैन शिलालेख संग्रह, द्वितीय भाग २१३, पृष्ठ २६३
२. वही,द्वि० भाग, २७७, पृ० ४१६
३. वही, प्र० भाग, पृष्ठ १०४
४. वही, प्र० भाग, पृष्ठ १०५

है।[1] तारा विजेता के रूप में उनकी स्तुति बोगदि (११४५ ई०) के एक भग्न शिलालेख में भी की गई है।[2]

हुम्मच के ११४७ ई० के एक खम्भे पर उत्कीर्ण संस्कृत-कन्नड भाषामय शिलालेख में उन्हे 'जिनमतकुवलयशशांक' कहा गया है।[3] चन्द्रगिरि पर्वत के ही महानवमी मंडप के स्तम्भ पर उत्कीर्ण एक शिलालेख में अकलंकदेव को 'महामति' और 'जिनशासनालं कर्ता' कहा गया है। यह लेख शक सं० १०८५ का है।[4] जोडि वसवनपुर में हुण्डि-सिदरन चिक्क के खेत में पाये गये संस्कृत-कन्नड भाषामय ११८३ ई० के शिलालेख में अकलंक को अपनी प्रबल शास्त्रार्थ विजयों के द्वारा बौद्ध पण्डितों को मृत्यु तक का आलिंगन कराने वाला बताया गया है। यथा-

'तस्याकलंकदेवस्य महिमा केन वर्ण्यते।
यद् वाक्यखंगघातेन हतो बुद्धो विबुद्धिसः।।[5]

विन्ध्यगिरि पर्वत सिद्धरवस्ति में उत्तर की ओर एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण शिलालेख में अकलंकदेव को 'भट्टाकलंक', 'सौगतादि खण्डन कर्ता' तथा 'समन्तादकलंकः' कहा है। यथा-

'भट्टाकलंकोऽकृतः सौगतादिदुर्वाक्यपंकस्सकलंकभूतं
जगत्स्वनामेव विधातुमुच्चैः सार्थं समन्तादकलंकमेव।।[6]

सिद्धरबस्ति के ही एक अन्य स्तम्भलेख में अकलंक को 'शास्त्रविद् मुनीनां अग्रेसर' 'सूरि' 'मिथ्यान्धकार विनाशक' और 'अखिलार्थप्रकाशक' कहा गया है। यथा-

'ततः परं शास्त्रविदां मुनीनामग्रेसरोऽभूदकलंकसूरिः।
मिथ्यान्धकारस्थगिताखिलार्थाः, प्रकाशितायस्य वचोमयूखैः।।[7]

सोंदा (उत्तर कन्नड) मैसूर के १६०७ ई० के एक शिलालेख में 'स्याद्वादन्यायवादि' के रूप में अकलंक स्तुत हैं।[8]

इनके अतिरिक्त इंचवादि (मैसूर) के १०वीं शती के, सुकदरे (होणकेटी परगना)

---

१. वही, तृ० भाग, ३५०
२. वही, तृ० भाग पृ० ४६
३. वही, तृ० भाग पृ० ६६
४. वही, प्र० भाग पृ०२४
५. वही, तृ० भाग पृ०२०६
६. वही, तृ० भाग पृ०१६५
७. वही, प्र० भाग पृ०२११
८. वही, प्र० भाग पृ० ३३८

के १०२० ई०, वादामी १०३६, यल्लादहल्लि १०५४ ई०, कडवत्ति १०६० ई, बन्दलिके १०७४ ई०, बलगाम्बे १०७७ ई०, आलहत्ति ११२० ई०, चामराजनगर १११७ ई०, कल्लूरगुड्ड ११२१ ई०, चल्लग्राम शक सं० १०४७, वेलूर १०५६ (शक) आदि लगभग ५०० शिलालेखों में अकलंक का नाम वड़े सम्मान के साथ लिया गया है।

अकलंक का परवर्ती जैन साहित्य तो उनके गुणानुवाद से भरा पड़ा है। और हो भी क्यों न, जैनन्याय को उनका अवदान अप्रतिम है, जैनधर्म की रक्षा करने वालों में उन जैसा उदाहरण इतिहास में दूसरा नहीं मिलता। कुवादियों को शास्त्रार्थ में परास्त करने वाले अकलंक हम सभी के वन्दनीय हैं। अकलंक के ग्रन्थों के टीकाकारों ने उनका नाम जिस सम्मान के साथ लिया है, उसके वे शत-प्रतिशत अधिकारी हैं। न्यायकुमुदचन्द्रकर्ता आचार्य प्रभाचन्द्र ने अकलंक को 'अशेषकुतर्कविभ्रमतमोनिर्मूलनकर्ता' 'अगाधकुनीतिसरित्शोषक' 'स्याद्वादकिरणप्रसारकः,' 'समस्तमतवादिकरीन्द्रदर्प- मुन्मूलकः' 'स्याद्वादकेसरी' 'पंचानन' आदि अलंकरणों से अलंकृत किया है। यथा-

'येनाऽशेषकुतर्कविभ्रमतमोनिर्मूलमुन्मूलितम्
स्फारागाधकुनीतिसार्थसरितो निःशेषतः शोषिताः।
स्याद्वादाऽप्रतिसूर्यभूतकिरणैः व्याप्तं जगत् सर्वतः
स श्रीमानकलंक-भानुरसमो जीयात् जिनेन्द्रः प्रभुः।।
इत्थं समस्तमतवादिकरीन्द्रदर्पमुन्मूलयन्नमलमानदृढप्रहारैः ।
स्याद्वादकेसरसदाशततीव्रमूर्तिः पंचाननो भुवि जयत्यकलंकदेव।।[1]

लघीयस्त्रय तात्पर्यवृत्ति में अमरचन्द्रसूरि ने अकलंक को 'जिनाधीश'-सकल तार्किकचक्रचूडामणिः, 'अकलंकशशांकः' आदि विशेषणों से युक्त बताया है।[2] सिद्धिविनिश्चय टीका में अनन्तवीर्याचार्य ने अन्य विशेषणों के साथ ही उन्हें 'परहितावधानदीक्षित' और 'समदर्शी' कहा है।[3] न्यायविनिश्चय-विवरण में वादिराजसूरि ने उन्हें 'तार्किकलोक-मस्तकमणि' उपाधि से स्मरण किया है।[4] आप्तमीमांसा पर भाष्य लिखने वाले आचार्य विद्यानन्द ने अष्टसहस्री में अकलंक को 'वृत्तिकार' 'विगलिततिमिरादिकलंकः' 'निरस्तग्रहो-परागाद्युपद्रवः' 'विगलितज्ञानावरणादिद्रव्य-कर्मात्मकलंकः' आदि अलंकरणों से अलंकृत किया है।[5] लघु समन्तभद्र ने भी उन्हें 'सकलतार्किकचूडामणि' 'भट्टाकलंकदेव' 'वार्तिककार'

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ५२१ तथा ६०४
२. लघीयस्त्रय तात्पर्यवृत्ति, पृ०१८, ६६, ७३, १०३ आदि
३. सिद्धिविनिश्चय टीका, पृष्ठ २६०
४. न्यायविनिश्चय-विवरण, पृ० ३६६
५. अष्टसहस्र, अनेक पृष्ठ

'भाष्यकार' आदि के रूप में उनकी स्तुति की है।[1]

उत्तरवर्ती अनेक आचार्यों/कवियों/लेखकों ने उन्हें महान् तार्किक, दार्शनिक, वादविजेता, अद्भुत प्रभाव सम्पन्न, जिनतुल्य, युगप्रवर्तक, तार्किक, लोकमस्तकमणि, तर्कभूवल्लभ, अकलंकधी, बौद्धबुद्धिवैधव्यदीक्षागुरुः, विद्वद्हृदयमणिमाला, नरसुरेन्द्रवन्दनीय, तर्काब्जार्कप्रमाणवेत्ता आदि के रूप में स्मरण किया है।

इस विषय में और अधिक विस्तार से अध्ययन किया जाय तो अकलंक के अगाध पाण्डित्य के सन्दर्भ में नये-नये तथ्य उद्घटित हो सकते हैं।



१. अष्टसहस्र टिप्पण, पृ० १, २, ८० आदि

कुशल टीकाकार आचार्य अकलंकदेव

पं० शिवचरन लाल जैन*

एकान्तवादीन्नैयायिकादीन्, स्याद्वादसिद्धान्तबलेन जित्वा।
यः धर्मरक्षामकरोत् स सन्मते, मिथ्यान्धकारं दूरं कुरुष्व।।
अकलंकः गुरुर्जीयान्नयन्यायविदांवरः।
सकलंक-प्रमाणं यः निष्कलंकमुपाकरोत्।।
प्रणमामि ज्ञानसागरमकलंक-नयप्रभावकर्तारम्।
सम्प्रत्युत्तरदेशे विलसति नयज्ञेषु यः सम्यक्।।

जिन्होंने नैयायिक आदि एकान्तवादियों को स्याद्वाद सिद्धान्त के बल से विजित कर धर्मरक्षा की, ऐसे हे तीर्थंकर सन्मति देव! मिथ्यात्व रूप अन्धकार को दूर कीजिए।

जो नय और न्यायविद्या के ज्ञाताओं में श्रेष्ठ हैं एवं जिन्होंने (एकान्तवाद से दूषित) सकलंक प्रमाण-विद्या को निष्कलंक अर्थात् अनेकान्त के प्रयोग से निर्मल किया, वे आचार्य अकलंकदेव से सदैव चिरंजीवी हों।

मैं उन चारित्र से निष्कलंक, निर्दोष आचरण वाले पू० उपाध्याय ज्ञानसागर जी महाराज को प्रणाम करता हूँ जो जैन नयवाद के प्रभावनाकर्ता हैं एवं जो वर्तमान में उत्तरदेश में नयज्ञ विद्वानों के मध्य सम्यक् सुशोभित हैं।

अन्तिम तीर्थकर्ता विश्ववंद्य भगवान् महावीर के अनेकान्त शासन की जो अविच्छिन्न धारा अद्यावधि प्रशस्त रूप से प्रवाहित हो रही है, उसमें परम्पराचार्यों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। गौतम गणधर के द्वारा ग्रंथित जिनवाणी को सुरक्षित एवं पल्लवित रूप में हम तक पहुँचाने का भागीरथ प्रयत्न श्रुतधर एवं सारस्वताचार्यों द्वारा यदि न किया गया होता तो हम जैन-सिद्धान्तों से परिचित न होते। दर्शन-धर्म, आचार-विचार और संस्कृति ही नष्ट हो गई होती। इसी कोटि में प्रातःस्मरणीय, जिनसिद्धान्त-प्रभावक एवं कुशल टीकाकार आचार्य अकलंकदेव का स्थान प्रथम पंक्ति में विराजित आचार्यों के मध्य स्थापित करना सुसंगत होगा।

आचार्य अकलङ्कदेव में दर्शन और सिद्धान्त दोनों का संगम था। वे लेखनी और वाणी के समान रूप से वैभवशाली थे। इतिहास के पृष्ठ इस विषय के साक्षी हैं कि सातवीं शताब्दी का यह महान् सन्त किस प्रकार अपने बलिदानी व्यक्तित्व के परिवेश में जिनशासन के माहात्म्य को सूर्य के समान प्रकाशित कर मोक्षमार्ग में

गतिमान् हो गया। सरस्वती-वरदान से विभूषित श्रेष्ठ पुत्र के रूप में प्रमाणित होकर वे लेखकों में अग्रणी एवं वादीगण के मध्य सिंह की भांति प्रतीत होते हैं। वादीभसिंह उपाधि के वे सार्थक कीर्तिमान् थे।

उनके जीवनवृत्त के विषय में ऐतिहासिक विभिन्नतायें दृष्टिगोचर होती हैं। कथाकोष के अनुसार अकलंक मान्यखेट के राजा शुभतुंग के मंत्री पुरुषोत्तम के पुत्र थे। राजबलिकथे में उन्हें कांची के जिनदास ब्राह्मण का पुत्र उल्लिखित किया गया है। तत्वार्थवार्तिक के प्रथम अध्याय के अन्त में उपलब्ध प्रशस्ति से वे राजा लघुहव्व के पुत्र हैं जिनका परिचय अप्राप्त है। समग्र इतिहास का संक्षेप में सार यह है कि वे दक्षिण देश के निवासी थे। बाल्यावस्था से ही अकलंक और निष्कलंक दोनों भाइयों ने मुनिराज के धर्मोपदेश से आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रत लेकर विद्याध्ययन किया। कांची में बौद्ध विद्यालय में छद्मवेश में षड्दर्शन एवं विशेष रूप से बौद्धदर्शन में पारंगत हो गये। कारणवश छद्म विदित हो जाने पर निष्कलंक का बलिदान हुआ। येन-केन प्रकारेण अकलंक बच निकले। उन्होंने निर्ग्रन्थ दीक्षा अंगीकार कर सुधापुर के देशीय गण का आचार्य पद सुशोभित किया। उनका अभिप्रेत था जैनदर्शन का सर्वतोमुखी प्रचार। वाद-विवाद के उस युग में विशेष रूप से उन्होंने बौद्धों से शास्त्रार्थ कर उन्हें पराजित किया। वे प्रत्येक स्थल पर सफल रहे। चाहे राजा सहस्रतुंग की सभा का प्रसंग हो, चाहे शैवों द्वारा प्रार्थना किये जाने पर राजा हिमशीतल की सभा में बौद्धदेवी तारा से वाद का अवसर। सभी में अकलंक ने अपनी अद्वितीय वाद-प्रतिभा से बौद्धों को पराजित कर जैन धर्म की प्रभावना की। समस्त जैन समुदाय के कोल्हू में पेरे जाने की शर्त लगने पर उन्होंने जिस अदम्य साहस, वीरता, दूरदर्शिता और तर्क-कौशल का परिचय देकर जैनधर्म, समाज की रक्षा एवं प्रभावना की, वह घटना-चक्र जैन धर्म के इतिहास का स्वर्णिम पृष्ठ है। विजयी होने पर अकलंक ने बौद्धों को क्षमा प्रदान की। अहिंसा का प्रतिपालक साधु बौद्धों को कोल्हू में पेर दिये जाने पर कैसे सहमत हो सकता था। प्रभावना का अर्थ तो हृदय परिवर्तन मात्र है।

वस्तुतः अकलंक वादविद्या में सिंह के समान निर्भीक-वृत्ति वाले थे। ग्रन्थों और शिलालेखों में उनके प्रति उपाधियों का भण्डार प्राप्त होता है, वे प्रशंसा के केन्द्र-बिन्दु हैं। लघु समन्तभद्र ने अष्टसहस्री की उत्थानिका में उन्हें "सकलतार्किकचक्र-चूडामणि-मरीचिमेचकितचरणनखकिरण" विशेषण से ठीक ही विभूषित किया है।[1]

---

१. अष्टसहस्री अनुवाद, आर्यिका ज्ञानमतीकृत, पृष्ठ २

न्यायमूर्ति अकलंक– द्वादशांग के अन्तिम अंग दृष्टिवाद के पूर्वगत भेद के अन्तर्गत "ज्ञानप्रवाद" नाम का पंचम पूर्व है। उसमें न्याय का विषय गर्भित है। इसमें प्रमाण, नय, निक्षेप का स्वसमय-परसमय, ३६३ प्रकार के एकान्त, षड्दर्शन, अनेकान्त-स्याद्वाद और न्याय के विविध रूप आदि का वर्णन है, इसी में से अकलंक देव का प्रिय विषय अवतरित हुआ है। जैनन्याय के सर्वप्रथम प्रस्तोता या सार्वजनिक रूप में संस्थापक आ० समन्तभद्र कहे जाते हैं। उनके द्वारा न्याय तरुण अवस्था को प्राप्त कर चुका था उसे यौवन के उभार पर लाने का श्रेय भट्ट उपाधि प्राप्त अकलंक देव को है। प्रकृत हेतुविद्या या प्रमाणविद्या, जिसे आन्वीक्षिकी, न्याय, तर्क आदि नामों से उल्लिखित किया जाता है, के प्रचारक एवं पोषक अकलंकदेव ही हैं। उनका सर्वांग ही न्यायपूरित था, उन्हें न्यायमूर्ति कहना प्रासंगिक होगा। अकलंक ने समन्तभद्र स्वामी के कार्य को उन्नति के शिखर पर स्थापित किया। डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री के शब्दों में कहा जा सकता है कि जैन-परम्परा में यदि समन्तभद्र जैनन्याय के दादा हैं तो अकलंक पिता। ये बड़े प्रखर तार्किक और दार्शनिक थे। बौद्धदर्शन में जो स्थान धर्मकीर्ति को प्राप्त है, जैनदर्शन में वही स्थान अकलंकदेव का है।[1]

जैसे अध्यात्म के क्षेत्र में निर्ग्रन्थ जैन-आम्नाय को कुन्दकुन्द-आम्नाय कहा जाता है, उसी प्रकार जैनन्याय को अकलंक-न्याय के रूप में मान्यता प्राप्त है। महाकवि धनंजय ने अकलंक के प्रमाण की प्रशंसा करते हुए उचित ही कहा है-

प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
धनंजयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्।।[2]

अर्थात् अकलंकदेव का प्रमाण, पूज्यपाद का लक्षण और धनंजय कवि का काव्य (द्विसन्धान) अपश्चिम रत्न हैं।

अकलंकदेव की टीकायें व स्वतंत्र ग्रन्थ- जैन वाङ्मय में अकलंक कुशल टीकाकार के रूप में एक विशिष्ट स्थान निर्मित करते हुए अवतरित होते हैं। यद्यपि उन्होंने स्वतंत्र ग्रन्थों के रूप में लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय और प्रमाण-संग्रह नामक न्याय विषयक ग्रन्थों की रचना की है, तथापि उन पर स्वोपज्ञ वृत्ति और भाष्य लिखकर उन्हें टीका ग्रन्थ भी बना दिया है। उन्हें मौलिक एवं टीका-दोनों ही साहित्यिक विधाओं में लेखन का प्रतिभापूर्ण अधिकार था। आश्चर्य यह था कि उनके टीका ग्रन्थ मौलिक ज्ञात होते हैं एवं मौलिक ग्रन्थ सभाष्य होने से टीका ग्रन्थ

१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ३००
२. नाममाला

जान पड़ते हैं। वर्तमान में उनके दो टीकाग्रन्थ उपलब्ध हैं- १. तत्त्वार्थवार्तिक और २. अष्टशती। इनकी अन्य स्वतंत्र कृतियां हैं, स्वरूप-सम्बोधन, वृहत्त्रयम्, न्याय-चूलिका, अकलंक-स्तोत्र। इन रचनाओं से जान पड़ता है कि इनका आगम और अध्यात्म-दोनों क्षेत्रों में प्रबल प्रवेश था।

सभाष्य लघीयस्त्रय- तीन लघु प्रकरणों के समावेश के कारण इसका नाम लघीयस्त्रय सार्थक रूप में निर्दिष्ट किया गया है। प्रमाण, नय, निक्षेप के विषय को आ० अकलंकदेव ने ७८ कारिकाओं में वर्णित किया है। यह न्याय का अपूर्व ग्रन्थ है। अकलंक ने अनिवार्य रूप से आवश्यक समझकर विवृति भी लिखी है, जिससे विषय पूर्ण और स्पष्ट हो जाता है। इस पर आ० प्रभाचन्द्र ने 'न्यायकुमुदचन्द्र' नामक व्याख्या लिखी है।

न्यायविनिश्चय सवृत्ति- इसमें ४८० कारिकायें हैं। कारिकाओं के साथ उत्थानिका वाक्य तथा विषय संकेत रूप वृत्ति लिखकर आ० अकलंकदेव ने अति क्लिष्ट, रूक्ष, सूक्ष्म और गम्भीर न्याय विषय को हृदयंगम करने हेतु प्रस्तुत किया है। इसकी आ० वादिराजकृत टीका "न्यायविनिश्चय विवरण" उपलब्ध है।

सिद्धिविनिश्चय सवृत्ति- प्रस्तुत ग्रन्थ में १२ प्रस्तावों के अन्तर्गत प्रमाण, नय, निक्षेप का विवेचन करते हुए उन प्रस्तावों को सिद्ध किया है अथवा प्रस्तावों के द्वारा विषय सिद्धि की गई है। परवादियों पर विजय प्राप्त करने हेतु ग्रन्थ अति उपयोगी है। आ० अनन्तवीर्य ने इस पर प्रसिद्ध टीका लिखी है।

प्रमाणसंग्रह सवृत्ति- कुल ६ प्रस्तावों और ८७-१/२ कारिकाओं में विभक्त प्रमाण विषयक प्रस्तुत ग्रन्थ अपनी विशेषता से न्याय जगत् में प्रसिद्ध है। संस्कृत गद्य व पद्य में निबद्ध यह रचना बहुत जटिल है। स्वोपज्ञ वृत्ति लिखकर आ० अकलंकदेव ने विषय को स्पष्ट रूप से हृदयंगत कराने का प्रयास किया है। यह कुल ८०० श्लोक प्रमाण है। इस पर आ० अनन्तकीर्ति की "प्रमाणसंग्रहालंकार" नाम की संस्कृत टीका है।[1]

तत्त्वार्थवार्तिक - जैन वाङ्मय में प्रतिनिधि ग्रन्थ के रूप में मान्यता प्राप्त बहुआयामी एवं चतुरनुयोगी ग्रन्थराज आ० उमास्वामीकृत तत्वार्थसूत्र की महती महिमा है। इस पर आ० देवनन्दी पूज्यपादकृत सवार्थसिद्धि प्रसिद्ध टीका है। इसी सर्वाथसिद्धि को वृक्ष में बीज की भांति पूर्णतया समाविष्ट करते हुए आ० अकलंकदेव ने तत्त्वार्थसूत्र

१. जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश

के प्रत्येक सूत्र पर वार्तिक रूप में व्याख्या की है। यह वृहद् एवं विशद टीका तत्त्वार्थवार्तिक के नाम से प्रख्यात है। इसे राजवार्तिक भी कहा जाता है। यह तर्क, आगम और अनुमान द्वारा जैनदर्शन को स्पष्ट करने में सक्षम है। इसमें दर्शन एवं सिद्धान्त के अनेक विषयों की चर्चा के साथ विविध प्रकार के ऊहापोह और मत-मतान्तरों के समाधान के साथ अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा की गई है।

ज्ञात होता है कि सर्वार्थसिद्धि से अवशिष्ट एवं अनिवार्य रूप से अपेक्षित विषयों को पूरा करने हेतु अकलंकदेव ने तत्त्वार्थवार्त्तिक की रचना की है, यह गद्यात्मक है। वार्त्तिकों को पृथक् रूप से लिखकर उन पर अर्थ-व्याख्या रूप स्वोपज्ञ भाष्य भी प्रकट किया गया है। इसी हेतु उन्होंने अध्यायों की समाप्ति या पुष्पिकाओं में इसे 'तत्त्वार्थवार्त्तिकव्याख्यानालंकार' विशेषण दिया है। यह टीका जैनदर्शन का अध्ययन करने हेतु पूर्ण रूप से पर्याप्त साधन है। भारतीय दर्शन साहित्य एवं विशेषतया जैन दर्शन के क्षेत्र में इस ग्रन्थ का विशिष्ट स्थान है। इसी को आधार बनाते हुए अकलंक वाङ्मय-रूपी कमल के रसिक आ० विद्यानन्द ने "तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक" की रचना की है।

अष्टशती- तत्त्वार्थसूत्र की प्रथम टीका न्याय के मूर्धन्यमणि आ० समन्तभद्र ने गन्धहस्ति महाभाष्य नाम से ८४ हजार श्लोक प्रमाण लिखी थी जो सम्प्रति अप्राप्त है। इसके अंशों को परवर्ती आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है। इसका मंगलाचरण मात्र "देवागम" नामक स्तोत्र ११४ श्लोकों में निबद्ध वर्तमान में उपलब्ध है जो आचार्य की न्याय विषयक प्रतिभा या प्रभावना एवं सदिच्छा का परिचायक है। इस पर आ० अकलंकदेव ने ८०० श्लोकों में अष्टशती नामक टीका लिखी है। यह टीका अनेकान्तात्मक जैनदर्शन की स्थापना एवं प्रभावना हेतु समर्थ है। इसकी गूढ़ता एवं क्लिष्टता को हृदयंगम कर ही आ० विद्यानन्द ने इस पर अष्टसहस्री व्याख्या लिखी है, जिसमें अष्टशती के हार्द को खोलने का विशद प्रयास किया है। अकलंक की गम्भीर शैली को समझने हेतु अष्टसहस्री का सहारा लेना पड़ता है। अष्टसहस्री का हिन्दी अनुवाद वर्तमान में पू० गणिनी आर्यिका ज्ञानमती माता जी ने किया है। इस अष्टसहस्री को देशभाषा में प्रकट करने हेतु वे प्रशंसनीय हैं। अष्टशती का एकादि वाक्य दृष्टव्य है।

"तेन मणेः कैवल्यमेव मलादेर्वैकल्यम्। कर्मणोऽपि वैकल्यमात्मकैवल्यमस्त्येव ततो नातिप्रसज्यते।"[1]

अर्थ- मणि का केवल अपने स्वरूप से रहना ही मलादिक से विकल होना है,

१ देवागम, कारिका ४ की टीका

उसी प्रकार आत्मा से कर्मों की विकलता ही उसकी कैवल्यस्वरूप की प्राप्ति है, इसलिए अतिप्रसंग का दोष नहीं आता है।

आ० अकलंकदेव कुशल टीकाकारों की अग्रिम पंक्ति में अपना महत्त्वपूर्ण. स्थान रखते हैं। टीका के विभिन्न रूप-भाष्य, व्याख्यान, वार्तिक आदि प्रायः सभी विधाओं में भट्टाकलंकदेव ने अपनी कुशल टीका-लेखन-प्रतिभा का परिचय दिया है।

अपने स्वतन्त्र ग्रन्थों पर भी वृत्ति एवं भाष्य लेखन की उनकी शैली से विदित होता है कि उनकी अभिरुचि विशेष रूप से टीका-लेखन कार्य में थी। वे प्रत्येक विषय को आगम, अध्यात्म, न्याय और दर्शन के परिप्रेक्ष्य में विशेषतया स्पष्ट करते हुए एवं पाठकों को उसका अन्तस्तत्त्व हृदयंगम कराते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

उनके टीका-कौशल को कतिपय निम्न बिन्दुओं द्वारा समझा जा सकता है-

अर्थ गाम्भीर्य- अकलंक शब्दशास्त्र के समुद्र ही थे। अल्पतम शब्दों में बृहत्तम अर्थ को समायोजित करने में वे निपुण थे। उनके टीकाग्रन्थ भी वस्तुतः मूलग्रन्थ सरीखे जान पड़ते हैं। सामान्य पाठक उनकी जटिल, दुरूह शैली का हार्द समझने में अवश्य ही कठिनाई का अनुभव करता है परन्तु यदि उनकी टीकाओं का अध्ययन करने से पूर्व तत्-तद् विषयों का सामान्य ज्ञान पाठक को होता है तो वह सफल हो जाता है। विषय प्रतिपादन हेतु अकलंकदेव ने सरल या क्लिष्ट जैसी शब्दावली अपेक्षित हो उसका प्रयोग मुक्त लेखनी से किया है। पुनश्च उंनका मूल विषय न्याय था, अतः क्लिष्टता और रूक्षता प्रतिभाषित होना स्वाभाविक ही है। अतएव अकलंक के भाव को आत्मसात् करना श्रमसाध्य तो कहा ही जायेगा, फिर भी अभ्यास करने से अर्थ-गाम्भीर्य को सुपाच्य बनाया जा सकता है।

आ० अनन्तवीर्य का निम्न वाक्य अकलंक के ग्रन्थ-गाम्भीर्य की प्रशंसा हेतु द्रष्टव्य है-

देवस्यानन्तवीर्योऽपि पदं व्यक्तुं तु सर्वतः।
न जानीतेऽकलंकस्य चित्रमेतद्परं भुवि।।[1]

अर्थ- यह बड़े आश्चर्य की बात है कि अनन्तवीर्य (अनन्त बलशाली) भी अकलंकदेव के पदों को पूर्णतया व्यक्त करने में असमर्थ हैं।

तत्त्वार्थवार्त्तिक अपेक्षाकृत सरल भाषा में लिखा गया है और विस्तारपूर्ण शैली के कारण सुगम है। साथ ही सिद्धान्त और दर्शन के विषयों को आचार्य ने रोचक एवं प्रसन्न शैली में व्यक्त करने का प्रयास किया है।

१. सिद्धिविनिश्चय टीका

स्पष्टीकरण- अकलंकदेव अपनी टीकाओं में विषय स्पष्टीकरण के प्रति पग-पग पर उत्सुक दृष्टिगत होते हैं। उनकी टीकायें गुलाब के पुष्प के समान हैं जिसमें से अधिसंख्य अर्थरूप पांखुड़ियाँ ही पांखुड़ियाँ निकलती जाती हैं। कहीं-कहीं पर टीका के दर्शन विस्तृत स्पष्टीकरण के कारण होते हैं। स्वयं उनका ही वार्त्तिक और स्पष्टीकरण हेतु उस पर लिखा गया भाष्य उनकी टीका की विशेषता है। तत्त्वार्थवार्तिक में सम्यग्ज्ञान का स्वरूप सर्वार्थसिद्धि के लाक्षणिक वाक्य को यथावत् समाविष्ट करते हुए वे लिखते हैं-

"नयप्रमाणविकल्पपूर्वकौ जीवाद्यर्थयाथात्म्यावगमः सम्यग्ज्ञानम्। नयौ च प्रमाणे च नयप्रमाणानि, तेषां विकल्पाः नयप्रमाणविकल्पाः। द्वौ नयौ द्रव्यार्थिकश्च पर्यायार्थिकश्च द्वे प्रमाणे प्रत्यक्षं परोक्षं च तेषां विकल्पा नैगमादयो मत्यादयश्च वक्ष्यन्ते। पूर्वशब्दस्तत्कारणवाची। नयप्रमाणविकल्पपूर्वकौ नयप्रमाणविकल्पहेतुक इत्यर्थः। येन-येन प्रकारेण जीवादयः पदार्थाः अवस्थिताः तेन तेनावगमः जीवाद्यर्थयाथात्म्यावगमः सम्यग्ज्ञानम्। मोह-संशय-विपर्यय-निवृत्यर्थं सम्यग्विशेषणम्।"[1]

यहाँ पर आ० पूज्यपाद के सम्यग्ज्ञान के लक्षण को और अधिक स्पष्ट करते हुए नय और प्रमाण के भेदों द्वारा जीवादि पदार्थों को यथावस्थित रुप में जानना सम्यग्ज्ञान निरूपित किया गया है। नयों के भेद द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक तथा प्रमाण के भेद प्रत्यक्ष-परोक्ष तथा प्रभेदों का भी उन्होंने उल्लेख किया है। इससे एक ही स्थल पर रेखांकित सर्वार्थसिद्धि अंश का भाव बड़े कौशल से हृदयंगत कराया है।

न्याय और दार्शनिक विषयों का समावेश- आ० अकलंकदेव मौलिक रूप से दार्शनिक भाष्यकार के रूप में अवतरित हुए हैं। उन्होंनें सांख्य, वैशेषिक, नैयायिक और बौद्धदर्शन की मान्यताओं का निरसन कर जैनदर्शन की स्थापना की है। यह उनके स्वभाव के अनुरूप ही है। उनकी टीकायें दर्शन-समीक्षा के परिवेश में ऐकान्तिक मान्यताओं का निरसन कर सापेक्ष वस्तु-तत्त्व का दर्पणवत् दर्शन कराती हैं। वे न्याय के महापण्डित एवं भुक्तभोगी थे। अतः दार्शनिक पाण्डित्य की झलक तो सहज रूप से उनकी टीकाओं में अवश्यम्भावी है। पुनश्च उनका अभीष्ट प० पू० आ० समन्तभद्र स्वामी के न्याय का पल्लवन तथा परवादियों पर विजय प्राप्त कर जैनदर्शन की ध्वजा फहराना ही था। अष्टशती टीका तो सम्पूर्ण रूप से दार्शनिकता से ओत-प्रोत है ही, तत्त्वार्थवार्तिक में भी प्रथम व पञ्चम अध्याय के अन्तर्गत दार्शनिक विवरण, समीक्षा एवं मंतव्यों को सम्यक् रूपेण प्रकट किया है। उनकी टीकायें जैनदर्शन की संस्थापित

1. तत्त्वार्थ वार्तिक, प्रथम अध्याय, सूत्र 1

वेदी की भांति ही हैं। न्याय के विविध पक्षों-प्रमाण, हेतु आदि से जैनदर्शन की सिद्धि का रूप उनकी टीकाओं में उपलब्ध होता है। निम्नस्थल द्रष्टव्य है-

"नित्यत्वैकान्ते विक्रियाभावात् ज्ञानवैराग्याभावः। क्षणिकैकान्तेऽप्यवस्थानाभावात् ज्ञानवैराग्यभावनाभावः।"[1]

-सांख्य के नित्यत्व एकान्त में विक्रिया का अभाव होने से ज्ञान-वैराग्य का अभाव प्राप्त होता है। बौद्ध के एकान्त क्षणिकवाद में भी अवस्थान की हानि से ज्ञान वैराग्य की भावना का अभाव प्राप्त होता है।

आगमिक एवं सैद्धान्तिक तत्त्वों की चर्चा- आ० अकलंकदेव अगाध आगम-ज्ञान के धनी थे। वे षट्खण्डागम के कर्म सिद्धान्त में पारंगत थे। उनके समय में धवला, जयधवला आदि टीकायें नहीं थीं। उन्होंने मौलिक रूप से परम्परा प्राप्त सिद्धान्त का ज्ञानार्जन किया था। तत्त्वार्थवार्तिक की रचना इसी का प्रमाण है। उसमें कर्म-सिद्धान्त, द्वादशांग, सान्निपातिकभाव, चौदह मार्गणा, गुणस्थान, ऊर्ध्व, मध्य, अधोलोक का स्वरूप आदि का विशद व्याख्यान पाया जाता है। इससे उनकी सूत्र मर्मज्ञता विदित होती है। उदाहरणार्थ प्रस्तुत है, तत्वार्थवार्त्तिक का अंश–

'आह चोदकः जीवस्थाने योगभंगे सप्तविधकाययोगस्वामिप्ररूपणायाम्, "औदारिककाययोगः औदारिकमिश्रकाययोगश्च तिर्यग्मनुष्याणाम्, वैक्रियिककाययोगों वैक्रियिकमिश्रकाययोगश्च देवनाराकाणाम्। (षट् ख़ण्डागम)।[2]

आ० वीरसेन स्वामी ने धवला के अन्तर्गत अकलंकदेव का बहुमान के साथ स्मरण किया है। इससे उनके विशिष्ट सिद्धान्तविद् होने की पुष्टि होती है।

अनेकान्त दृष्टि का समर्थन- आ० अकलंकदेव अपनी टीकाओं के सफल प्रस्तोता के रूप में प्रकट हुए हैं। वे प्रत्येक विषय में अनेकान्त दृष्टि का प्रयोग करते हैं। तत्त्वार्थवार्त्तिक में तो 'अनेकान्तात्' वार्तिक लिखा है। नयों के विविध रूपों एवं सप्तभंगी का वर्णन बड़ा हृदयग्राही है। अनेकान्त की सिद्धि में वे निष्णात सिद्ध होते हैं। निम्न-स्थल देखिए-

प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधविकल्पना सप्तभंगी।

भाष्य- एकस्मिन् वस्तुनि प्रश्नवशाद् दृष्टेनेष्टेन च प्रमाणेनाविरुद्धा विधिप्रतिषेध-विकल्पना सप्तभंगी बिज्ञेया। तद्यथा स्याद्-घटः, स्यादघटः स्याद् घटश्चाघटश्च, स्यादवक्तव्यः स्याद् घटश्चावक्तव्यश्च, स्यादघटश्चावक्तव्यश्च, स्याद्

१. तत्त्वार्थवार्तिक, १/१, वार्तिक ५६-५७

२. तत्त्वार्थवार्तिक, २/४६

घटश्चाऽघटश्चावक्तव्यश्चेति अर्पितानर्पितसिद्धेर्निरूपयितव्या।'[1]

प्रमाणनयार्पणाभेदात्

भाष्य- एकान्तो द्विविधः- सम्यगेकान्तो मिथ्यैकान्त इति। अनेकान्तोऽपि द्विविधः सम्यगनेकान्तो मिथ्यानेकान्त इति। ...तत्र सम्यगेकान्तो नय इत्युच्यते। सम्यगनेकान्तः प्रमाणम्। नयार्पणादेकान्तो भवति एकनिश्चयप्रवणत्वात् प्रमाणार्पणादनेकान्तो भवति अनेकनिश्चयाधिकरणत्वात्।[2]

आ० अकलंकदेव ने प्रायः अनेकान्त शैली का प्रयोग करते हुए विवादों के निराकरणार्थ विशद व्याख्या की है। उनके सभी ग्रन्थों में यह बात दृष्टिगोचर होती है। तत्त्वार्थवार्तिक में भी चतुर्थ व पंचम अध्याय में विस्तृत रूप से अनेकान्त का वर्णन किया है। वे अनेकान्त के महापण्डित थे। उनका चिन्तन मौलिक एवं तलस्पर्शी है।

दृष्टान्तपूर्वक रुचिकर व्याख्या - न्याय जैसे सूक्ष्म विषयों एवं सिद्धान्त के विवेचनों में वे दृष्टान्तों का सर्वत्र प्रयोग करते हुए दृष्टिगत होते हैं। विषय को सरल बनाने हेतु उनका प्रयास सतत् रूप से विद्यमान है। तत्त्वार्थवार्तिक का निम्न उदाहरण समाधान के रूप में प्रस्तुत है-

'परिणामकशक्तिविशेषात्। परिणामकस्य हि वस्तुनः शक्तिविशेषादन्यथाभावो भवति। यथा अलाबूद्रव्यं दुग्धं विपरिणामयितुं शक्नोति तथा मिथ्यादर्शनमपि मत्यादीनामन्यथात्वम् कर्तुमलं तदुदये अन्यथानिरूपणदर्शनात्। वर्चोगृहं तु मण्यादीनां विकारं नोत्पादयितुमलं, विपरिणामक-द्रव्य-सन्निधाने तेषामपि भवत्येवान्यथात्वं, यदा तु सम्यग्दर्शनं प्रादुर्भूतं तदा मिथ्यापरिणामदर्शनाभावात्। तेषां मत्यादीनां सम्यक्त्वम्, अतः सम्यग्दर्शन- मिथ्यादर्शनोदयविशेषात्तेषाम् त्रयाणां द्विधा क्लृप्तिर्भवति मतिज्ञानं मत्यज्ञानं श्रुतज्ञानं श्रुताज्ञानं अवधिज्ञानं विभंगज्ञानमिति।[3]

संक्षेप में यह कहना पर्याप्त होगा कि आचार्य अकलंकदेव ने अपनी टीकाओं के द्वारा दर्शन एवं सिद्धान्त के क्षेत्र को पर्याप्त पल्लवित किया है। यदि उनका साहित्य उपलब्ध न होता तो हम जैनधर्म की प्रभावना में अक्षम ही रहते। अकलंकदेव को सच्चे अर्थ में स्मरण करने का अर्थ होगा उनके साहित्य का सम्यक् प्रचार। प०पू० उपाध्याय ज्ञानसागर जी महाराज की प्रेरणा और आशीर्वाद वस्तुतः इस हेतु सम्बल का काम करेगा। 

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक, १/३१/३

२. तत्त्वार्थवार्तिक १/६/५

३. तत्त्वार्थवार्तिक १/६/७

अकलंकदेव का दर्शनान्तरीय अध्ययन

प्रो० उदयचन्द्र जैन सर्वदर्शनाचार्य*

आज की संगोष्ठी का मुख्य विषय है 'जैनन्याय को आचार्य अकलंकदेव का अवदान' और इसके अन्तर्गत मेरा विषय है- 'अकलंददेव का दर्शनान्तरीय अध्ययन।'

न्याय क्या है? महर्षि गौतम ने न्याय सूत्र में कहा है–

'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः' अर्थात् प्रमाणों के द्वारा अर्थ की परीक्षा करना न्याय कहलाता है। जैनदर्शन की दृष्टि से हम कह सकते हैं- प्रमाणैः नयैश्च अर्थपरीक्षणम् अर्थाधिगमनम् वा न्यायः। तत्त्वार्थसूत्र के 'प्रमाणनयैरधिगमः' इस सूत्र में जैनन्याय के बीज उपलब्ध होते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि जैनन्याय प्रमाण और नय रूप है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि जैनदर्शन ने ही नय को माना है, अन्य किसी दर्शन ने नहीं। अतः नय जैनदर्शन की अपनी देन है।

तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वामी के बाद जैनपरम्परा में ऐसे दो आचार्य हुए हैं, जिन्होंने जैनन्याय की आधारशिला रखी है। इनमें एक हैं स्वामी समन्तभद्र और दूसरे हैं आचार्य सिद्धसेन दिवाकर। समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में न्याय की चर्चा बहुत कम की है क्योंकि उनका मुख्य उद्देश्य तो आप्तमीमांसा में आप्त की मीमांसा के बहाने सदेकान्त, सदेकान्त, नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त आदि विभिन्न एकान्तवादियों के दृष्टिकोणों का स्याद्वादन्याय के द्वारा समन्वय करके अनेकान्त और स्याद्वाद की स्थापना करना था। अतः समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में प्रमाण और नय का लक्षण, प्रमाण के भेद और प्रमाण का फल बतलाकर जैनन्याय की चर्चा का श्रीगणेश किया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जैन वाङ्मय में सबसे पहले समन्तभद्र ने ही न्याय शब्द का प्रयोग किया है और न्याय को स्याद्वादरूप बतलाया है। इसके बाद सिद्धसेन दिवाकर ने न्यायावतार नामक ग्रन्थ की रचना करके जैन वाङ्मय में सर्वप्रथम न्याय के अवतार करने का श्रेय प्राप्त किया है। यहाँ संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि पूर्वोक्त दोनों आचार्यों ने जैनन्याय के क्षेत्र में भव्य भवन के निर्माण के लिए शिलान्यास कर दिया था और इसी शिलान्यास के आधार पर अकलंकदेव ने अपने प्रकाण्ड वैदुष्य के द्वारा जैनन्याय के भव्य प्रासाद का निर्माण किया है।

---

* १२२ बी, रवीन्द्रपुरी, वाराणसी-२२१००५

अकलंकदेव के समय में भारतीय न्यायशास्त्र में बहुत उन्नति हो चुकी थी किन्तु एकान्तवादियों ने न्याय के स्वरूप को अपने दूषित विचारों द्वारा मलिन कर दिया था। इस बात से दुःखित होकर अकलंकदेव ने न्यायविनिश्चय के प्रारंभ में लिखा है-

.... कलिबंलात् प्रायो गुणद्वेषिभिः।
न्यायोऽयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते।
सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमलं तत्रानुकम्पापरैः।।

अर्थात् कलिकाल के बल से गुणद्वेषी एकान्तवादियों ने इस न्याय को मलिन कर दिया है। अतः जिसमें सम्यग्ज्ञान रूप जल भरा हुआ है ऐसे वचनों द्वारा उस मलिन न्याय को धोकर निर्मल करते हैं। अतः अकलंकदेव ने मलिन न्याय को निर्मल किया था, अतः जैनन्याय को अकलंक-न्याय भी कहा जाता है। यहाँ अकलंक शब्द में श्लेष है। इसके दो अर्थ होते हैं- (१) अकलंक द्वारा प्रतिष्ठित न्याय और (२) निष्कलंक न्याय। इतना सब होने पर भी न्यायशास्त्र सर्वसाधारण के लिए एक कठिन विषय के रूप में ही माना जाता है। यही कारण है कि कुछ लोग परिहास में इसकी आधुनिक परिभाषा इस प्रकार करते हैं- न आय इति न्याय अर्थात् जो समझ में नहीं आता है, वह न्याय है।

जैनन्याय के विषय में संक्षिप्त प्रकाश डालने के बाद अब अकलंकदेव के 'दर्शनान्तरीय अध्ययन' पर विचार करना आवश्यक है और इसके लिए यह जानना भी आवश्यक है कि भारतीय दर्शन कितने हैं। मुख्य रूप से भारतीय दर्शन के दो भेद हैं वैदिक-दर्शन और अवैदिक-दर्शन। जो वेद को प्रमाण मानते हैं वे वैदिक-दर्शन छह हैं– न्याय, वैशेषिक, साँख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त। जो वेद को प्रमाण नहीं मानते हैं वे अवैदिक-दर्शन तीन हैं– जैन, बौद्ध और चार्वाक। एक दूसरे प्रकार से भी भारतीय दर्शनों का विभाग किया जा सकता है– अनेकान्तवादी दर्शन और एकान्तवादी दर्शन। इनमें जैनदर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है और शेष दर्शन एकान्तवादी दर्शन हैं।

अकलंकदेव ने इन समस्त दर्शनों का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया था और उनके मन्तव्यों को अच्छी तरह से समझा था। इसके बाद ही उन्होंने उनके सिद्धान्तों के निराकरण के लिए अपनी लेखनी चलाई थी। अतः अकलंकदेव ने अपने ग्रंथों में अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों का जो निराकरण किया है उसी के आधार पर हम अकलंक का दर्शनान्तरीय अध्ययन सिद्ध करेंगे।

अकलंक के ग्रन्थ दो प्रकार के हैं– टीका या भाष्यरूप ग्रन्थ और स्वतंत्र रचनायें। इनमें अष्टशती और तत्त्वार्थवार्तिक भाष्यरूप ग्रन्थ हैं। अष्टशती समन्तभद्र

की आप्तमीमांसा के ऊपर लिखा गया भाष्य है और तत्त्वार्थवार्तिक तत्त्वार्थसूत्र पर लिखा गया है। इन दोनों ग्रन्थों में जैनन्याय की चर्चा अल्प ही है किन्तु इनमें जैन दर्शन की विशदचर्चा की गयी है। अकलंकदेव की चार रचनायें स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में हैं और इनमें जैनन्याय की व्यापक चर्चा की गई है तथा अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों का सप्रमाण निराकरण किया गया है। ये चार ग्रन्थ हैं– लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय और प्रमाणसंग्रह।

अकलंकदेव के दर्शनान्तरीय अध्ययन को जानने के पहले इसकी पृष्ठभूमि को जान लेना आवश्यक है। जब सातवीं या आठवीं शताब्दी में इस पवित्र भारतभूमि पर जैनन्याय के प्रतिष्ठापक अकलंकदेव अवतीर्ण हुए थे, तब बौद्ध-धर्म-दर्शन का मध्याह्नकाल था। उस समय बौद्धदर्शन के प्रमुख आचार्यों– दिङ्नाग, वसुबन्धु, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकरगुप्त, कर्णकगोमि और शान्तरक्षित आदि का प्रभाव चतुर्दिक् फैला हुआ था। बौद्धदर्शन के अध्ययन-अध्यापन के लिए बौद्धमठ और विद्यालय भी पर्याप्त मात्रा में सर्वत्र विद्यमान थे, जिनमें उच्चकोटि के आचार्यों द्वारा बौद्धधर्म-दर्शन के सिद्धान्तों का भलीभाँति अध्ययन कराया जाता था। उस समय नालन्दा और तक्षशिला जैसे विश्वविख्यात विश्वविद्यालय भी थे। यह सब देखकर नवयुवक अकलंक को गुरुमुख से बौद्धदर्शन के अध्ययन करने की इच्छा हुई क्योंकि जैसा ज्ञान गुरु के मुख से श्रवण कर प्राप्त किया जा सकता है वैसा स्वतः अध्ययन से प्राप्त नहीं होता है। संभवतः उस समय एक जैन के रूप में बौद्ध विद्यालय में प्रवेश सम्भव नहीं था। इसी कारण अकलंक ने प्रच्छन्नरूप में काञ्ची में या उसके आस-पास किसी बौद्ध विद्यालय में प्रवेश लिया। वे जन्मजात प्रतिभा सम्पन्न तो थे ही, इसलिए थोड़े ही समय में बौद्धदर्शन के निष्णात विद्वान् बन गये। उनकी कुछ बातों को देखकर उनके गुरु को यह सन्देह हो गया कि यह बालक तो जैन मालूम पड़ता है। जाँच के फलस्वरूप वे पकड़ लिए गये और उनको वहाँ से अपनी जान बचाकर भागना पड़ा किन्तु अपने लक्ष्य को तो उन्होंने प्राप्त कर ही लिया था। बौद्ध विद्यालय में अध्ययन समाप्ति के बाद अकलंक को अपने जीवन में जो सफलता मिली उसका कारण बौद्धधर्म-दर्शन का सर्वांगीण अध्ययन था। इसका मतलब यह नहीं है कि उन्होंने जैनदर्शन का अध्ययन नहीं किया था। वे बाल्यावस्था में ही ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके गृहस्थ जीवन से विरक्त हो गये थे और उन्होंने वीतरागी साधुओं के पास रहकर जैनधर्म-दर्शन का अध्ययन भी अवश्य किया होगा, तभी तो वे जैनदर्शन के भी अतिविशिष्ट विद्वान् हुए। जैनदर्शन, बौद्धदर्शन आदि समस्त भारतीय दर्शनों के निष्णात विद्वान् होकर ही

उन्होंने अपने समय में जैनधर्म-दर्शन की पताका सर्वत्र फहराई और एकान्तवादियों पर, विशेष रूप से बौद्धों पर विजय प्राप्त की।

शास्त्रार्थी अकलंकः

अकलंक का युग विद्वत्समाज में शास्त्रार्थ करने का युग था। अतः उस समय शास्त्रार्थ धर्मप्रचार करने का प्रमुख साधन समझा जाता था। अकलंकदेव की प्रसिद्धि शास्त्रार्थी तथा बौद्धविजेता के रूप में रही है। उस समय के शास्त्रार्थ प्रायः राजसभाओं में हुआ करते थे और राजा तथा प्रजा दोनों उसमें समानरूप से सम्मिलित होकर उससे लाभ उठाते थे। अकलंक ने कई राजसभाओं में जाकर बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ किया था। बौद्धधर्म में तारादेवी का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है और अकलंक की ताराविजेता के रूप में ख्याति रही हैं। बौद्धों की इष्टदेवी तारा परदे की ओट में घट के अन्दर बैठकर शास्त्रार्थ करती थी और उस तारादेवी को अकलंक ने शास्त्रार्थ में पराजित किया था। कलिंग देश के राजा हिमशीतल की सभा में अकलंक के शास्त्रार्थ और तारादेवी की पराजय का उल्लेख श्रवण बेलगोल की मल्लिषेण प्रशस्ति में इस प्रकार किया गया है–

तारा येन विनिर्जिता घटफुटी गूढावतारा समम्,
बौद्धैर्या धृतपीठपीडितकुदृग्देवात्तसेवाञ्जलिः।
प्रायश्चित्तमिवांघ्रिवारिजरजः स्नानं च यस्यचार-
द्दोषाणां सुगतः स कस्य विषयो देवाकलंकः कृतिः।।

पाण्डवपुराण में तारादेवी के घट को पैर से ठुकराने का उल्लेख इस प्रकार किया गया है–

अकलंकोऽकलंकः स कलौ कलयतु श्रुतम्।
पादेन ताडिता येन मायादेवी घटस्थिता।।

इसी प्रकार मान्यखेट के राजा साहसतुंग की राजसभा में भी अकलंक के जाने का उल्लेख मल्लिषेण-प्रशस्ति में है। महाकवि वादिराजसूरि ने पार्श्वनाथचरित में अकलंक को बौद्धविजेता बतलाते हुए लिखा है–

तर्कभूवल्लभो देवः स जयत्यकलंकधीः।
जगद्द्रव्यमुषो येन दण्डिता शाक्यदस्यवः।।

अर्थात् वे तर्कभूवल्लभ अकलंकदेव जयवन्त हों, जिन्होंने जगत् की वस्तुओं के अपहार्ता शून्यवादी बौद्ध दस्युओं को दण्डित किया था।

इसी प्रकार ब्रह्मचारी अजित ने अकलंक को 'बौद्धबुद्धि-वैधव्यदीक्षा-गुरु'

बतलाते हुए हनुमच्चरित में लिखा है--

अकलंकगुरुर्जीयादकलंकपदेश्वरः ।
बौद्धानां बुद्धिवैधव्यदीक्षा-गुरुरुदाहृतः ।।

अर्थात् वे अकलंक जयवन्त हों जिनके द्वारा बौद्धों की बुद्धि विधवा हो गयी थी अथवा उनकी बुद्धि को वैधव्य की दीक्षा दी गयी थी।

इसी प्रकार अकलंकदेव की प्रशंसा में एक शिलालेख में लिखा है–

तस्याकलंकदेवस्य महिमा केन वर्ण्यते।
यद्वाक्यखड्गघातेन हतो बुद्धो विबुद्धि सः ।।

अर्थात् उस अकलंकदेव की महिला का वर्णन कौन कर सकता है, जिनके वचन रूपी खड्ग के प्रहार से आहत होकर बुद्ध बुद्धि रहित हो गया था।

उक्त उल्लेखों से सिद्ध होता है कि अकलंक का बौद्धों के साथ अनेक स्थानों पर शास्त्रार्थ हुआ था और सर्वत्र ही बौद्धों को पराजित होना पड़ा था। इसी कारण अकलंक की प्रसिद्धि बौद्ध-विजेता के रूप में सर्वत्र व्याप्त हो गई थी।

अब अकलंकदेव के दर्शनान्तरीय अध्ययन पर उनके द्वारा रचित ग्रन्थों के आधार से विचार किया जाता है। अकलंक के वाङ्मय का अधिकांश भाग बौद्धदर्शन के सिद्धान्तों के खण्डन से भरा हुआ है। अकलंक ने धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक, न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु, वादन्याय आदि ग्रन्थों का बहुत ही गहराई से अध्ययन किया था और इसका उनके ऊपर कई बातों में अच्छा प्रभाव भी पड़ा था। इस कारण धर्मकीर्ति और अकलंक का दृष्टिकोण कुछ बातों में समान पाया जाता है। जैसे मीमांसकों द्वारा अभिमत वेदापौरुषेयत्व के निराकरण में, नैयायिक-वैशेषिकों के द्वारा अभिमत नित्य, एक और सर्वव्यापक सामान्य के खण्डन में तथा वादी-प्रतिवादी की जय-पराजय के निर्धारण के लिए नैयायिकाभिमत छल, जाति और निग्रहस्थान की आलोचना में धर्मकीर्ति और अकलंक का दृष्टिकोण प्रायः एक सा रहा है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि धर्मकीर्ति ने अकलंक को सब से अधिक प्रभावित किया था।

धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में प्रमाण का लक्षण इस प्रकार लिखा है–

प्रमाणमविसंवादिज्ञानमज्ञातार्थप्रकाशो वा।

अर्थात् वह ज्ञान प्रमाण है जो अविसंवादी और अज्ञात अर्थ को जानने वाला हो।

अकलंक ने भी अष्टशती में इसी प्रकार का प्रमाण का लक्षण लिखा है–

प्रमाणमविसंवादिज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्।

इससे ज्ञात होता है कि धर्मकीर्ति और अकलंक के प्रमाण लक्षण में समानता है।

बौद्धों द्वारा अभिमत प्रत्यक्षलक्षणः

बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग ने प्रमाणसमुच्चय में प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार बतलाया है–

प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुक्तम्।

अर्थात् नाम, जाति आदि की कल्पना से रहित ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। धर्मकीर्ति ने इसमें अभ्रान्तपद और जोड़कर न्यायबिन्दु में लिखा है–

कल्पनापोढ़मभ्रान्तं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।

कल्पना कई प्रकार की होती है- नामयोजना- जैसे राम, मोहन, आदि। जाति-योजना- जैसे मुनष्य, गौ आदि। गुणयोजना- जैसे शुक्ल, कृष्ण आदि। क्रियायोजना- जैसे पाचक, पाठक आदि। द्रव्ययोजना- जैसे दण्डी, विषाणी आदि। ये सब कल्पनायें हैं। बौद्धों के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान में उक्त प्रकार की नाम, जाति, आदि की योजनारूप कल्पना नहीं होती है। प्रत्यक्ष तो सब प्रकार के विकल्पों से रहित होने के कारण निर्विकल्पक ज्ञान के रूप में माना गया है। जिस ज्ञान में कल्पना या विकल्प होता है वह सविकल्पक प्रत्यक्ष कहलाता है। यथार्थ में बौद्धों के अनुसार सविकल्पक ज्ञान प्रत्यक्ष न होकर प्रत्यक्षाभास है। प्रमाणवार्तिक में प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है–

प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिद्धयति।
प्रत्यात्मवेद्यः सर्वेषां विकल्पो नामसंश्रयः।।

अर्थात् प्रत्यक्ष रूप ज्ञान कल्पना रहित होता है और यह बात प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है और नाम आदि के आश्रय से होने वाला विकल्प भी सब के अनुभव में आता है। इस प्रकार बौद्धों के अनुसार कल्पना रहित ज्ञान प्रत्यक्ष है और कल्पना सहित ज्ञान प्रत्यक्षाभास है।

अकलंकदेव ने अपने ग्रन्थों में बौद्धों के द्वारा अभिमत उक्त प्रकार के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का खण्डन करके प्रत्यक्ष ज्ञान को सविकल्पक सिद्ध किया है। न्यायविनिश्चय में लिखा है-

प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षादिनिराकृतम्।

अर्थात् प्रत्यक्ष को कल्पनापोढ़ मानना प्रत्यक्षादि प्रमाणों से निराकृत हो जाता है। न्यायविनिश्चय में और भी लिखा है–

अविकल्पकमभ्रान्तं प्रत्यक्षं न पटीयसाम्।
अविसंवादनियमादक्षगोचर-चेतसाम् ।।

इसी प्रकार लघीयस्त्रय में कल्पनापोढं प्रत्यक्ष का निराकरण करके सविकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष सिद्ध किया है। तथाहि-

स्वयंवेद्यं विकल्पानां विशदार्थावभासिनाम्।
संहृताशेषचिन्तायां सविकल्पावभासनात् ।।

इसी विषय में तत्त्वार्थवार्तिक में लिखा है–

तल्लक्षणानुपपत्तिश्च स्ववचनव्याघातात्।

अर्थात् बौद्धों का उक्त प्रत्यक्ष लक्षण सिद्ध नहीं होता है क्योंकि उन्हीं के वचनों से उसमें व्याघात आता है। प्रत्यक्ष सर्वथा कल्पनापोढ है अथवा कथंचित् इत्यादि विकल्प करके उसमें दूषण दिया गया है। इसी प्रकार न्यायविनिश्चय के प्रथम प्रस्ताव में बौद्धों के इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष के स्वरूप का युक्तिपूर्वक खण्डन किया गया है।

अनात्मवाद :

बौद्धों का अनात्मवाद प्रसिद्ध है। बौद्धों ने नित्य आत्मतत्त्व को नहीं माना है। उनके यहाँ आत्मा-रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान-इन पञ्च स्कन्धरूप है। दूसरे शब्दों में चित्तसन्तति का नाम ही आत्मा है। प्रदीप की सन्तान की तरह चित्त की सन्तान चलती रहती है, इससे परलोक आदि बन जाता है। इस विषय में वसुबन्धु ने अभिधर्मकोश में लिखा है–

स्कन्धपञ्चमात्रं तु कर्मक्लेशाभिसंस्कृतम्।
अन्तराभवसन्तत्या कुक्षिमेति प्रदीपवत्।।

बौद्धों ने नित्य आत्मा को समस्त दोषों की जड़ मानकर आत्मा की सत्ता को ही अस्वीकार कर दिया। इस विषय में धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में लिखा है-

आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ।
अनयोः सम्प्रतिबन्धात् सर्वे दोषाः प्रजायन्ते।।

इस पर अकलंकदेव ने पञ्चस्कन्धरूप अथवा चित्तसन्ततिरूप आत्मा का निरास करके आत्मा की स्वतंत्र सत्ता सिद्ध की है। सिद्धिविनिश्चय के जीवसिद्धि प्रकरण में चित्तसन्तति के सर्वथा क्षणिकत्व का निराकरण करके उसमें अन्वितरूप से रहने वाले चैतन्यरूप स्वतंत्र आत्मतत्त्व को सिद्ध किया गया है। धर्मकीर्ति नें बुद्ध को करुणावान् तथा हेयोपादेय तत्त्व का उपदेष्टा बतलाया है। इस पर अकलंक कहते हैं

कि जब आप आत्मा को ही नहीं मानते हैं तब किस पर करुणा की जायेगी तथा कौन करुणा करेगा ?

तदुत्पत्ति और तदाकारता :

बौद्ध मानते हैं कि ज्ञान अर्थ से उत्पन्न होता है और अर्थ के आकार होता है। बौद्धों के इस मत का अकलंक ने युक्तिपूर्वक खण्डन किया है। उन्होंने बतलाया है कि जिन दो पदार्थों में तदुत्पत्ति सम्बन्ध होता है उनमें अन्वय-व्यतिरेक अवश्य पाया जाता है। जैसे धूम और ह्नति में तदुत्पत्तिसम्बन्ध है तो उनमें अन्वय-व्यतिरेक भी अवश्य है किन्तु इस प्रकार का अन्वय-व्यतिरेक अर्थ और ज्ञान में नहीं पाया जाता है। हम देखते हैं कि अर्थ के अभाव में भी ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, जैसे केशोण्डुक ज्ञान।

बौद्ध कहते हैं कि ज्ञान अर्थाकार होता है। यदि ज्ञान अर्थाकार न हो तो घट ज्ञान का विषय घट ही है, पुस्तक नहीं, ऐसा नियम नहीं बन सकता है। इस विषय में धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में लिखा है-

अर्थेन घटयत्येनां नहि मुक्त्वार्थरूपताम्।
तस्मात् प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता।।

इस अर्थाकारता के निराकरण में अकलंक ने कहा है कि स्वावरणक्षयोपशमरूप योग्यता के द्वारा ही विषय का प्रतिनियम बन जाता है। इसके लिए ज्ञान को अर्थाकार मानने की आवश्यकता नहीं है। हमारा ज्ञान घट को इसलिए जानता है, क्योंकि उसमें घटज्ञानावरणक्षयोपशमरूप योग्यता है।

विज्ञानवाद :

बौद्धदर्शनिकों में एक मत विज्ञानवादियों का है। वे कहते हैं–

विज्ञप्तिमात्रमेवेदमसदर्थावभासनात् ।
यथा तैमिरिकस्यासत्केशचन्द्रादिदर्शनम्।।

इस विश्व में केवल विज्ञप्तिमात्र (विज्ञान मात्र) ही तत्त्व है। हमें जो अर्थ की प्रतीति होती है वह असत् अर्थ की प्रतीति है। जैसे तैमिरिक (तिमिर रोग वाले) पुरुष को असत् केश चन्द्र आदि का दर्शन हो जाता है, उसी प्रकार सर्वत्र असत् अर्थ की ही प्रीति होती है। उन्होंने और भी कहा है–

सर्वे प्रत्ययाः अनालम्बनाः प्रत्ययत्वात्, स्वप्नप्रत्ययवत्।
सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।।

जितने प्रत्यय (ज्ञान) होते हैं वे सब अनालम्बन (विषय रहित) होते हैं, जैसे

कि स्वप्नप्रत्यय। नीलप्रत्यय और नीलपदार्थ में सहोपलम्भनियम होने से उन दोनों में अभेद हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि घटादि पदार्थों की केवल प्रातिभासिकी सत्ता है, पारमार्थिकी नहीं।

विज्ञानवादियों के इस मत का खण्डन करने के लिए अकलंकदेव न्यायविनिश्चय में कहते हैं–

विलुप्ताक्षा यथाबुद्धिर्वितथप्रतिभासिनी।
तथा सर्वत्र किन्नेति जड़ाः सम्प्रतिपेदिरे।।

यदि तिमिर रोग वाले व्यक्ति को असत् केश, चन्द्र आदि का दर्शन होता है और बाह्य पदार्थों की वास्तविक सत्ता नहीं है तो जिन पुरुषों की आँख विकार रहित और निर्मल है, उनको सब पदार्थों में अवितथ प्रतिपत्ति क्यों होती है? असत् केश, चन्द्रादि दर्शन और सत् घटादि बाह्य पदार्थों का दर्शन- इन दोनों में जो भेद हैं उसको बाल गोपाल आदि सामान्य जन भी अच्छी तरह से समझते हैं। यदि स्वप्नप्रत्यय अनालम्बन है तो इसका मतलब यह नहीं है कि जाग्रत प्रत्यय भी अनालम्बन है। अतः बौद्धों के सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः के उत्तर में अकलंक कहते हैं–

सहोपलम्भनियमान्नाभेदो नीलतद्धियोः।

जब नील अर्थ और नील ज्ञान में सहोपलम्भ नियम है तो इससे यही सिद्ध होता है कि उन दोनों में अभेद नहीं है, किन्तु साहचर्यमात्र है। सहोपलम्भ होने से अभेद नहीं, किन्तु भेद ही सिद्ध होता है। पिता और पुत्र साथ-साथ रहते हैं तो इससे उनमें अभेद सिद्ध नहीं हो जाता है। केवल साहचर्य सिद्ध होता है। नील ज्ञान और नील अर्थ में सहोपलम्भ भी नहीं है क्योंकि नील ज्ञान के बिना भी नील अर्थ की सत्ता रहती ही है। इस प्रकार बौद्धों का विज्ञानवाद असंगत है।

हेतुलक्षण त्रैरूप्य और पाञ्चरूप्य :

धर्मकीर्ति ने हेतुबिन्दु में हेतु का लक्षण इस प्रकार किया है–

पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव सः।
अविनाभावनियमात् हेत्वाभासास्ततोऽपरे।।

अर्थात् जिसमें पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व- ये तीन बातें पायी जावें वह हेतु कहलाता है। जैसे पर्वत में अग्नि को सिद्ध करने में धूम हेतु होता है। हेतु के तीन प्रकार हैं– कार्य हेतु,स्वभाव हेतु, और अनुपलब्धि हेतु। इस प्रकार बौद्ध हेतु के पक्षधर्मत्व आदि तीन रूप मानते हैं और इन तीन रूपों के अभाव में असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक-ये तीन हेत्वाभास मानते हैं। नैयायिक हेतु के पाँच रूप

मानते हैं। पूर्व के तीन रूपों में अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व ये दो रूप और मिलाने पर पाँच रुप हो जाते हैं। इन पाँच रूपों के अभाव में हेत्वाभास भी पांच होते हैं– असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, बाधितविषय और सत्प्रतिपक्ष।

अकलंकदेव ने त्रैरूप्य और पाञ्चरूप्य का खण्डन करते हुए कहा है कि हेतु का एक ही रूप या लक्षण है- अन्यथानुपपत्ति अर्थात् साध्य के अभाव में हेतु का नहीं होना। जैसे, धूम अग्नि के अभाव में कभी नहीं होता है। इतने मात्र से धूम हेतु बन जाता है। जहाँ अन्यथानुत्पन्नत्व है वहाँ तीन रूपों के न होने पर भी साध्य की सिद्धि हो जाती है और जहाँ अन्यथानुपान्नत्व नहीं हैं वहाँ तीन रूपों के होने पर भी साध्य की सिद्धि नहीं होती है। इस विषय में अकलंक ने न्यायविनिश्चय के त्रिलक्षण खण्डन प्रकरण में लिखा है–

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।।

ऐसा कहा जाता है कि अकलंक के पूर्वज पात्रकेसरी ने 'त्रिलक्षण कदर्थन' नामक ग्रन्थ लिखा था और उक्त श्लोक को पात्रकेसरी के उक्त ग्रन्थ से ही अकलंक ने लिया है। किन्तु पात्रकेसरी का त्रिलक्षण कदर्थन आज तक उपलब्ध नहीं हुआ है, इसलिए वर्तमान में उक्त श्लोक अकलंक रचित ही माना जाता है। इस प्रकार अकलंक ने बौद्धों के त्रैरूप्य का खण्डन किया है और त्रैरूप्य के ख़ण्डन से नैयायिकों के पाञ्चरूप्य का भी खण्डन हो जाता है। कहा भी है–

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र किं पञ्चभिः।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र किं पञ्चभिः।।

यहाँ एक बात स्मरणीय है कि बौद्धों ने हेतु तीन भेद माने हैं और दृश्यानुपलब्धि को ही अभाव साधक माना है, अदृश्यानुपलब्धि को नहीं। किन्तु अकलंक ने कार्य, स्वभाव और अनुपब्धि के अतिरिक्त कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर-इन चार को भी हेतु माना है तथा यह भी बतलाया है कि दृश्यानुपलब्धि की तरह अदृश्यानुपलब्धि भी अभाव की साधक होती है। किसी स्थान विशेष में घट की अनुपलब्धि दृश्यानुपलब्धि है और पिशाच की अनुपलब्धि अदृश्यानुपलब्धि कही जाती है। बौद्धों ने दृश्यत्व का अर्थ केवल प्रत्यक्ष विषयत्व किया है। इस विषय में अकलंक ने कहा है कि दृश्यत्व का अर्थ केवल प्रत्यक्ष विषयत्व नहीं है, किन्तु उसका अर्थ प्रमाणविषयत्व है, हमारे शरीर में जो चैतन्य है वह प्रमाण का विषय होने से दृश्य है और इसीलिए हम लोग मृत शरीर में स्वभाव से अतीन्द्रिय चैतन्य का अभाव सिद्ध

करते हैं। यदि अदृश्यानुपब्धि संशय हेतु मानी जाय तो मृत शरीर में चैतन्य की निवृत्ति का सन्देह सदा बना रहेगा और ऐसी स्थिति में मृत शरीर का दाह संस्कार करना कठिन हो जायेगा तथा दाह करने वालों को पातकी बनना पड़ेगा।

यहाँ एक बात यह भी द्रष्टव्य है कि अकलंक ने हेतु का एक ही रूप (अन्यथानुपत्ति) माना है तो उसके अभाव में हेत्वाभास भी एक ही होता है। उस हेत्वाभास का नाम है- अकिञ्चित्कर। और असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक आदि भेद अकिञ्चित्कर के ही हैं। इस विषय में न्यायविनिश्चय में लिखा है-

अन्यथानुपपन्नत्वरहिताः ये त्रिलक्षणा।
अकिञ्चित्कारकान् सर्वास्तान् वयं संगिरामहे।।

जय-पराजय व्यवस्था :

जब दो पक्षों में शास्त्रार्थ होता है तो उनमें से एक पक्ष वादी कहलाता है और दूसरा पक्ष प्रतिवादी होता है। जैसे आत्मा है या नहीं? यहाँ एक पक्ष कहता है कि आत्मा है और दूसरा पक्ष कहता है कि आत्मा नहीं है। यहाँ प्रथम पक्ष वादी है और दूसरा पक्ष प्रतिवादी है। न्यायदर्शन ने वाद, जल्प और वितण्डा के भेद से शास्त्रार्थ के तीन प्रकार माने हैं। प्रमाण और तर्क से जहाँ साधन और दूषण को बतलाया गया है ऐसे पक्ष और प्रतिपक्ष का स्वीकार करना वाद है। जल्प और वितण्डा में छल, जाति और निग्रह-स्थानों के द्वारा भी पक्ष की सिद्धि की जाती है और प्रतिपक्ष में दूषण किया जाता है। इतना विशेष है कि वितण्डा में प्रतिपक्ष नहीं होता है, केवल पक्ष ही होता है। शास्त्रार्थ में एक पक्ष की जय होती है और दूसरे पक्ष की पराजय होती है। यहाँ इस बात पर विचार करना है कि वास्तविक जय और पराजय की व्यवस्था कैसे होती है। न्यायदर्शन में जल्प और वितण्डा में छल, जाति और निग्रह-स्थान जैसे असत् उपायों का अवलम्बन लेना भी न्यारय माना गया है क्योंकि जल्प और वितण्डा का उद्देश्य तत्त्व संरक्षण करना है और तत्त्व संरक्षण किसी भी उपाय से करने में उन्होंने कोई दोष नहीं माना है। अर्थ में विकल्प करके वक्ता के वचनों का व्याघात करना छल है। छल तीन प्रकार का है- वाक् छल, सामान्य छल और उपचार छल। असत् या मिथ्या उत्तर को जाति कहते हैं। जाति के साधर्म्यसमा, वैधर्म्यसमा आदि २४ भेद हैं। पराजय प्राप्ति का नाम निग्रह-स्थान है। इसके प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञासंन्यास आदि २२ भेद हैं। यह सब व्यवस्था न्यायदर्शन के अनुसार बतलाई गई है।

धर्मकीर्ति ने वादन्याय नामक प्रकरण ग्रन्थ में छल, जाति और निग्रह-स्थान के आधार से होने वाली न्यायदर्शन की जय-पराजय व्यवस्था का खण्डन करते हुए वादी

के लिए असाधनांगवचन और प्रतिवादी के लिए अदोषोद्भावन ये दो ही निग्रह-स्थान माने हैं। उन्होंने कहा है-

असाधनांगवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः।
निग्रहस्थानमन्यत्तु न युसक्तमिति नेष्यते।।

असाधनांगवचन का अर्थ है- जो साधन का अंग है उसे नहीं बोलना अथवा जो साधन की अंग नहीं है उसे बोलना। ऐसा करने से वादी की पराजय होती है। अदोषोद्भावन का अर्थ है- जो दोष नहीं हैं उनको बतलाना अथवा जो दोष हैं, उनको नहीं बतलाना। ऐसा करने से प्रतिवादी की पराजय होती है। अतः वादी का कर्त्तव्य है कि वह पूर्ण और निर्दोष साधन बोले और प्रतिवादी का कर्त्तव्य है कि वह वादी के कथन में यथार्थ दोषों का उद्भावन करे। बौद्धों के अनुसार जय-पराजय की व्यवस्था उक्त प्रकार से होती है।

अकलंकदेव ने न्यायदर्शन और बौद्धदर्शन की जय-पराजय व्यवस्था का खण्डन करते हुए नैतिकता की दृष्टि से शास्त्रार्थ में छल, जाति और निग्रह-स्थान के प्रयोग को सर्वथा अन्याय माना है। वे असाधनांगवचन और अदोषोद्भावन के चक्कर में भी नहीं पड़े। उन्होंने तो स्पष्टरूप से इतना ही कहा कि वादी को अविनाभावी साधन से स्वपक्ष की सिद्धि और परपक्ष का निराकरण करना चाहिए। इसी प्रकार प्रतिवादी को वादी के पक्ष में यथार्थ दूषण बतलाकर अपने पक्ष की सिद्धि करनी चाहिए। इससे अधिक और किसी बात की आवश्यकता नहीं है। इसीलिए उन्होंने अष्टशती में कहा है-

स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः।
ना साधनांगवचनं ना दोषोद्भावनं द्वयोः।।

अर्थात् एक की स्वपक्ष सिद्धि होने से ही अन्य वादी का निग्रह हो जाता है। इसलिए असाधनांगवचन और अदोषोद्भावन बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

धर्मकीर्ति द्वारा वादन्याय में प्रतिपादित निग्रह-स्थान के उत्तर में अकलंक ने न्याय विनिश्चय में कहा है-

असाधनांगवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः।
न युक्तं निग्रहस्थानमर्थापरिसमाप्तितः।।

इसके अतिरिक्त सिद्धिविनिश्चय के जल्पसिद्धि प्रकरण में उक्त बातों पर अच्छी तरह से विचार किया गया है। इस प्रकार अकलंकदेव ने जय-पराजय व्यवस्था के लिए निर्दोष प्रणाली का प्रतिपादन किया है।

वेदापौरुषेयत्व विचार :

मीमांसकों का मत है कि वेदों का कोई कर्त्ता नहीं है। वेद तो अनादिकाल से इसी रूप में चले आये हैं। उन्होंने यह भी बतलाया है कि धर्म में वेद ही प्रमाण हैं, पुरुष नहीं। सूक्ष्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान भी वेद से ही होता है। इस विषय में कुमारिल ने मीमांसाश्लोकवार्तिक में कहा है-

वेदस्याध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा।।

वेदों का अध्ययन अनादिकाल से वेदाध्ययनपूर्वक ही चला आया है। ऐसा कोई पुरुष नहीं है जिसने वेदों को बनाया हो और इसका अध्ययन कराया हो। वेदों के कर्त्ता का स्मरण भी नहीं होता है। यदि वेदों का कोई कर्त्ता होता तो उसका स्मरण अवश्य होता। रागादि दोषों से दूषित होने के कारण पुरुष वेद का कर्त्ता हो भी नहीं सकता है। वेद तो अतीन्द्रियार्थदर्शी हैं और पुरुष कभी भी अतीन्द्रियार्थदर्शी हो नहीं सकता- इत्यादि प्रकार से मीमांसकों ने वेदों को अपौरुषेय सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

इस विषय में अकलंकदेव कहते हैं कि यदि वेद अपौरुषेय हैं और अतीन्द्रियदर्शी कोई पुरुष नहीं है तब जैमिनी आदि को भी वेदार्थ का पूर्ण ज्ञान कैसे होगा। क्योंकि वेदवाक्यों का यह अर्थ है और यह अर्थ नहीं है, ऐसा शब्द तो कहते नहीं है। अतः वेदों के अर्थ का ज्ञान होना कैसे संभव है। किसी के कर्त्ता का स्मरण न होने से भी कोई अपौरुषेय सिद्ध नहीं हो जाता है। ऐसे बहुत से जीर्ण खण्डहर (भग्नावशेष) आदि पदार्थ हैं जिनके कर्त्ता का स्मरण किसी को नहीं है तो क्या इससे वे अपौरुषेय हो जायेंगे। लोक में ऐसे अनेक म्लेच्छादिव्यवहार पाये जाते हैं जिनके विषय में यह ज्ञात नहीं है कि उन्हें किसने प्रचलित किया। तो क्या वे सब इतने मात्र से अपौरुषेय कहलाने लगेंगे। वास्तव में यदि कोई भी पुरुष वेदार्थ का द्रष्टा या ज्ञाता नहीं है तब तो वेद के अध्ययन या ज्ञान में अन्धपरम्परा का ही अवलम्बन लेना पड़ेगा। यदि अपौरुषेय वेद स्वतः ही अपने अर्थ का प्रस्तुतीकरण करता है तब तो वेद के अंगभूत आयुर्वेद आदि के ज्ञान के लिए मनुष्यों का पठन-पाठनरूप प्रयत्न भी व्यर्थ हो जायेगा। इत्यादि प्रकार से न्यायविनिश्चय के तीसरे प्रस्ताव में वेदों के अपौरुषेयत्व का निराकरण किया गया है। तथाहि-

वेदस्यापौरुषेयस्य स्वतस्तत्त्वं विवृण्वतः।
आयुर्वेदादियद्यंग यत्नस्तत्र निरर्थकः।।

शास्त्रज्ञानं तथैव स्यात् सामग्रीगुणदोषतः।
अविरोधेऽपि नित्यस्य भवेदन्धपरम्परा।।
तदर्थदर्शिनोऽभावान्म्लेच्छादि व्यवहारवत्।

सृष्टिकर्तृत्व विचार :

इस जगत् में कोई सृष्टिकर्त्ता है या नहीं? नैयायिक-वैशेषिक कहते हैं कि ईश्वर इस जगत् का सृष्टिकर्त्ता है। वे अनुमान प्रमाण से ईश्वर में सृष्टिकर्तृत्व सिद्ध करते हैं। वह अनुमान इस प्रकार है- तनुकरणभुवनादयः बुद्धिमन्निमित्तकाः कार्यत्वात्, घटवत्। शरीर, इन्द्रिय, पृथिवी, पर्वत आदि का कर्त्ता कोई बुद्धिमान् अवश्य है क्योंकि ये सब कार्य हैं। जो कार्य होता है उसका कर्त्ता कोई अवश्य होता है, जैसे घट का कर्त्ता कुम्भकार है। ईश्वर में सृष्टिकर्तृत्व सिद्ध करने के लिए अचेतनोपादानत्व, सन्निवेशविशिष्टत्व आदि और भी हेतु दिये जाते हैं।

अकलंकदेव ने सृष्टिकर्तृत्व का युक्तिपूर्वक निराकरण किया है। उन्होंने अष्टशती में कार्यत्व आदि हेतुओं में असिद्ध, विरुद्ध आदि अनेक दोष बतलाकर ईश्वर-साधक अनुमान का बाधक एक दूसरा अनुमान प्रस्तुत किया है, जो इस प्रकार है- अकृत्रिमं जगत् दृष्टकर्तृकविलक्षणत्वात्। इस जगत् का कोई कर्त्ता नहीं है, क्योंकि जिनका कर्त्ता देखा गया है उनसे यह जगत् विलक्षण है। संसार में दो प्रकार की वस्तुएँ देखी जाती हैं- दृष्टकर्तृक और अदृष्टकर्तृक। घटपटादि पदार्थ दृष्टकर्तृक हैं और शरीर, पृथिवी आदि पदार्थ अदृष्टकर्तृक हैं। इन दोनों प्रकार के पदार्थों में विलक्षणता पाई जाती है। अतः दृष्टकर्तृक घटादि से विलक्षण होने के कारण शरीर आदि का कोई कर्त्ता नहीं है, ऐसा सिद्ध होता है। इस प्रकार 'अकृत्रिमं जगत्' इत्यादि अनुमान से बाधित होने के कारण नैयायिकों का पूर्वोक्त अनुमान बाधित हो जाने से यह सिद्ध होता है कि इस जगत् का कोई कर्त्ता नहीं है और यह अनादि से ऐसा ही चला आया है।

सर्वज्ञमीमांसा :

मीमांसकों ने सर्वज्ञ को नहीं माना है। यद्यपि कुमारिल ने पहले इतना ही कहा कि कोई पुरुष धर्मज्ञ नहीं हो सकता है, यदि वह संसार के समस्त पदार्थों को जानता है तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है। तथाहि-

धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते।
सर्वमन्यद् विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते।।

लेकिन इतना कहने के बाद भी मीमांसकों ने सर्वज्ञत्व के निषेध में अपनी पूरी शक्ति लगा दी। उन्होंने कहा कि कोई पुरुष सर्वज्ञ नहीं हो सकता है, क्योंकि वह पुरुष

है, रागादिदोषों से दूषित है, वक्ता है, जैसे रथ्यापुरुष। पुरुषत्वात्, रागादिदोष-दूषितत्वात्, वक्तृत्वात् इत्यादि हेतुओं के कहने के बाद कुमारिल और भी कहते हैं-

प्रत्यक्षाद्यविसंवादि प्रमेयत्वादि यस्य च।
सद्भाववारणे शक्तं को नु तं कल्पयिष्यति।।

अर्थात् जब प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अबाधित प्रमेयत्वादि हेतु ही सर्वज्ञ के सद्भाव को रोकने में समर्थ हैं तब कौन उसे सिद्ध करने की कल्पना करेगा?

इसके उत्तर में अकलंकदेव अष्टशती में कहते हैं "तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र हेतु लक्षणं पुष्णाति तं कथं चेतनः प्रतिषेद्धुमर्तति संशयितुं वा।" जब प्रमेयत्व, सत्त्व आदि हेतु अनुमेयत्व का समर्थन करते हैं तब कौन चेतन इस सर्वज्ञ का प्रतिषेध या उसके सद्भाव में संशय कर सकता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि स्वामी समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में अनुमेयत्व हेतु के द्वारा सर्वज्ञ की सिद्धि की है, उसी अनुमेयत्व की चर्चा अकलंक ने अष्टशती में की है।

सर्वज्ञ का प्रतिषेध करते के लिए कुमारिल कहते हैं-

दशहस्तान्तरं व्योम्नि यो नामोत्प्लुत्य गच्छति।
न योजनशतं गन्तुं शक्तोऽभ्यासशतैरपि।।

जो व्यक्ति आकाश में दस हाथ ऊपर उछल सकता है वह सैकड़ों अभ्यास के द्वारा भी सौ योजन ऊपर नहीं उछल सकता है अर्थात् कोई पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके सर्वज्ञ नहीं बन सकता है।

इसके उत्तर में अकलंकदेव कुमारिल का उपहास करते हुए न्यायविनिश्चय में कहते हैं-

दशहस्तान्तरं व्योम्नो नोत्प्लवेरन् भवादृशः।
योजनानां सहस्रं किं वो वोत्प्लवेदधुना नरैः।।

अर्थात् शरीर के भार के कारण जब आप दस हाथ भी ऊँचा नहीं कूद सकते तब दूसरों से हजार योजन ऊँचा कूदने की आशा करना व्यर्थ है।

अकलंक ने यह भी बतलाया है कि मीमांसकों ने सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करने के लिए जो वक्तृत्व आदि हेतु दिये हैं वे हेतु नहीं, किन्तु हेत्वाभास हैं। उनमें अनैकान्तिक आदि कई दोष आते हैं। तथाहि-

सर्वज्ञप्रतिषेधे तु संदिग्धाः वचनादयः।

इस प्रकार अकलंकदेव ने सिद्धिविनिश्चय के सर्वज्ञ-सिद्धि प्रकरण में मीमांसक-मत का निराकरण करके त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों के ज्ञाता

सर्वज्ञ को सिद्ध किया है।

चार्वाकदर्शन-भूतचैतन्यवाद :

वर्तमान में सर्वत्र जो भौतिकवाद दृष्टिगोचर हो रहा है वही पुराना चार्वाक दर्शन है। चार्वाक दर्शन का लक्ष्य है-

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।

खाओ, पियो और मस्त रहो। eat, drink and be merry. चार्वाक का कहना है कि शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं है। पृथिवी, जल, अग्नि और वायु- इन चार भूतों के एक साथ मिलने से चैतन्य-शक्ति की उत्पत्ति होती है। जैसे महुआ आदि पदार्थों के सम्मिश्रण से मदिरा की उत्पत्ति होती है। चार्वाक मत में आत्मा के अभाव में न परलोक है, न पुण्य-पाप है और न कोई मोक्ष है। उनके यहाँ तो मृत्यु का नाम ही मोक्ष है।

चार्वाक मत का निराकरण करते हुए अकलंकदेव कहते हैं कि चार्वाक का उक्त कथन अविचारित रमणीय है। भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। दोनों विजातीय होने से उनमें उपादान-उपादेयभाव नहीं बन सकता है। जिस प्रकार बालु से तेल की उत्पत्ति सम्भव नहीं है उसी प्रकार भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। अकलंकदेव ने न्यायविनिश्चय में बतलाया है कि चैतन्य पुरुष का ही स्वभाव है, पृथिवी आदि भूतों का नहीं। वहाँ पूर्वोत्तर पक्ष इस प्रकार है-

भूतानामेव केषाञ्चित् परिणामविशेषतः कायश्चित्तकारणम्। जीवच्छरीरधर्मोऽस्तु चैतन्यं व्यपदेशतः।। अन्तः ज्योति स्वतःसिद्धं चैतन्यं भूतेम्यः परम्।।

इस प्रकार अकलंक ने चार्वाक के भूतचैतन्यवाद का निराकरण किया है।

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य और द्वादशारनयचक्र :

श्वेताम्बर-परम्परा में तत्त्वार्थसूत्र पर एक विस्तृत भाष्य ग्रन्थ पाया जाता है, जिसका नाम तत्त्वार्थाधिगम भाष्य है उक्त भाष्य ग्रन्थ का अकलंकदेव ने अध्ययन किया था। इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने तत्त्वार्थवार्तिक में कई स्थलों पर भाष्यकार के मन्तव्यों की आलोचना की है। इसी प्रकार श्वेताम्बर आचार्य मल्लवादी ने नयों के विशद विवेचन के लिए 'द्वादशारनयचक्र' नामक ग्रन्थ लिखा था और अकलंक ने उस ग्रन्थ का भी अध्ययन किया था तथा वे उससे प्रभावित भी हुए थे। इसीलिए अकलंक ने नयों का विशेष विवरण जानने के लिए 'द्वादशारनयचक्र' देखने को कहा है- तथाहि-

इष्टं तत्त्वमपेक्षातो नयानां नयचक्रतः।

आलोचन कौशल्य :

अन्य दार्शनिकों की आलोचना करते समय धर्मकीर्ति आदि बौद्ध दार्शनिकों ने विपक्षियों के लिए अपने ग्रन्थों में जड़, जड़मति, पशु, अह्नीक (निर्लज्ज) आदि अपशब्दों का प्रयोग किया है। जैनों के लिए तो अह्नीक शब्द का प्रयोग विशेष रूप से हुआ है क्योंकि उनके साधु नग्न होते हैं, किन्तु निर्मलमना अकलंकदेव द्वारा की गयी विपक्षियों की आलोचना में उस कटुता के दर्शन नहीं होते। उन्होंने प्रायः प्रतिपक्षी का उत्तर उसी के शब्दों में दिया है और कहीं प्रतिपक्षी की भूल को पकड़कर उसका उपहास करते हुए उत्तर दिया है।

धर्मकीर्ति जैनदर्शन के अनेकान्तवाद का खण्डन करते हुए लिखते हैं-

सर्वस्याभमयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति।।

अर्थात् यदि प्रत्येक वस्तु उभयात्मक है और उसमें कोई विशेषता नहीं है तो दधि को खाने के लिए कहा गया मनुष्य ऊँट को खाने के लिए क्यों नहीं दौड़ता?

धर्मकीर्ति के इस कथन पर न्यायविनिश्चय में अकलंक का उत्तर देखिए-

पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोऽपि विदूषकः।
सुगतोऽपि मृगो जातः मृगोऽपिसुगतः स्मृतः।
तथापि सुगतो वन्द्योमृगो खाद्यो यथेष्यते।।
तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति।।

अर्थात् पूर्वपक्ष (जैनदर्शन) को ठीक न समझने के कारण दूषण देने वाला धर्मकीर्ति विदूषक (हँसी का पात्र) ही है क्योंकि पूर्व पर्याय में सुगत (बुद्ध) मृग हुए थे और वह मृग भी सुगत हुआ। फिर भी बौद्ध पर्याय-भेद से सुगत की वन्दना करते हैं और मृग को खाद्य मानते हैं। ठीक उसी प्रकार पर्याय-भेद से दही और ऊँट के शरीर में भेद है। अतः दही को खाने के लिए कहा गया मनुष्य दही को ही खाता है, ऊँट को नहीं। यहाँ दूषकोऽपि विदूषकः यह कथन ध्यान देने योग्य है।

धर्मकीर्ति पुनः स्याद्वाद के सिद्धान्त पर आक्षेप करते हुए कहते हैं-

एतेनैव यत्किञ्चिदयुक्तमश्लील माकुलम्।
प्रलपन्ति प्रतिक्षिप्तं तदप्येकान्तसम्भवात्।।

अर्थात् साँख्यमत के खण्डन से ही जैनदर्शन का जो किंचित् (स्यात्) शब्द का

प्रलाप है वह खंडित हो जाता है क्योंकि उसमें भी एकान्तवाद की संभावना होने से स्यात् शब्द का प्रयोग अयुक्त, अश्लील और आकुल रूप है।

धर्मकीर्ति के इस कथन पर अकलंक ने न्यायविनिश्चय में जो उत्तर दिया है उसे देखिए-

ज्ञात्वा विज्ञिप्तिमात्रं परमपि च बहिर्भासिभावप्रवादम्।
चक्रेलोकानुरोधात् पुनरपि सकलं नेति तत्त्वं प्रपेदे।।
न ज्ञाता तस्य तस्मिन् न च फलमपरं ज्ञायते नापि किञ्चित्।
इत्यश्लीलं प्रमत्तः प्रलपति जड़धीराकुलः व्याकुलाप्तः।।

अर्थात् बौद्धों में कोई विज्ञप्तिमात्र तत्त्व को मानते है और कोई बाह्य पदार्थ भी मानते हैं। किन्तु शून्यवादी कहते हैं कि न बाह्य तत्त्व हैं और न आभ्यन्तर तत्त्व हैं तथा न उनको जानने वाला कोई है और न उसका कोई फल है। इस प्रकार अश्लील (परस्पर विरुद्ध) कथन तो वही कर सकता है जो उन्मत्त, जड़बुद्धि और व्याकुल है। यहाँ पूर्वोक्त श्लोक की अन्तिम पंक्ति ध्यान देने योग्य है, जिसमें धर्मकीर्ति के आक्षेप का उत्तर उन्हीं के शब्दों में दिया गया है।

धर्मकीर्ति ने पुनः अनेकान्तवाद का उपहास करते हुए कहा है कि अनेकान्तवादियों का एक को अनेक और अनेक को एक कहना बड़ी ही विचित्र बात है। अकलंक देव ने इस कथन का प्रत्युपहास करते हुए न्यायविनिश्च में लिखा है-

चित्रं तदेकमिति चेदिदं चित्रतरं ततः।
चित्रं शून्यमिदं सर्वं वेत्ति चित्रतमं ततः।।

अर्थात् एक को अनेक और अनेक को एक कहना धर्मकीर्ति को एक विचित्र सिद्धान्त प्रतीत होता है किन्तु दृश्यमान् इस जगत् को शून्य कहना तो उससे भी बढ़कर एक विचित्र सिद्धान्त है। और इस विचित्र सिद्धान्त को आप सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं।

बौद्धमतानुयायी विज्ञानाद्वैतवादी कहते हैं कि हमारा अद्वैत तत्त्व न तो किसी से उत्पन्न होता है और न कुछ करता ही है। इस कथन पर अकलंक का उत्तर देखिए-

न जातो न भवत्येव न च किंचित् करोति सत्।
तीक्ष्णं शौद्धोदनेः शृङ्गमिति किन्न प्रकल्प्यते।।

अर्थात् यदि आपका संवेदनाद्वैत न तो उत्पन्न होता है और न कुछ कार्य ही करता है फिर भी वह है तो बुद्ध के मस्तक पर एक ऐसा तीक्ष्ण सींग भी क्यों नहीं मान लेते जो न उत्पन्न होता है और न कुछ कार्य करता हैं। यहाँ कितना युक्तिपूर्ण

परिहास किया गया है।

इस प्रकार शालीनतापूर्वक उत्तर देने की प्रक्रिया से अकलंकदेव के आलोचना-कौशल्य का सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

अकलंक देव के ग्रन्थों में उद्‌धृत वाक्य :

अब मैं अकलंक के दर्शनान्तरीय अध्ययन को संक्षेप में बतलाने के लिए अन्य दर्शनों के ग्रन्थों से उन वाक्यों के उद्धरण प्रस्तुत करूँगा, जिन वाक्यों को अकलंक ने अपने ग्रन्थों में उद्‌धृत किया है।

अष्टशती- कारिका ५३ की वृत्ति में-

न तस्य किञ्चित् भवति न भवत्येव केवलम्।

यह पद धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक से उद्‌धृत किया है।

कारिका ७६ की वृत्ति में-

युक्त्या यन्न घटामुपैति तदहं दृष्ट्वापि न श्रद्दधे।

यह श्लोकांश किसी अन्य ग्रन्थ से उद्‌धृत किया है।

कारिका ८० की वृत्ति में-

सहोपलंभनियमादभेदो नीलतद्धियोः।

यह पद धर्मकीर्ति के प्रमाणविनिश्चय से उद्‌धृत है।

कारिका ८६ की वृत्ति में-

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः।
सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता।

यद्यपि यह श्लोक तथा चोक्तं लिखकर उद्‌धृत किया गया है, किन्तु अब यह सुनिश्चित हो गया है कि उक्त श्लोक इतिहास प्रसिद्ध चाणक्य की पुस्तक 'नीतिदर्पण' से उद्‌धृत हुआ है।

कारिका १०६ की वृत्ति में तथा चोक्तं लिखकर निम्नलिखित श्लोक उद्‌धृत किया है-

अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः।
नयो धर्मान्तिरापेक्षी दुर्णयस्तन्निराकृतिः।।

न्यायविनिश्चय आठवीं कारिका की विवृकि में- "अर्थक्रियासमर्थं परमार्थसत्।" ऐसा उल्लेख धर्मक़ीर्ति के प्रमाणवार्तिक से किया है।

२३वीं कारिका की विवृति में-

"सर्वतः संहृत्य चिन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना।

स्थितोऽपि चक्षुषा रूपम्।।"

यह वाक्य प्रमाणवार्तिक से उद्धृत है।

५४वीं कारिका की विवृति में-

"तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभादि।"

यह पद धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु से उद्धृत है।

तत्त्वार्थवार्तिक- अध्याय १ सूत्र १ की व्याख्या में-

धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः।।

यह श्लोक साँख्यकारिका से उद्धृत हुआ है।

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावान्निश्रेयसाधिगमः।।१/१/२।।

यह सूत्र महर्षि गौतम के न्यायसूत्र से उद्धृत है।

"अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः"

यह वाक्य बौद्धों के शालिस्तम्बसूत्र से उद्धृत है। इस वाक्य में बौद्धों के द्वादशांग प्रतीत्यसमुत्पाद का विवेचन किया गया है। प्रतीत्यसमुत्पाद को भवचक्र भी कहते हैं।

रूपवेदनासंज्ञासंस्कारविज्ञानपञ्चस्कन्धनिरोधादभावो मोक्षः।

इस वाक्य में बौद्धों के पञ्चस्कन्धों का नाम आया है।

बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारनवात्मगुणात्यन्तोच्छेदो मोक्षः।

इस वाक्य में वैशेषिकों के मतानुसार आत्मा के ६ विशेष गुणों का उल्लेख है।

तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय १ सूत्र ४ की व्याख्या में-

बुद्धिपूर्वां क्रियां दृष्ट्वा स्वदेहेऽन्यत्र तद् गृहात्।
मन्यते बुद्धिसद्भावः सा न येषु न तेषु धीः।।

यह श्लोक धर्मकीर्ति के ग्रन्थ 'सन्तानान्तर सिद्धि' से उद्धृत है।

अध्याय १ सूत्र ५ की व्याख्या में-

कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे संप्रत्ययो भवति। १-१-५२

गौणमुख्ययोः मुख्ये संप्रत्ययः। ८/३/८२

अनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वा।- १/२/४७

ये सूत्र प्रसिद्ध वैयाकरण पतञ्जलि के पातञ्जल महाभाष्य से उद्धृत हैं। पातञ्जल महाभाष्य के अनेक सूत्रों के अतिरिक्त अकलंक ने तत्त्वार्थवार्तिक में अनेक

स्थलों पर पातञ्जल महाभाष्य से अनेक उदारहण और पंक्तियाँ भी उद्धृत की हैं।

यथा- न चान्यार्थं प्रकृतमन्यार्थं भवतीति। अन्यार्थमपि प्रकृतमन्यार्थं भवति। तद् यथा-शाल्यर्थं कुल्याः प्रणीयन्ते, ताभ्यश्च पानीयं पीयते उपस्पृश्यते च, शालयश्च भाव्यन्ते।

तद् यथा-कतरद् देवदत्तस्य गृहम् ? अदो यत्रासौ काकः, इति उत्पतिते काके नष्टं तद् गृहं भवति।

अध्याय १ सूत्र ६ की व्याख्या में-

वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्या छलम्। १।२।१०

यह सूत्र न्यायसूत्र के उद्धृत है। अध्याय १, सूत्र ८ की व्याख्या में-द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते। १।१।१०

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात्यन्निष्पद्यते तदन्यत्। ३।१।१८

क्रियावत् गुणवत् समवायिकारणमितिद्रव्यस्य लक्षणम्। १।१।१५ ये सूत्र महर्षि कणाद के वैशैषिकसूत्र से उद्धृत हैं अध्याय १, सूत्र १२ की व्याख्या में-

प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुक्तम्।
असाधारणहेतुत्वादक्षैस्तद् व्यपदिश्यते।।

यह श्लोक बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय से उद्धृत है।

सवितर्कविचाराः हि पञ्चविज्ञानधातवः।
निरूपणानुस्मरणविकल्पेनाविकल्पकाः ।।

यह श्लोक वसुबन्धु के अभिधर्मकोश से उद्धृत है।

"षण्णामनन्तरातीतं विज्ञानं यद्धि तन्मनः।"

यह वाक्य भी अभिधर्मकोश से उद्धृत है।

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेशमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।- १/१/४

यह सूत्र गौतम के न्यायसूत्र से उद्धृत है।

सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्।- १/१/४

यह सूत्र महर्षि जैमिनि के मीमांसासूत्र से उद्धृत है।

"निर्वाणं द्विविधं सोपधिविशेषं निरुपधिविशेषं च। तत्र सोपधिविशेषे निर्वाणे बोद्धाऽस्ति।"

यह वाक्य किसी बौद्ध ग्रन्थ से उद्धृत है।

शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते।
अनागमविकल्पा हि स्वयं विद्या प्रवर्तते।

यह श्लोक प्रसिद्ध वैयाकरण भर्तृहरि के वाक्यपदीय ग्रन्थ 'से उद्धृत है।

अध्याय १, सूत्र २० की व्याख्या में-

प्रत्यक्षपूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्टं च। १/१/५

यह सूत्र न्यायसूत्र से उद्धृत है।

संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम्। ५/१/६

यह सूत्र वैशेषिकसूत्र से उद्धृत है।

अध्याय १, सूत्र २२ की व्याख्या में-

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु पराबुद्धि बुद्धेः परतरो हि सः।। ३/४२

यह श्लोक भगवद्गीता से उद्धृत है।

अध्याय २, सूत्र २० की व्याख्या में-

रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी। रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाश्च। तेजो रूपस्पर्शवत्। वायुः स्पर्शवान्।- २/१/४

यह सूत्र वैशेषिकसूत्र से उद्धृत है।

इसके अतिरिक्त पूज्यपाद के जैनेन्द्रव्याकरण से भी अनेक सूत्र उद्धृत किये गये हैं।

उपर्युक्त के अतिरिक्त आचार्य अकलंकदेव ने अपने ग्रन्थों में अन्य दर्शनों के और भी अनेक विषयों की चर्चा की है जिनका इस निबन्ध में उल्लेख नहीं किया जा सका है। फिर भी कुछ के नाम इस प्रकार हैं-

बौद्ध विषय :

स्वलक्षण और सामान्यलक्षण, स्वलक्षण में अनभिलाप्यत्व और अनिर्देश्यत्व, परमार्थसत् और संवृतिसत्, शून्यवाद, निरन्वयक्षणिकवाद, क्षणिक में ही अर्थक्रियाकारित्व, शब्द और अर्थ में सम्बन्धाभाव, शब्दों में वक्त्रभिप्रायसूचकत्व और अन्यापोहवाचकत्व शब्द के द्वारा अर्थ में संकेत की अशक्यता, अतीतकारणवाद और भाविकारणवाद अर्थात् काल के व्यवधान में भी कार्यकारणभाव की मान्यता, धर्मकीर्तिसम्मत बुद्ध की धर्मज्ञता, चार आर्यसत्य, प्रदीपनिर्वाणवत् निर्वाण का अभ्युपगम आदि।

अन्य विषय :

वैयाकरणों के द्वारा अभिमत स्फोटवाद और शब्दाद्वैतवाद, वैशेषिकाभिमत नित्य, एक और व्यापक सामान्यवाद, मीमांसकों का परोक्षज्ञानवाद, नैयायिकों का ज्ञानान्तरज्ञानवेद्यवाद, सांख्यों का अचेतनज्ञानवाद, नैयायिक आदि के द्वारा अभिमत

प्रमाण का लक्षण और भेद, वैशेषिक आदि के द्वारा अभिमत मोक्ष का लक्षण, नैयायिकों की उपमान प्रमाण की मान्यता, मीमांसकों की अर्थापत्ति प्रमाण की मान्यता, इत्यादि अनेक विषयों की अकलंकदेव ने अपने ग्रन्थों में आलोचना की है किन्तु विचार के भय से मैंने यहाँ उनका विवेचन प्रस्तुत नहीं किया है।

उपसंहार :

जैनन्याय के प्रतिष्ठापक अकलंक एक युगप्रधान आचार्य हुए हैं। बौद्धदर्शन में धर्मकीर्ति का और मीमांसादर्शन में कुमारिल का जो स्थान है वही स्थान जैनदर्शन में अकलंकदेव का है। वे एक परीक्षा-प्रधान आचार्य थे और अच्छी तरह से परीक्षा करने के बाद ही किसी बात को स्वीकार करते थे। अकलंकदेव इतने प्रसिद्ध और प्रभावशाली आचार्य हुए हैं कि उनकी प्रशंसा तथा स्तुति अनेक ग्रन्थों और शिलालेखों में पायी जाती है। भट्टाकलंकदेव का जन्म दक्षिण भारत में हुआ था और वे राजपुत्र थे। भट्ट उनकी उपाधि थी और सब लोगों के द्वारा पूज्य होने के कारण उनको देव कहा जाता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अकलंकदेव के द्वारा रचित अष्टशती आदि ग्रन्थ सूत्र की तरह अतिगंभीर, अर्थबहुल, क्लिष्ट, दुरूह और गूढ़ हैं। यही कारण है कि अच्छे-अच्छे विद्वान् भी इन ग्रन्थों को समझने में असमर्थ रहते हैं। इसीलिए सिद्धि विनिश्चय के टीकाकार आचार्य अनन्तवीर्य को कहना पड़ा-

देवस्यानन्तवीर्योऽपि पदं व्यक्तु तु सर्वतः।
न जानीतेऽकलंकस्य चित्रमेतत् परं भुवि।।

अर्थात् यह बड़े आश्चर्य की बात है कि मैं अनन्तवीर्य विशिष्ट ज्ञानशक्ति सम्पन्न होकर के भी अकलंकदेव के पद (वाक्यार्थ) को पूर्ण रूप से व्यक्त करना नहीं जानता।

ऐसे उत्कृष्ट ज्ञान और अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न आचार्य अकलंकदेव का सादर स्मरण करते हुए उनकी पुण्य सरस्वती की प्रशंसा में शुभचन्द्रचार्य द्वारा 'ज्ञानार्णव' में लिखित एक श्लोक यहाँ उद्धृत है-

श्रीमद्भट्टाकलंकस्य पातु पुण्या सरस्वती।
अनेकान्तमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यया।।

इति शुभं भूयात्।



अनेकान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य अकलंकदेव

डॉ० अशोक कुमार जैन*

भारतीय दर्शनों में जैनदर्शन का अप्रतिम स्थान है। भगवान् महावीर ने अनेकान्तदृष्टि रूप, जिसे हम जैनदर्शक की आत्मा कहते हैं, एक वह व्यवहार्य मार्ग निकाला जिसके समुचित उपयोग से मानसिक, वाचिक तथा कायिक अहिंसा पूर्णरूप से पाली जा सकती है। इस तरह भगवान् महावीर की यह अहिंसास्वरूप अनेकान्तदृष्टि तो जैनदर्शन के भव्य प्रासाद का मध्य स्तम्भ है। इसी से जैनदर्शन की प्राणप्रतिष्ठा है। भारतीय दर्शन सचमुच इस अतुल सत्य को पाये बिना अपूर्ण रहता। जैनदर्शन ने इस अनेकान्तदृष्टि के आधार से बनी हुई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थराशि देकर भारतीय दर्शनशास्त्र के कोषागार में अपनी ठोस और पर्याप्त पूंजी जमा की। पूर्वकालीन युगप्रधान समन्तभद्र, सिद्धसेन आदि दार्शनिकों ने इसी दृष्टि के समर्थन द्वारा सत्-असत्, नित्यत्वानित्यत्व, भेदाभेद, पुण्य-पाप, अद्वैत-द्वैत, भाग्य-पुरुषार्थ आदि विविध वादों में पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित किया। मध्यकालीन आ० अकलंक, आ० हरिभद्र आदि तार्किकों ने अंशतः परपक्ष खण्डन करके भी उसी दृष्टि को प्रौढ़ किया। उसी दृष्टि के विविध प्रकार के उपयोग के लिए सप्तभंगी, नय, निक्षेप आदि का निरूपण हुआ। इस तरह भगवान् महावीर ने अपनी अहिंसा की पूर्ण साधना के लिए अनेकान्तदृष्टि का आविर्भाव करके जगत् को वह ध्रुव बीजमन्त्र दिया, जिसका समुचित उपयोग संसार को पूर्ण सुख और शान्ति का लाभ करा सकता है।

आचार्य अकलंकदेव का जैनन्याय में वही विशिष्ट स्थान है जो बौद्धदर्शन में धर्मकीर्ति, मीमांसा दर्शन में भट्टकुमारिल, प्रभाकर दर्शन में प्रभाकर मिश्र, न्याय वैशेषिक में उद्योतकर और व्योमशिव तथा वेदान्त में शंकराचार्य का है। आचार्य शुभचन्द्र ने मुग्ध होकर उनकी पुण्य सरस्वती को अनेकान्त गगन की चन्द्रलेखा लिखा

---

* सहायक आचार्य, जैन विद्या एवं तुलनात्मक दर्शन विभाग, जैन विश्व भाती संस्थान, लाडनूं, नागौर (राज०-३३४१३०६)

१. प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य द्वारा लिखित अकलंकग्रन्थत्रय की प्रस्तावना, पृ० ६२

है।[1] उनके द्वारा रचित तत्त्वार्थवार्तिक में जैनदर्शन के प्राण अनेकान्तवाद को बहुत व्यापक रूप दिया गया है। जितने विवाद उत्पन्न किये गये हैं उन सबका समाधान प्रायः अनेकान्त रूपी तुला के आधार पर ही किया गया है। खोजने पर ऐसे बिरले ही सूत्र मिलेंगे, जिसमें 'अनेकान्तात्' वार्तिक न हो चतुर्थ अध्याय के अन्त में अनेकान्तवाद के स्थापनपूर्वक नय सप्तभंगी और प्रमाण सप्तभंगी का विवेचन किया गया है।[2]

आचार्य अकलंकदेव ने[3] वस्तु सर्वथा सत् ही है अथवा असत् ही है, नित्य ही है अथवा अनित्य ही है, इस प्रकार सर्वथा एकान्त के निराकरण करने को भी अनेकान्त कहा है। जैनदर्शन अनेकान्तवादी है। उसका मत है कि प्रत्येक वस्तु परस्पर में विरोधी कहे जाने वाले नित्यत्व-अनित्यत्व, एकत्व-अनेकत्व, अस्तित्व-नास्तित्व आदि अनन्त धर्मों का समूह है और वह प्रमाण का विषय है अनेकान्तवादी होने के कारण जैनदर्शन में शब्द की प्रतिपादकत्व शक्ति पर भी विचार किया और उसकी असामर्थ्य का अनुभव न करके स्याद्वाद के सिद्धान्त का आविष्कार किया। उसने देखा कि वस्तु के अनन्त धर्म होने पर भी वक्ता अपने-अपने दृष्टिकोण से उसका विवेचन करते हैं। द्रव्य दृष्टि वाला उसे नित्य कहता है, पर्यायदृष्टि वाला उसे अनित्य कहता है, अतः इन विभिन्न दृष्टियों का समन्वय होना आवश्यक है।

आचार्य अकलंकदेव ने वस्तु व्यवस्था के निर्धारण में अनेकान्त प्रक्रिया की प्रतिष्ठापना में अनेक प्रकार से विचार किया है जिनका हम निम्न बिन्दुओं में वर्णन कर रहे हैं।

तत्त्व व्यवस्था में अनेकान्त– आ० अकलंक ने लिखा है कि जीव, अजीव और आस्रवादि के भेदाभेद का अनेकान्त दृष्टि से विचार करना चाहिए, क्योंकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय में एक को प्रधान और एक को गौण करके, विवक्षा और अविवक्षा के भेद से जीव और अजीव में आस्रवादि का अन्तर्भाव हो सकता है और नहीं भी हो सकता है। जैसे आस्रवादि द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार के हैं। द्रव्य पुद्गल रूप है और भावास्रवादि जीव रूप। पर्यायसमर्थक नय की गौणता और द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता से तथा आस्रवादि प्रतिनियत अपर्यायार्थ की अविवक्षा एवं अनादि

---

१. श्रीमद्भट्टाकलंकस्य पातु पुण्या सरस्वती, अनेकान्तमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यया।। आ० शुभचन्द्र : ज्ञानार्णव सर्ग १/ १७

२. पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री द्वारा लिखित न्यायकुमुदचन्द्र की प्रस्तावना, पृ० ४४

३. सदसन्नित्यानित्यादिसर्वथैकान्तप्रतिक्षेपलक्षणोऽनेकान्तः, अष्टशती, अष्टसहस्री, पृ० २८६

पारिणामिक चैतन्य (जीव) और अचैतन्य (अजीव) द्रव्यार्थ की विवक्षा से कथन करने पर भावास्रव का जीव द्रव्य में और द्रव्यास्रव का अजीव द्रव्य में अन्तर्भाव हो जाता है तथा द्रव्यार्थिक नय की गौणता और पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से एवं आस्रवादि प्रतिनियत पर्याय की विवक्षा एवं अनादि पारिणामिक चैतन्य तथा अचैतन्य द्रव्य की अविवक्षा से कथन करने पर जीव और अजीव में आस्रवादि का अन्तर्भाव नहीं होता, अर्थात् आस्रव बंध आदि स्वतंत्र हैं। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा इनका पृथक् निर्देश सार्थक हैं, निरर्थक नहीं।[१]

वस्तु की विधि निषेधात्मकता– जितने भी पदार्थ शब्दगोचर हैं वे सब विधि-निषेधात्मक हैं। कोई भी वस्तु सर्वथा निषेधगम्य नहीं होती। आत्मा शब्द गोचर है इसलिए उभयात्मक है। जैसे कुरबक पुष्प, लाल और श्वेत दोनों रंग का नहीं होता है तथापि वह वर्णशून्य नहीं है। लाल और सफेद भी नहीं है, प्रतिसिद्धत्व होने से। इसी प्रकार परचतुष्टय की अपेक्षा वस्तु में नास्तित्व होने पर भी स्वदृष्टि से उसका अस्तित्व सिद्ध ही है। कहा भी है- 'कथञ्चित् सत् की भी उपलब्धि और अस्तित्व है तथा कथञ्चित् सत् की उपलब्धि की भी अनुपलब्धि और नास्तित्व है। यदि सर्वथा सत् की अस्ति और उपलबिध है ऐसा मान लिया जाये तो घर की पटादि रूप से भी उपलब्धि होने के कारण सभी पदार्थ सर्वात्मक हो जायेंगे। सर्वथा असत् की अनुपलब्धि एवं नास्तित्व नहीं है, क्योंकि असत् का भी सर्वथा अनुपब्धि एवं नास्तित्व मान लेने पर पदार्थ वचन के अगोचर हो जायेंगे अर्थात् पदार्थ का अभाव हो जाने से वह शब्द का विषय ही नहीं हो सकेगा।[२]

पर्याय और पर्यायी में अनेकान्त– पर्याय और पर्यायी के भेद और अभेद में घटादि के समान अनेकान्तपना है। जैसे घट, कपाल, सिकोरा, धूलि आदि में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों नयों की अपेक्षा कथंकित एकत्व है और कथञ्चित् भिन्नत्व है क्योंकि यदि इसमें पर्यायार्थिक नय की गौणता हो तथा द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता हो और पर्याय की अविवक्षा तथा मिट्टी रूप अनुपयोगी अजीव द्रव्य की विवक्षा से वर्णन किया जाये तो घट, कपालादि में एकत्व है, क्योंकि घट कपालादि मिट्टी रूप द्रव्य को नहीं छोड़ते हैं। यदि द्रव्यार्थिक नय की गौणता हो, पर्यायार्थिक नय की मुख्यता हो, द्रव्य की अविवक्षा और बाह्याभ्यन्तर कारण जनित पर्याय की विवक्षा से कथन किया जाये तो घट, कपालादि में अन्यत्वपना है, क्योंकि घर पर्याय और कपालादि पर्याय

१. तत्त्वार्थवार्तिक हिन्दी भाषानुवादिका- आर्यिका श्रीसुपार्श्वमती माताजी, पृ० ६७-६८
२. वही, पृ० ३२८

परस्पर पृथक्-पृथक् हैं, इसलिए मिट्टी रूप द्रव्य की अपेक्षा द्रव्यार्थिक नय से घट, सिकोरादि में कथंचित् एकत्व है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा पृथक्त्व है, क्योंकि मिट्टी का ही परिणमन होने से इनमें एकत्व है। उभयकारणों के फलस्वरूप प्राप्त हुई घट, कपालादि पर्याय मिट्टी रूप ही है, मिट्टी अन्य नहीं है और घटादि पर्याय भी अन्य नहीं है क्योंकि मिट्टी द्रव्य को छोड़कर घटादि पर्यायें उपलब्ध नहीं हैं। पर्याय और पर्यायी में भेद रूप कथन किया जाये तो दोनों में भिन्नता है, क्योंकि पर्यायी मिट्टी द्रव्य है और घटादि पर्याय हैं।[1]

आत्मा का ज्ञान से भिन्नाभिन्नत्व– आत्मा और ज्ञानादि में कथञ्चित् भिन्नता है और कथंचित् अभिन्नता है, क्योंकि द्रव्यार्थिक नय की मुख्यता एवं पर्यायार्थिक नय की गौणता– पर्याय की अविवक्षा तथा अनादि परिणाम चैतन्य स्वभावरूप जीव द्रव्य की विवक्षा से कथन किया जाए तो ज्ञानादि गुणों में और आत्मा में एकत्व है, क्योंकि ज्ञानादि गुण अनादि परिणामिक चैतन्य स्वरूप जीव द्रव्य को नहीं छोड़ते हैं। यदि उनमें ही द्रव्यार्थिक नय की गौणता, पर्यायार्थिक नय की प्रधानता, द्रव्य की अविवक्षा तथा कारण विशेष से आपादित भेद पर्यायार्थिक नय की विवक्षा से कथन किया जाए तो ज्ञानादि गुण आत्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न हैं, क्योंकि ज्ञान पर्याय अन्य है, और दर्शन पर्याय अन्य है। इसलिए आत्मा से ज्ञानादि पर्याय कथंचित् भिन्न हैं और कथंचित् अभिन्न है। आत्मा और ज्ञान पृथक्-पृथक् नहीं है क्योंकि आत्मा द्रव्य को छोड़कर अन्यत्र ज्ञानादि पर्यायों का अभाव है। पर्याय और पर्यायी की भेद विवक्षा से कथन करने पर दोनों भिन्न हैं और द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा अभिन्न हैं। आत्मा पर्यायी है और ज्ञानादि पर्याय हैं। इसलिए आत्मा और ज्ञान के भेदाभेद के प्रति अनेकान्त दृष्टि का प्रयोग करना चाहिए।[2]

आत्मा की मूर्तामूर्तिकता– आत्मा के मूर्तिक-अमूर्तिक के प्रति अनेकान्त है। कथंचित् आत्मा मूर्तिक है और कथंचित् अमूर्तिक है। कर्मबन्ध पर्याय के प्रति एकत्व होने से आत्मा के कथंकित् मूर्तिक हैं तथापि अपने ज्ञानादि स्थल क्षण के नहीं छोड़ने के कारण कथंचित् अमूर्तिक है।

आत्मा की एकानेकात्मकता– जीव एक भी अनेकात्मक है अर्थात् जीव एक स्वरूप, अनेक स्वरूप, दोनों प्रकार हैं। यहां प्रश्न है कि जो एक है वह अनेक धर्मात्मक कैसे हो सकता है? इसका उत्तर देते हुए कहा है वह अभाव से विलक्षण होने से

१. वही, पृ० २०

२. वही, पृ० २१

'अभूत' नहीं है, एक रूप का अभाव है अर्थात् 'अ' नहीं है, 'भाव' एकरूपता, जिसमें उसे अभाव कहते हैं। वह अभाव एकरूप है क्योंकि उसमें कोई भेद नहीं पाया जाता। अतः वह अभाव रूप से एक है परन्तु अभाव से विलक्षण जो भाव है वह तो नाना रूप है- अर्थात् भाव में तो अनेक धर्म और अनेक भेद पाये जाते हैं, अभाव में नहीं। यदि ऐसा नहीं हो भाव और अभाव इन दोनों में अविशेषता हो जायेगी और वे दोनों एक हो जायेंगे। वह भाव ६ प्रकार का है। जन्म, अस्तित्व, विपरिणाम, वृद्धि, अभक्षम और विनाश अर्थात् भाव में ही जन्म, सद्भावादि देखे जाते हैं। बाह्याभ्यन्तर दोनों निमित्तों के कारण आत्मलाभ करना जन्म है। यह इसका विषय है अर्थात् जन्म 'जायते' क्रियापद का विषय है। जैसे-मनुष्य गति आदि नामकर्म के उदय की अपेक्षा से आत्मा मनुष्यादि रूप पर्याय से उत्पन्न होता है, ऐसा कहा जाता है। मनुष्यादि आयु के निमित्तों के अनुसार उस पर्याय में अवस्थान होना उसका सद्भाव, स्थिति या अस्तित्व हैं। इसमें अस्ति क्रिया का सम्बन्ध है। सत्, भाव रूप पदार्थ का अवस्थान्तर, पदार्थ का पर्यायान्तर होना परिणाम है अर्थात् जो पदार्थ जिस रूप से विद्यमान है उसका समूल नाश न होकर उसी में पर्यायों का पलटना परिणाम है। पूर्व स्वभाव को न छोड़कर भावान्तर से आधिक्य हो जाना वृद्धि है (जैसे अनुगत रूप मानव पर्याय को कायम रखते हुए शरीर की वृद्धि होती है)। क्रमशः एकदेश का जीर्ण-शीर्ण होना अपक्षय कहलाता है (जैसे मनुष्य पर्याय को कायम रखते हुए शरीर का क्षीण होना)। सद् रूप पदार्थ के पर्याय सामान्य की सर्वथा निवृत्ति का नाम विनाश है जैसे-मनुष्यायु का क्षय हो जाने से मनुष्य पर्याय का नाश। इस प्रकार प्रतिक्षण पर्याय भेद से पदार्थों में अनन्तरूपता होती है। अतः भावात्मक पदार्थ अनन्तधर्मात्मक है अथवा सत्त्व, ज्ञेयत्व, द्रव्यत्व अमूर्तत्व, अतिसूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, असंख्येयप्रदर्शनत्व, अनादिनिधनत्व और चेतनत्व की दृष्टि से भी जीव अनेक धर्मात्मक है अर्थात् आत्मा नामक पदार्थ सत्स्वरूप है, ज्ञान का विषय होने से ज्ञेय है, गुण पर्याय सहित होने से द्रव्य है, रूपादि रहित होने के कारण अमूर्तिक है, इन्द्रियों का विषय न होने से अतिसूक्ष्म है। एक में अनेक रहने के कारण अवगाहनात्मक है। किसी न किसी आकार से युक्त होने के कारण प्रदेशात्मक है। आत्मा उत्पत्ति और विनाश रहित होने से अनादि निधन है और चेतना गुण से युक्त होने से चेतनात्मक है। इस प्रकार एक ही पदार्थ पर्यायों के भेद से अनेक धर्मस्वरूप है।

आत्मा अनेक शक्तियों का आधार होने से भी अनेक धर्मात्मक है। जैसे घी चिकना है, तृप्ति करता है और उपबृंहण करता है अतः अनेक शक्ति वाला है अथवा

जैसे घड़ा जल-धारण, आहरण आदि अनेक शक्तियों से युक्त हैं उसी प्रकार आत्मा भी द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव के निमित्त से अनेक प्रकार की विकार प्राप्ति के योग्य वैभाविक शक्तियों के योग से अनेकधर्मात्मक है।[1]

सम्बन्धि रूपत्व होने से अनेक धर्मात्मकता– वस्तु अन्तर सम्बन्धि से आविर्भूत अनेक सम्बन्धी रूपत्व होने से भी अनेकधर्मात्मक है। जैसे-एक ही घट अनेक सम्बन्धियों की अपेक्षा पूर्व, पश्चिम, अन्तरित, अनन्तरित, दूर- आसन्न, नवीन-पुराना, समर्थ-असमर्थ, देवदत्तकृत, चैत्र स्वामिकत्व, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग आदि भेद से अनेक व्यवहारों का विषय होता है, क्योंकि सम्बन्धों की अनन्तता से सम्बन्धी भी अनन्त होते हैं, उसी प्रकार ज्ञान, दर्शन आदि अनन्त सम्बन्धियों की अपेक्षा आत्मा भी उन-उन अनेक पर्यायों को धारण करने वाला होने से अनेकधर्मात्मक है। अथवा पुद्गलों के अनन्तता है और उस-उस पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा से एक-एक पुद्गलस्थ एक-एक पर्याय की विवक्षा से अनन्तता होती है जैसे-एक ही प्रदेशिनी अंगुली अनन्त पुद्गलों की अपेक्षा अनेक भेदों को धारण करती है। प्रदेशिनी अंगुली में मध्यमा की अपेक्षा जो भिन्नता है वही अनामिका की अपेक्षा नहीं है, प्रत्येक पररूप का भेद पृथक्-पृथक् है। अतः मध्यमा और अनामिका में एकत्व नहीं है, क्योंकि मध्यमा और प्रदेशिनी में अन्यत्व हेतुत्व से अविशेषता है अर्थात् समानता नहीं है। और न इनका एक-दूसरे की अपेक्षा अर्थ सत्त्व है। मध्यमा ने प्रदेशिनी में ह्रस्वत्व उत्पन्न नहीं किया है। यदि मध्यमा के सामर्थ्य से प्रदेशिनी में ह्रस्वत्व उत्पन्न होता है तो 'शश विषाण' में या 'शक्रयष्टि' में भी ह्रस्वत्व उत्पन्न होना चाहिये था और न स्वतः प्रदेशिनी में ह्रस्वता होती है, क्योंकि परापेक्षाभाव में उसकी व्यक्ति का अभाव है अन्यथा अनामिका के अभाव में ह्रस्वता की प्रतीति होनी चाहिये थी। अतः अनन्त-परिणामी द्रव्य ही उन-उन सहकारी कारणों की अपेक्षा उन-उन रूपों से व्यवहार में आता है। न तो वह द्रव्य स्वतंत्र ही अनन्तरूप है और न वह सर्वथा परकृत है, (स्याद्वाद से ही इनकी सिद्धि होती है) उसी प्रकार जीव भी कर्म और नोकर्म विषय के सम्बन्ध भेद से उत्पन्न जीवस्थान, गुणस्थान, मार्गणास्थान, तथा वस्तु उपकरण, कुण्डल, दण्ड आदि, के सम्बन्ध से कुण्डली, दण्डी आदि अनेक पर्यायों को धारण करता है।[2]

पर्यायों की अपेक्षा से वस्तु में अनन्तधर्मात्मकता– अतीत, अनागत और वर्तमानकाल के सम्बन्ध से भी आत्मा अनन्तधर्मात्मक है जैसे-मिट्टी आदि वस्तु में

1. तत्त्वार्थवार्तिक, ४/४२, पृ० ७०३-७०५
2. वही पृ० ७०५-७०७

समुदाय अवयव के प्रध्वंश रूप का विषय करने वाले अतीतकाल, उत्पत्ति की निश्चय से संभावना करने वाले भविष्यत् काल और साधन प्रवृत्ति अविराम (क्रिया सातत्यरूप) वर्तमान काल के सम्बन्ध से मिट्टी आदि द्रव्य उन-उन कालों में अनेक भेदों (पर्यायों) को प्राप्त होते देखे जाते हैं। यदि वर्तमान काल मात्र माना जाय तो पूर्व और अपरत्व (उत्तर) की अवधि का अभाव होने से "वन्ध्या का पुत्र युवा है" इस कथन के समान वर्तमान काल का भी अभाव हो जाता है। उसी प्रकार आत्मा भी अनादि अतीत काल सम्बन्धी परिणत सम्भावनीय, अनन्त भविष्यत्कालवर्ती तथा वर्तमान कालोद्भूत अर्थ और व्यंजनों पर्यायों के भेद से द्वैविध्य को प्राप्त होने वाली पर्याय (अर्थपर्याय और व्यञ्जन पर्यायों) के सम्बन्ध से अनन्तधर्मात्मक है।[1]

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मकता से पदार्थ की अनेकधर्मात्मकता– जैनदर्शन में द्रव्य का लक्षण सत् कहा गया है और वह सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है। इस कारण से भी पदार्थ अनन्तधर्मात्मक है। अनन्तकाल और एक काल में अनन्त प्रकार के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होने के कारण आत्मा अनेकान्त रूप है। जैस- घट एक ही काल में द्रव्य दृष्टि से पार्थिव (मिट्टी) रूप से उत्पन्न होता है, जल रूप से नहीं, देश की अपेक्षा यहाँ उत्पन्न होता है, पटना आदि में नहीं, काल की विवक्षा से वर्तमान काल में उत्पन्न होता है, अतीत अनागत काल में नहीं, भाव दृष्टि से बड़ा उत्पन्न होता है छोटा नहीं। द्रव्यादि के एक-एक का यह उत्पाद सजातीय मिट्टी के अनेक अन्य घटान्तरगत, सुवर्ण आदि ईषद् विजातीय घटान्तरगत और अत्यन्त विजातीय पर (वस्त्र) आदि अनन्त मूर्तिक-अमूर्तिक द्रव्यान्तरगानन्तत उत्पाद से विभमान (भेद रूप) होते हुए उत्पाद उतने ही भेदों को प्राप्त हो जाता है अर्थात् मिट्टी से घट का उत्पाद, स्वर्ण घट का उत्पाद, पट का उत्पाद आदि के भेद से उत्पाद अनेक प्रकार का हो जाता है। यदि उत्पाद में भेद नहीं माना जायेगा तो सर्व घटों के साथ अविशेषता (अभिन्नता) आ जायेगी। सर्व एकता को प्राप्त हो जायेंगे। इसी प्रकार वही द्रव्य (घट) उस समय अनुत्पद्यमान (उत्पन्न नहीं होने वाले) द्रव्य के सम्बन्ध से कृत, ऊपर-नीचे, तिरछे, अन्तरित, अनन्तरित, एकान्तरादि दिशाओं के भेद से, महान्-अल्प आदि गुण भेद से, रूपादि के उत्कर्ष-अपकर्ष आदि अनन्त भेद से और त्रिलोक एवं त्रिकाल विषय सम्बन्धी भेद से, भिद्यमान रूप (भेद को प्राप्त होने वाला) उत्पाद अनेक प्रकार का है तथा अनेक अवयवात्मक स्कन्ध प्रदेश भेद, दृष्ट, विषम उत्पाद की नानारूपता होने से भी उत्पाद अनेक प्रकार का है अथवा जलधारण, आहरण

१. वही, पृ० ७०७-७०८

प्रदानाधिकरण, भय, हर्ष, शोक, परिताप जननादि स्वकार्य के प्रसाधन के निमित्त से उत्पाद अनेक प्रकार का है। जैसे-उत्पाद अनेक प्रकार का है उसी प्रकार उत्पाद का प्रतिपक्षी विनाश भी उतने ही प्रकार का है क्योंकि पूर्व पर्याय का विनाश हुए बिना नूतन उत्पाद की संभावना नहीं है। उत्पाद और विनाश की प्रतिपक्षीभूत स्थिति भी उतने ही प्रकार की है क्योंकि उत्पत्ति और विनाश की आधारभूत स्थिति के बिना बन्ध्या के पुत्र के समान उत्पन्न और विनाश के अभाव का प्रसंग आता है अर्थात् स्थिति के बिना उत्पाद और विनाश नहीं हो सकते हैं। घर उत्पन्न होता है, इस प्रयोग को वर्तमान काल तो इसलिए नहीं मान सकते कि अभी तक घड़ा उत्पन्न ही नहीं हुआ है अर्थात् पूर्वापरीभूत साध्यमान भाव में अभिधान का वर्तमान में असत्व है। उत्पत्ति के अनन्तर यदि शीघ्र ही विनाश मान लिया जाये तो सद्भाव की अवस्था का प्रतिपादक कोई शब्द ही प्रयुक्त नहीं होगा तथा प्रतिपादक शब्द का अभाव होने से उत्पाद में भी अभाव हो जाएगा और विनाश में भी अभाव हो जाएगा और भावाभाव (अस्ति-नास्ति) रूप पदार्थ का विनाश हो जाने पर तदाश्रित व्यवहार का भी लोप हो जायेगा तथा बीज शक्ति का अभाव होने से उत्पाद और विनाश शब्द वाच्यता का भी अभाव हो जायेगा। अतः पदार्थ में उत्पद्यमानता, उत्पन्नता और विनाश ये तीन अवस्थाएँ अवश्य स्वीकार करनी चाहिए तथा एक जीव में भी द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक नय के गोचर सामान्य विशेष अनन्त शक्तियां और उत्पत्ति, विनाश, स्थिति आदि रूप होने से अनेकतात्मक़ता समझनी चाहिए।[१]

परस्पर विरोध प्रतीत होते हुए भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यत् इन तीनों के युगपत् होने में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि जिस दृष्टि से उत्पाद और व्यय की कल्पना करते हैं, यदि उसी दृष्टि से ध्रौव्य नित्य कहा जाता है तो अवश्य विरोध आता है जैसे कि एक ही अपेक्षा किसी पुरुष को पिता और पुत्र कहते हैं परन्तु धर्मान्तर का आश्रय लेकर कहने में कोई विरोध नहीं है। जैसे- एक ही पुरुष को पिता की अपेक्षा पुत्र और पुत्र की अपेक्षा पिता कहा जाए तो कोई विरोध नहीं है, उसी प्रकार द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नित्य और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्य को अनित्य कहने में कोई विरोध नहीं है। अतः दोनों की अपेक्षा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों एक साथ घटित हो जाते हैं।[२]

द्रव्य और पर्याय का अविनाभाव- आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में लिखा

---

१ वही, पृ० १०७ ७०६

२ तत्त्वार्थवार्तिकम्, भाग-२, पृ० २२१

है कि गौण और मुख्य की विवक्षा से एक ही वस्तु में नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म सिद्ध है।[1] आचार्य अकलंकदेव ने अर्पित को परिभाषित करते हुए लिखा है कि- धर्मान्तर-विवक्षाप्रापित प्राधान्यमर्पितम्-अर्थात् धर्मान्तर की विवक्षा से प्राप्त प्राधान्य अर्पित कहलाता है। अनेक धर्मात्मक वस्तु के प्रयोजनवश जिस धर्म की विवक्षा की जाती है अथवा विवक्षित जिस धर्म को प्रधानता मिलती है, उस अर्थ रूप को अर्पित कहते हैं।

अर्पित से विपरीत अनर्पित है। प्रयोजन का (वक्ता की इच्छा का) अभाव होने से सत् (विद्यमान) पदार्थ की अविवक्षा हो जाती है। अतः उपसर्जनीभूत (गौण) पदार्थ अनर्पित (अविवक्षित) कहलाता है। अर्पित और अनर्पित अर्पितानर्पित है, अर्थात् अनर्पित के द्वारा वस्तु की सिद्धि होती है अतः सत् पदार्थ का नित्यत्व अर्पित अनर्पित से सिद्ध है। जैसे-जब मृत्पिण्ड 'रूपी द्रव्य' के रूप में अर्पित (विवक्षित) होता है तब वह नित्य है क्योंकि वह मृत्पिण्ड कभी भी रूपित्व वा द्रव्यत्व को नहीं छोड़ता है। जब वही अनेक धर्म रूप से परिणमन करने वाले इस मृत्पिण्ड का धर्मान्तर की विवक्षा से मृत्पिण्ड के रूपित्व और द्रव्यत्व को गौण करके केवल 'मृत्पिण्ड' रूप पर्याय की विवक्षा करते हैं तो वह मिट्टी का पिण्ड रूप पुद्गल द्रव्य अनित्य है, क्योंकि उसकी वह पर्याय (पिण्ड पर्याय) अध्रुव है, अनित्य है। यदि केवल द्रव्यार्थिक नय की विषयभूत वस्तु मानी जाय तो व्यवहार का लोप हो जाएगा क्योंकि पर्याय शून्य केवल द्रव्य रूप वस्तु का अभाव है। यदि केवल वस्तु पर्यायार्थिक नय के गोचर ही मानी जाए तो लोकयात्रा सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि द्रव्य से रहित पर्यायमात्र वस्तु का अभाव है, उभयात्मक वस्तु ही लोकयात्रा करने में समर्थ है। अतः उभयात्मक वस्तु की प्रसिद्धि है।[2]

अन्वय और व्यतिरेक रूप से पदार्थ की अनेकधर्मात्मकता- अन्वय और व्यतिरेक रूप होने से भी पदार्थ अनेकधर्मात्मक है। जैसे-इस लोक में एक ही घड़ा सत्, अचेतन आदि सामान्य रूप से अन्वय धर्म का तथा नूतन-पुरातन आदि विशेष रूप से व्यतिरेक धर्म का आधार होने से अनेक रूपों में दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार अन्वय व्यतिरेक रूप सामान्य और विशेष धर्मों का आधारभूत आत्मा एक होते हुए भी अनेक धर्मात्मक है।[3]

प्रमाण और नयापेक्षा अनेकान्त-एकान्त व्यवस्था- तत्त्वार्थवार्तिक में प्रश्न

---

१. अर्पितानर्पितसिद्धेः ५/३२

२. तत्त्वार्थवार्तिक, भाग-२, पृ० २२२

३. तत्त्वार्थवार्तिक, भाग-१, पृ० ७१०

उपस्थित करते हुए लिखा है कि अनेकान्त में भी विधि-प्रतिषेध की कल्पना नहीं है। यदि अनेकान्त में यह विधि-प्रतिषेध कल्पना लगती है तो वह अनेकान्त नही हो सकता है क्योंकि जिस समय अनेकान्त में 'नास्ति' भंग प्रयुक्त होता है, उस समय एकान्तवाद का प्रसंग आ जायेगा और अनेकान्त में भी अनेकान्त लगाने पर अनवस्था दूषण आता है अतः अनेकान्त को अनेकान्त ही कहना चाहिए, इसलिए सप्तभंगी भी व्याप्तवान नहीं है। इसका समाधान देते हुए वर्णन है कि ऐसा मानना उचित नहीं है क्योंकि अनेकान्त में भी 'स्याद् एकान्त, स्याद् अनेकान्त, स्याद् उभय, स्याद् अवक्तव्य, स्याद् एकान्त अवक्तव्य, स्यादु अनेकान्त अवक्तव्य, स्याद् उभय, वक्तव्यं इस प्रकार प्रमाण और नय की दृष्टि से अनेकान्त रूप से अनेकमुखी कल्पनाएँ हो सकती हैं अर्थात् प्रमाण की अपेक्षा अनेकान्त है और नय की अपेक्षा एकान्त है।

प्रमाण और नय की विवक्षा से भेद है। एकान्त दो प्रकार का है- सम्यक् और मिथ्या। अनेकान्त भी सम्यक् अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त के भेद से दो प्रकार का है। प्रमाण के द्वारा निरूपित वस्तु के एकदेश की हेतु विशेष के सामर्थ्य की अपेक्षा से ग्रहण करने वाला सम्यक् एकान्त है। एक धर्म का सर्वथा (एकान्तरूप से) अवधारण करके अन्य धर्मों का निराकरण करने वाला मिथ्या-एकान्त है। एक वस्तु में युक्ति और आगम के अविरुद्ध अनेक विरोधी धर्मों को ग्रहण करने वाला सम्यक् अनेकान्त है तथा वस्तु को तत्-अतत् आदि स्वभाव से शून्य कहकर उसमें अनेक धर्मों की मिथ्या कल्पना करने वाला अर्थशून्य वाग् विलास मिथ्या अनेकान्त हैं।

एक धर्म का निश्चय करने में प्रवीण होने से नय की विवक्षा से एकान्त है। अनेक धर्मों के निश्चय का अधिकरण (आधार) होने के कारण प्रमाण विवक्षा से अनेकान्त है। यदि अनेकान्त, अनेकान्त ही माना जाए और एकान्त का लोप किया जाए तो सम्यक् एकान्त के अभाव में शाखादि के अभाव में वृक्ष के अभाव की तरह तत्समुदाय रूप अनेकान्त का भी अभाव हो जायेगा। यदि एकान्त ही माना जाये तो उसके अविनाभावी शेष धर्मों का निराकरण हो जाने से प्रकृत शेष का भी लोप हो जाने से सर्वलोप का प्रसंग प्राप्त होता है।[1]

अनेकान्त में छल का अभाव है– आचार्य अकलंकदेव कहते हैं कि अनेकान्त छल मात्र है ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि छल के लक्षण का अनेकान्त में अभाव है। जो अस्ति है वही नास्ति है, जो नित्य है वही अनित्य है, इस प्रकार अनेकान्त की

१. वही, पृ० ६६-६७

प्ररूपणा छल मात्र है, ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि छल के लक्षण का अनेकान्त में अभाव है। छल का लक्षण है, 'वचन विघातोऽर्थविकल्पोपपत्या छलम्' अर्थात् अर्थों के विकल्प की उपपत्ति से वचनों का विघात। जैसे 'नवकम्बलो देवदत्तः' यहाँ नव शब्द के दो अर्थ हैं। एक ९ संख्या और दूसरा नया। तो 'नूतन विवक्षा' से कहे गये नव शब्द का ९ संख्या रूप अर्थ विकल्प करके वक्ता के अभिप्राय से मिला अर्थ की कल्पना छल कही जाती है, जैसे- इसके नव कम्बल है, इस कथन में वक्ता का अभिप्राय था, इसके पास नौ कम्बल हैं, चार-पांच नहीं। श्रोता ने इसका अर्थ लिखा इसका कम्बल नया कम्बल है, पुराना नहीं। किन्तु सुनिश्चित उभय नय के वश के कारण मुख्य गौण विवक्षा से संभव अनेक धर्मों का सुनिर्णीत रूप से प्रतिपादन करने वाला अनेकान्तवाद छल नहीं हो सकता क्योंकि इसमें वचनविघात नहीं किया गया है, अपितु यथावस्थित वस्तुतत्त्व का निरूपण किया गया है।[1]

अनेकान्तवाद संशय का हेतु नहीं– एक आधार में विरोधी अनेक धर्मों का रहना असंभव है, अतः अनेकान्तवाद संशय का हेतु है, क्योंकि आगम में लिखा है कि द्रव्य एक है, पर्यायें अनन्त हैं, आगम प्रमाण से वस्तु अस्ति है कि नास्ति है ? नित्य है कि अनित्य है इत्यादि प्रकार से संशय होता है ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि विशेष लक्षण की उपलब्धि होती है। सामान्य धर्म का प्रत्यक्ष होने से विशेष धर्मों का प्रत्यक्ष न होने पर (किन्तु) उभय विशेषों का स्मरण होने से संशय होता है। जैसे- धुंधली (न अति प्रकाश है न अधिक अंधेरा) ऐसी रात्रि में स्थाणु और पुरुषगत ऊंचाई आदि सामान्य धर्म की प्रत्यक्षता होने पर स्थाणुगत कोटर पक्षी निवास और पुरुषगत सिर खुजलाना, चोटी बांधना, वस्त्र हिलाना आदि विशेष धर्मों के न दिखने पर, किन्तु इन विशेषों का स्मरण रहने पर (ज्ञान दो कोटियों में दोलित हो जाता है कि यह स्थाणु है या पुरुष) संशय उत्पन्न हो जाता है किन्तु अनेकान्तवाद में विशेष धर्मों अनुपलब्धि नहीं है क्योंकि स्वरूपादि के आदेश से वशीकृत उक्त विशेष प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं। अतः विशेष की उपलब्धि होने से अनेकान्तवाद संशय का हेतु नहीं है अर्थात् सब धर्मों की सत्ता अपनी-अपनी निश्चित अपेक्षाओं से स्वीकृत है। तत्-धर्मों का विशेष प्रतिमास निर्विवाद सापेक्ष रीति से बताया गया है। अनेकान्तवाद को संशय का आधार भी कहना उचित नहीं है कि अस्ति आदि धर्मों को पृथक्-पृथक् सिद्ध करने वाले हेतु हैं या नहीं ? यदि हेतु नहीं हैं तो प्रतिपादन कैसा? यदि हेतु हैं तो एक ही वस्तु में परस्पर विरुद्ध धर्मों की सिद्धि होने पर संशय होना ही चाहिए। विरोध के अभाव में

१. वही, पृ० ६७-६८

संशय का अभाव होता है। यदि विरोध होगा तो संशय अवश्य होगा परन्तु नयों के माध्यम से कथित धर्मों में विरोध नहीं होता।[१]

इस प्रकार आ० अकलंकदेव ने अनेकान्त की प्रक्रिया की प्रतिष्ठापना में मसहनीय योगदान दिया। तत्त्वार्थवार्तिक में अनेकान्त विषयक जो मान्यताएँ हैं वे अनेकान्त व्यवस्था का सम्यक् प्रतिपादन करते हैं। वे बिन्दु निम्न हैं -

१. कर्त्ता और करण के भेदाभेद की चर्चा।

२. आत्मा का ज्ञान से भिन्नाभिन्नत्व।

३. मुख्य और अमुख्यों का विवेचन करते हुए अनेकान्त दृष्टि का समर्थन।

४. सप्तभंगी के निरूपण के पश्चात् अनेकान्त में अनेकान्त की सुघटना।

५. अनेकान्त में प्रतिपादित छल, संशय आदि दोषों का निराकरण करते हुए अनेकान्तात्मकता की सिद्धि।

६. नयों का सोपपत्तिक निरूपण।

७. वस्तु व्यवस्था में अनेकान्त की आवश्यकता।

हमें आ० अकलंकदेव के ग्रन्थों के आलोक में सम्यक् प्रकार से अनेकान्त व्यवस्था को समझकर वस्तुतत्त्व का समीचीन श्रद्धान करना चाहिए।



१. तत्त्वार्थवार्तिक, भाग-१, पृ० ६८-६६

अनेकान्त के अद्वितीय व्याख्याकार अकलंकदेव

*श्री निर्मल जैन**

जैन दर्शन में वीतरागता को सर्वोच्च मान्यता दी गई है। कोई भी साधक वीतराग हुए बिना सर्वज्ञ तो हो ही नहीं सकता, जिनेन्द्रदेव की वाणी को आंशिक रूप में हृदयस्थ करके जीवों के कल्याण के लिये उसे व्याख्यायित करने की शक्ति भी उन्हें ही प्राप्त होती है जो साधना के माध्यम से राग-द्वेष से ऊपर उठने का पुरुषार्थ करते हैं। यही कारण है कि जैन वाङ्मय का विपुल भण्डार प्रायः वीतरागी संतों के द्वारा ही भरा गया है।

जिनवाणी का हार्द हमारे कल्याण के लिये लिपिबद्ध करने वाले उन आचार्य भगवंतों के ज्ञान की महिमा तो है ही, साथ ही उनकी विशिष्ट साधना भी प्रणम्य है। हमारे उन आचार्य भगवंतों का कोई शृंखलाबद्ध जीवन-परिचय हमें उपलब्ध नहीं होता है, क्योंकि वे मनीषी यश-ख्याति की चाह से निर्लिप्त थे किन्तु परवर्ती आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में उनका जिस प्रकार स्मरण किया तथा बाद के श्रद्धालु सन्तों-श्रावकों ने जनश्रुति आदि के आधार पर जो तथ्य एकत्र किये, उनसे यह सहज ही समझा जा सकता है कि हमारे वे मान्य आचार्य किस प्रकार अपने जीवन के प्रारम्भ से ही मोक्षमार्ग पर चलने और चलाने का संकल्प लिये हुए थे।

प्रायः सभी प्रमुख जैनाचार्यों ने घर-गृहस्थी के जंजाल को स्वीकार नहीं किया और बचपन से ही साधना-स्वाध्याय में निरत हो गये। सातवीं-आठवीं शताब्दी में हुए प्रसिद्ध तार्किक एवं दार्शनिक आचार्य अकलंकदेव भी एक ऐसे ही प्रज्ञावान् साधक सन्त थे।

अपनी बाल्यावस्था में पिताश्री को किन्हीं मुनिराज के चरणों में अष्टाह्निका पर्व के आठ दिन के लिए ब्रह्मचर्य व्रत लेते देखकर बालक अकलंक ने भी मन में ही ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया और उसकी किसी सीमा आदि का संकल्प नहीं किया। अतः कुमार अवस्था में पिताश्री की प्रेरणा के बाद भी विवाह उन्हें स्वीकार नहीं हुआ।

---

* सुषमा प्रेस, कम्पाउण्ड, सतना, (म०प्र०)-४८५००१

गृहस्थी के मायाजाल से बच जाने के कारण साधना के साथ विद्यार्जन में ही उन्होंने अपना सारा ध्यान केन्द्रत किया। फलस्वरूप केवल जैनदर्शन तथा विशेष रूप से अनेकान्त की प्रतिष्ठा के लिए उन्होंने अनेक शास्त्रार्थ किये और उनमें विजयी होकर सफल शास्त्रार्थी विद्वान् के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त की

विद्याध्ययन के साथ ही संयम की साधना भी उनका अभीष्ट था, अतः मुनिदीक्षा लेकर उन्होंने तपस्या भी की और बाद में आचार्य पद पर भी प्रतिष्ठित हुए। साधना और स्वाध्याय ने उनके चिन्तन को इतना प्रगाढ़ किया कि वे अपनी वाणी और कलम के माध्यम से वस्तु-स्वरूप की सम्यक् विवेचना करके मिथ्याभ्रान्तियों के निराकरण में सफल हुए तभी तो श्रवणबेलगोल का वह शिलाभिलेख आज भी उनके सूर्य समान प्रताप की गाथा कह रहा है-

ततः परं शास्त्रविदां मुनीनऽमग्रेसरीभूदकलंकसूरिः।

मिथ्यान्धकारस्थगिताखिलार्थाः प्रकाशिता यस्य वचो मयूखैः। अभिलेख १०८

अकलंकदेव जैनन्याय के पुरोधा माने जाते हैं। उनकी प्रमाण व्यवस्था को बाद के आचार्य भगवन्तों ने बहुत सराहा और अपनी रचनाओं में उनका उल्लेख भी किया। महापुराण के रचयिता प्रसिद्ध जैनाचार्य जिनसेन महाराज ने अकलंकदेव का श्रद्धापूर्वक स्मरण इस प्रकार किया है-

भट्टाकलंक-श्रीपाल-पात्रकेसरिणां गुणाः।
विदुषां हृदयारूढ़ा हारायन्तेऽतिनिर्मलाः।

जिनवाणी के साधकों की प्रशंसा में लिखी गई ये दो पंक्तियां भी बहुत प्रसिद्ध हैं, जिनमें अकलंकदेव के प्रमाण विषयक अवदान की प्रशंसा की गई है-

प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
धनंजयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्।

आचार्य अकलंकदेव ने प्रमाण, नय, निक्षेप आदि की व्याख्या में "लघीस्त्रय" नामक ग्रन्थ लिखा । प्रत्यक्ष ज्ञान, अनुमान ज्ञान आदि का विवेचन करने के लिये उन्होंने 'न्यायविनिश्चय ' नामक ग्रन्थ की रचना की। प्रमाण को विस्तार से समझाने के लिये 'प्रमाणसंग्रह' ग्रन्थ लिखा और फिर 'सिद्धिविनिश्चिय' नामक ग्रंथ लिखकर उसके १२ अधिकारों में प्रत्यक्षसिद्धि, सविकल्पसिद्धि, प्रमाणान्तरसिद्धि, जीवसिद्धि, सर्वज्ञसिद्धि, निक्षेपसिद्धि का विस्तृत विवेचन किया। इस प्रकार उन्होंने चार मौलिक ग्रन्थों की रचना की।

अकलंकदेव ने पूर्वाचार्यों के दो महान् ग्रन्थों पर टीकायें भी लिखीं। अनेकान्त की विशद व्याख्या करने वाले आचार्य समन्तभद्र स्वामी के महान् ग्रंथ 'आप्तमीमांसा' पर उन्होंने ८०० श्लोक प्रमाण वृत्ति लिखी जो अष्टशती नाम से प्रसिद्ध हुई। इसमें उन्होंने अन्य दर्शनों के विभिन्न वादों जैसे द्वैत-अद्वैतवाद, दैव-पुरुषार्थवाद आदि की समीक्षा अनेकान्त दृष्टि से प्रस्तुत की। 'अष्टशती' में वस्तु की अनेकान्तात्मकता सिद्ध करने के लिये भी अनेक अकाट्य तर्क उन्होंने दिये हैं।

दूसरी शताब्दी में हुए परम उपकारी आचार्य उमास्वामी महाराज के महान् तथा संस्कृत भाषा के प्रथम जैन सूत्र ग्रन्थ 'तत्त्वार्थसूत्र' की टीका के रूप में लिखा गया तत्त्वार्थवार्तिक' अपर नाम 'राजवार्तिक' ग्रन्थ अकलंकदेव का दूसरा टीका ग्रन्थ है। तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ पर संस्कृत में ही अनेक आचार्य ने टीकायें लिखी हैं। आचार्य पूज्यपाद की 'सर्वार्थसिद्धि' नामक टीका और आचार्य विद्यानन्द की 'श्लोकवार्तिकालंकार' नामक टीका के बाद आचार्य अकलंकदेव की तत्त्वार्थवार्तिक संभवतः सबसे विशद अर्थ प्ररूपक टीका है।

तत्त्वार्थवार्तिक के सभी वार्तिक आचार्य अकलंकदेव ने गद्य में ही लिखे हैं और उनकी यह भी विशेषता है कि सूत्र रूप में वार्तिक लिखकर उन्होंने स्वयं ही उसकी व्याख्या भी संस्कृत गद्य में ही लिखी है। इस विशेषता के कारण ही दश अध्याय वाले इस ग्रंथ के प्रत्येक अध्याय के अंत में 'इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालंकारे....अध्यायः' पंक्ति लिखी गई है।

आचार्य अकलंकदेव ने 'तत्त्वार्थसूत्र' के सूत्रों की व्याख्या में अनेक विषयों का, विशेषकर दार्शनिक तथा सैद्धान्तिक विषयों का, विशद विवेचन तो किया ही है, साथ ही प्रायः सभी जगह अपने मन्तव्य को अनेकान्त के द्वारा समझाने का प्रयास किया है। केवल व्याख्या में ही नहीं, उन्होंने वार्तिकों में भी अनेक जगह अनेकान्त शब्द का प्रयोग किया है। कहीं-कहीं तो वार्तिक मात्र अनेकान्त शब्द से ही बनाये गये हैं।

देखें तत्त्वार्थवार्तिक में अनेकान्त के उद्धरण-

'अनेकान्तात् पर्यायपर्यायिणोरर्थान्तरभावस्य घटादिवत्।' १/१/१६

पर्याय और पर्यायी के भेद और अभेद में घटादि के समान अनेकान्तपना है।

नित्यानित्यैकान्तावधारणे तत्कारणासंभवः। १/१/५५

आत्मा के नित्य व अनित्य की एकान्त अवधारणा में मोक्ष के कारणों की असंभवता है।

क्षणिकैकान्तेऽप्यवस्थानाभावात् ज्ञानवैराग्यभावनाभावः। १/१/५७

क्षणिक एकान्त में भी अवस्थान का अभाव होने से ज्ञान-वैराग्य का अभाव है।

अनेकान्ताच्च, १/४/५–अनेकान्त दृष्टि से विचार करना चाहिये।

अनेकान्ताच्च, १/५/२२–इनमें अनेकान्त है।

अनेकान्तात्, १/५/३०–इसमें अनेकान्त है।

अनेकान्ते तदभावादव्याप्तिरिति चेत्, न, तत्रापि तदुपपत्तेः। १/६/६

अनेकान्त में स्याद्वाद की कल्पना में भी दोष आता है, ऐसा कहना उचित नहीं है।

अनेकान्तात्सिद्धिः, १/१०/१३–अनेकान्त से सिद्धि होती है।

न, अनेकान्तात्, १/१७/४–अनेकान्त होने से ऐसा नहीं कहना चाहिये।

अनेकान्ताच्च, १/२०/५–अनेकान्त है।

अनेकान्तात्, २/७/२५–मूर्तिक-अमूर्तिक के प्रति अनेकान्त है।

एषां च स्वतस्तद्वतश्चैकत्वपृथक्त्वं प्रत्यनेकान्तः, २/१६/१२

इन इन्द्रियों का परस्पर एकत्व और पृथक्त्व के प्रति अनेकान्त है।

तेषां च स्वतस्तद्वतश्चैकत्वं पृथक्त्वं प्रत्यनेकान्तः, २/२०/५

तद्वान् में एकत्व और पृथक्त्व के प्रति अनेकान्त जानना चाहिये।

एकान्तेनादिमत्वे अभिनवशरीरसम्बन्धाभावो निर्निमित्तत्वात्,२/४१/३

एकान्त से अनादिमान् ही स्वीकार कर लेने पर निर्निमित्त होने से नवीन शरीर से सम्बन्ध का अभाव हो जायेगा।

एकान्तेनानादित्वे चानिर्मोक्षप्रसंगः, २/४१/५

एकान्त से अनादिमान मान लेने पर भी निर्मोक्ष का प्रसंग आयेगा।

अनेकान्ताच्च, ४/१३/३ इसमें भी अनेकान्त है।

अनेकशक्तिप्रचितत्वात्, ४/४२/६

आत्मा अनेक शक्तियों का आधार होने से भी अनेकधर्मात्मक है।

गुणसंद्रावो द्रव्यमिति चेत्, न एकान्ते दोषोपपत्ते, ५/२/६

एकान्त पक्ष में अनेक दोष आने से गुणों के सन्द्राव को द्रव्य कहना भी ठीक नहीं है।

एकानेकप्रदेशत्वं प्रत्यनेकान्तात् पुरुषवत्, ५/८/२१

पुरुष के समान एक-अनेक प्रदेशत्व के प्रति अनेकान्त है।

अनेकान्तात्,५/१०/४–इसमें भी अनेकान्त है।

अनेकान्तात्, ५/१२/६–इसमें अनेकान्त है।

अनेकान्तात्, ५/१६/५–अनेकान्त होने से आत्मप्रदेशों का विशरण नहीं होता।

अनेकान्ताच्च समग्रविकलेन्द्रियवत्, ५/१७/२७

समग्र और विकलेन्द्रिय की तरह यह अनेकान्त है।

अनेकान्ताच्च तत्सिद्धिः, ५/१८/५–अनेकान्त से इनके आधार-आधेय भाव की सिद्धि होती है।

अर्थान्तरमिति चेत्, न, अनेकान्तात् इन्द्रियवत्, ५/१६/२१–इन्द्रिय के समान अनेकान्त होने से मन अर्थान्तर नहीं है।

कर्मवदिति चेत् न अनेकान्तात्, ५/१६/२६–अनेकान्त होने से कर्म का दृष्टान्त भी उपयुक्त नहीं है।

व्यवस्थिताव्यवस्थितदोषादिति चेत, न अनेकान्तात्, ५/२२/१४–अनेकान्त पक्ष में व्यवस्थित और अव्यवस्थित दोष भी नहीं आते हैं।

मत्वर्थीयप्रयोगादन्यत्वं शब्दादीनां दण्डवदिति चेत्, न, अनेकान्तात्, ५/२४/२३ शब्द-बंध आदि के मतु-अर्थीय प्रत्यय का प्रयोग होने से दण्ड के समान यह पुद्गल से भिन्न है, ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि पर्याय-पर्यायी में भेदाभेद अनेकान्त है।

अनेकान्तः कारणत्वादिविकल्पः, ५/२५/१६ कारणत्वादि के प्रति अनेकान्त है।

उत्पादादीनां द्रव्यस्य चोभयथा लक्ष्यलक्षणभावानुपपत्तिरिति चेत्, न, अन्यत्वानन्यत्वं प्रत्यनेकान्तोपपत्रेः, ५/३०/११–द्रव्य के उत्पादादि के दोनों प्रकार से लक्ष्य-लक्षण भाव नहीं है, ऐसी आशंका उचित नहीं है, क्योंकि उत्पादादि के भिन्न और अभिन्न के प्रति अनेकान्त है।

अनेकान्ताच्च लावकादिवत्, ६/१/११–लावक (काटने वाला) आदि के समान इसमें अनेकान्त है।

इन्द्रियादीनामात्मनोऽनन्यत्वान्यत्वं प्रत्यनेकान्तः, ६/५/६–इन्द्रियादि आत्मा से भिन्न है कि अभिन्न, इसमें अनेकान्त है।

तदेकान्तावधारणेऽनुपपन्नम् अन्यतरैकान्तसंग्रहात्, ६/११/१०–एकान्त की अवधारणा ठीक नहीं है, किसी एक का संग्रह होने से।

एकान्तवादिनां तदनुपपत्रिर्बन्धाभावात्, ७/१३/११–बंध का अभाव होने से एकान्तवादियों के हिंसा और अधर्म की अप्राप्ति है।

स्याद्वादिनस्तदुपपत्रिरनेकान्ताश्रयणात्, ७/३६/१२–अनेकान्त का आश्रय होने

से स्याद्वादी के तो सर्व घटित हो सकता है।

अनैकान्तिकत्वात्, ८/४/११ इसमें अनैकान्तिकत्व है।

इस प्रकार तत्त्वार्थवार्तिक ग्रन्थ में विषय प्रतिपादन के लिये अनेकान्त सिद्धान्त का भरपूर प्रयोग अकलंकदेव ने किया है। अनेकान्त को गरिमा और प्रतिष्ठा देने वाले इस अनोखे चिन्तन के लिये जैन वाङ्मय की चर्चा के समय अकलंकदेव का नाम सर्वोपरि स्मरणीय रहेगा।



आचार्य अकलंकदेव की प्रत्यक्ष प्रमाण विषयक अवधारणा

डॉ० श्रेयांसकुमार जैन*

वस्तुस्वरूप के बोध के निमित्त या कारण प्रमाण, नय और निक्षेप हैं। आचार्य श्री उमास्वामी ने कहा है कि "प्रमाणनयैरधिगमः" प्रमाण और नय से वस्तु स्वरूप का बोध होता है। आचार्य अकलंकदेव कहते हैं–

ज्ञानं प्रमाणमात्यादेरूपायो न्यास इष्यते।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः।। लघी० ५२।।

आत्मा आदि पदार्थों का ज्ञान ही प्रमाण है। इनको जानने का उपाय निक्षेप है तथा ज्ञाता के अभिप्राय का नाम नय है। इनके द्वारा ही पदार्थ का ज्ञान होता है। आचार्य अकलंक भट्ट प्रमाणशास्त्र के सर्वश्रेष्ठ अधिकारी विद्वान् है। अतएव पदार्थ बोध के प्रथम कारणभूत प्रमाण के प्रमुख भेद प्रत्यक्ष पर आचार्य अकलंकभट्ट के विशेष अवदान को दृष्टि में रखकर विचार किया जा रहा है।

'विशद ज्ञान प्रत्यक्ष है।'[1] आचार्य अकलंक द्वारा विशद शब्द को लक्षण में स्थान देने का विशेष कारण है, क्योंकि आचार्य अकलंकभट्ट की प्रमाण-व्यवस्था में व्यवहार दृष्टि का भी आश्रयण हैं। इनसे पूर्ववर्ती आचार्यों ने कहा है- प्रत्यक्ष प्रमाण वह है जिसमें केवल (इन्द्रियों तथा मन की सहायता के बिना ही) आत्मा को पदार्थों का ज्ञान होता है।[2] अतएव अवधि, मनःपर्यय तथा केवलज्ञान- इन तीन ज्ञानों को ही वे प्रत्यक्ष कहते हैं तथा इन्द्रियों और मन से होने वाले मति तथा श्रुत-इन दोनों ज्ञानों को परोक्ष कहा है। आचार्य अमृतचंद्र[3] ने भी आचार्य कुंदकुंद के अनुसार ही कहा है कि मन, इन्द्रिय, परोपदेश आदि सर्व परद्रव्यों की अपेक्षा रखे बिना एकमात्र आत्मस्वभाव को ही कारण रूप से ग्रहण करके सर्व द्रव्य पर्यायों के समूह में एक समय ही व्याप्त होकर प्रवर्तमान ज्ञान केवल आत्मा के द्वारा ही उत्पन्न होता है इसलिए प्रत्यक्ष के रूप में

---

* रीडर संस्कृत, दि० जैन कालेज, बड़ौत, (उ०प्र०)

१. प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्, द्विसन्धानकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्

२. प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानम्- लघीयस्त्रय १/३

३. जदि केवलेण जादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं। प्रवचनसार, गाथा ५८

माना जाता है। राजवार्तिक में आचार्य अकलंकदेव ने परापेक्षा रहित के अर्थ में प्रत्यक्ष का स्वरूप स्पष्ट किया है। यथा- "इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षम्"[१] अर्थात् इन्द्रिय और मन की अपेक्षा के बिना व्यभिचार रहित जो साकार ग्रहण होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। आचार्य अकलंक ने न्यायविनिश्चय में भी इसी को स्पष्ट किया है- "स्पष्ट और सविकल्प तथा व्यभिचार आदि दोष रहित होकर सामान्य रूप द्रव्य और विशेष रूप पर्याय अर्थों को तथा अपने स्वरूप को जानना ही प्रत्यक्ष प्रमाण है।[२]"

प्रत्यक्ष का पदार्थ के साथ अव्यवहित (साक्षात्) संबंध होता है। इसकी मूल में दो शाखायें हैं- (१) आत्मप्रत्यक्ष, (२) इन्द्रिय-अनिन्द्रियप्रत्यक्ष। प्रथम शाखा परमार्थाश्रयी है, इसलिए इसे वास्तविक प्रत्यक्ष जाना जाता है। दूसरी औपचारिक या व्यवहाराश्रयी है। परमार्थाश्रयी प्रत्यक्ष को आत्मप्रत्यक्ष भी कहा जाता है। यह दो प्रकार का है- देशप्रत्यक्ष और सर्वप्रत्यक्ष। केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है, क्योंकि वह त्रिकाल विषयक समस्त पदार्थों को विषय करने वाला, अतीन्द्रिय, अक्रमवृत्ति, व्यवधान से रहित और आत्मा एवं पदार्थ की समीपता मात्र से प्रवृत्त होने वाला है। अवधि और मनःपर्याय ज्ञान विकल प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि उनमें सकल प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं पाया जाता है।[३] आचार्य अकलंक ने प्रत्यक्ष के तीन प्रकार के भेदों का वर्णन किया है। देवों द्वारा प्राप्त दिव्यज्ञान, द्रव्य व पर्यायों को अथवा सामान्य व विशेष पदार्थों को जानने वाला ज्ञान तथा आत्मा को प्रत्यक्ष करने वाला स्वसंवेदन ज्ञान।[४]

प्रायः सभी दार्शनिक इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं। आचार्य अकलंकभट्ट से पूर्ववर्ती सभी जैनाचार्यों का कहना है कि आत्मप्रत्यक्ष ही प्रत्यक्ष है, इसका अन्य किसी भी ज्ञान की अपेक्षा प्राथमिक स्थान है। इन्द्रियाँ परिमित प्रदेश में अतिस्थूल वस्तुओं से आगे जा नहीं सकती हैं, अतः उनसे उत्पन्न होने वाले ज्ञान को परोक्ष प्रमाण से ऊँचा स्थान देना इन्द्रियों का विशिष्ट मूल्याङ्कन होगा। इन्द्रियाँ कितनी कुशल क्यों न हों, किन्तु वे अन्ततः हैं तो परंतत्र ही। अतएव परतन्त्र जनित ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ प्रत्यक्ष मानने की अपेक्षा स्वतंत्र जनित ज्ञान को ही प्रत्यक्ष मानना

---

१. राजवार्तिक १/१२/१

२. न्यायविनिश्चय १/३

३. सकलप्रत्यक्षं केवलज्ञानं विषयीकृतत्रिकालगोचराशेषार्थत्वात् अतीन्द्रियत्वात् अक्रमवृत्तित्वात् निर्व्यवधानात् आत्मार्थ सन्निधानमात्रप्रवर्तनात्। अवधिमनःपर्ययज्ञाने विकलप्रत्यक्षम्। तत्र साकल्ये प्रत्यक्षलक्षणाभावात्।। धवल ६/४.१.४५

४. प्रत्यक्षं त्रिविधं देवैः दीप्यतामुपपादितम्
द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम्। न्यायविनिश्चय टीका १/३, पृष्ठ ११५

न्यायसंगत है। यही कारण कि जैन दार्शनिकों ने उसी ज्ञान को वस्तुतः प्रत्यक्ष माना है, जो स्वतंत्र आत्मा के आश्रित हैं। जैनाचार्यों के इस मौलिक चिन्तन के होते हुए भी न्यायविद्या निष्णात आचार्य अकलंकभट्ट ने लोकसिद्ध प्रत्यक्ष को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहकर अनेकान्तदृष्टि का उपयोग किया है।

जो ज्ञान स्पर्शनादि इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं।[1] यह ज्ञान लोक व्यवहार में प्रत्यक्ष सिद्ध है इसलिए जैनाचार्यों की परवर्ती परंपरा में न्याय-वैशेषिक आदि दार्शनिकों के साथ तारतम्य स्थापित करने के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण के स्वरूप में परिवर्तन आवश्यक समझा गया, क्योंकि इतर दर्शनों में इन्द्रियजज्ञान को ही प्रत्यक्ष प्रमाण माना गया है, अतः इन्द्रिय और मन से प्राप्त ज्ञान को व्यवहारतः प्रत्यक्ष माना है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के प्रकारों पर जैनाचार्यों ने विविध दृष्टियों से विचार किया है। आगम ग्रंथों में अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान तथा केवलज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत प्रतिपादित किया है। आचार्य कुंदकुंद और उमास्वामी इसी परम्परा के अनुयायी हैं, इनके अनुसार अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान अतीन्द्रिय ज्ञान हैं, अतीन्द्रिय ज्ञान ही वस्तुतः प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय और मन के आश्रय से होने वाला ज्ञान परोक्ष है। आचार्य अकलंकभट्ट ने प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद प्ररूपण में एक नया ही दृष्टिकोण रखा है। इन्होंने इन्द्रिय प्रत्यक्ष, अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष (स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क और अनुमान ये ज्ञान जब तक शब्दाश्रित नहीं होते तब तक मन द्वारा प्रत्यक्ष जाने जाते हैं) तथा अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष (अवधि, मनःपर्यय ज्ञान, केवलज्ञान) ये तीन प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण के स्वीकार किये हैं।[2] इन तीन भेदों में से वे प्रथम दो प्रकार को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की संज्ञा देते हैं।[3] प्रभाचन्द्र ने अकलंकभट्ट के उक्त वर्गीकरण को स्वीकार तो किया है किन्तु स्मृति आदि को अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं माना है।[4] भावसेन ने आचार्य अकलंकभट्ट की बात को पूर्ण स्वीकार करते हुए प्राचीन आचार्यों की परम्परा को भी प्रत्यक्ष के भेदों में ग्रहण कर योगिप्रत्यक्ष भेद कहा है। इसमें अवधि, मनःपर्यय तथा केवलज्ञान का समावेश किया है।[5] यहां यह ज्ञातव्य है कि आचार्य अकलंकभट्ट द्वारा

---

१. इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम्- परीक्षामुखसूत्र, २/५

२. प्रत्यक्षं विशदज्ञानं तत्त्वज्ञानं विशदम्। इन्द्रियप्रत्यक्षमनिन्द्रियप्रत्यक्षमतीनिद्रय प्रत्यक्षं त्रिधा। प्रमाणसंग्रह श्लोक १ की टीका

३. तत्र सांव्यवहारिकमिन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम्। मुख्यमतीन्द्रिय ज्ञानम्। लघीयस्त्रय श्लोक ४ की टीका

४. लघीयस्त्रय श्लोक १०-११ की संस्कृत टीका

५. विश्वतत्त्व प्रकाश, परिच्छेद ३८

मान्य मुख्य प्रत्यक्ष ही भावसेन द्वारा स्वीकृत योगिप्रत्यक्ष है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का ही एक भाग है। मानस प्रत्यक्ष का सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव किया जा सकता है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने इन्द्रिय-अनिन्द्रिय निमित्तक अतिज्ञान को कहा है, किन्तु अकलंकदेव ने इन्द्रिय प्रत्यक्ष का स्पष्ट ही वर्णन किया है। भावसेन ने विश्वतत्त्व प्रकाश में मानस प्रत्यक्ष की आत्मा के सुख, दुःख, हर्ष आदि का ज्ञान विषयक मर्यादा का प्ररूपण किया है।[1] किन्तु यह अकलंकदेव द्वारा प्रतिपादित अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के अनुकूल नहीं है। भावसेन ने स्वसंवदेना प्रत्यक्ष का स्वतंत्र प्रकार के रूप में वर्णन किया है। यह अन्य जैन ग्रन्थों में नहीं पाया जाता है किन्तु ज्ञान अपने आपको जानता है। इस विषय में तो सभी जैनाचार्य एकमत हैं।

न्यायसूत्र में प्रत्यक्ष के लक्षण में इन्द्रिय प्रत्यक्ष को ही संगृहीत किया है। प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद विषयक निरूपण में सबसे बड़ी विशेषता आचार्य सिद्धसेन के द्वारा दिखलाई गई है– 'प्रत्यक्षेणानुमानेनप्रसिद्धार्थप्रकाशनात् परस्य तदुपायत्वात् परार्थत्वं द्वयोरपि[2] अर्थात् अनुमान के समान प्रत्यक्ष के भी स्वार्थ और परार्थ–ये दो भेद किये हैं। इस वर्गीकरण को किसी भी आचार्य ने स्वीकार नहीं किया। भ० सर्वज्ञ ने प्रत्यक्ष के योगिप्रत्यक्ष और अयोगिप्रत्यक्ष ये दो प्रकार वर्जित किये हैं और इनको पुनः सविकल्पक तथा निर्विकल्पक इन दो प्रकारों में विभक्त किया है।[3]

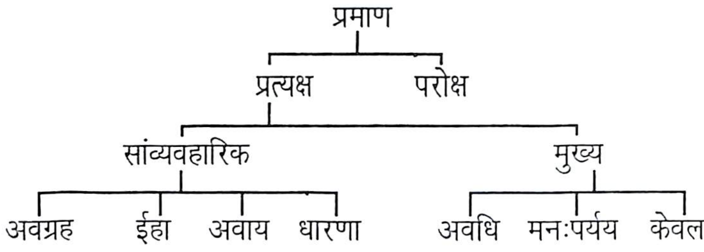
इस प्रत्यक्ष प्रमाण के भेदों के निरूपण के अनन्तर यही स्पष्ट होता है कि इन्द्रिय और मन की सहायता से जो ज्ञान होता है वह इन्द्रिय के लिए प्रत्यक्ष और आत्मा के लिए परोक्ष होता है इसलिए उसे इन्द्रिय प्रत्यक्ष या सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। इन्द्रियां धूम आदि लिंग का सहारा लिये बिना अग्नि आदि का साक्षात् करती हैं इसलिए यह इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है। इन्द्रिय और अनिन्द्रियजन्य ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहने में अनौचित्य नहीं है। सिद्धान्त की भाषा में तो उसे परोक्ष ही कहा गया है। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मतिज्ञान रूप है। इसके ३३६ भेद-प्रभेदों का विस्तृत वर्णन दार्शनिक ग्रंथों में प्रतिपादित है। अकलंकदेव के बाद दिगम्बर-श्वेताम्बर–दोनों परम्पराओं के आचार्य अपनी-अपनी प्रमाणविषयक रचनाओं में कुछ भी परिवर्तन किए बिना अकलंकभट्टकृत वर्गीकरण को स्वीकार करते हैं।

---

१ भावसेन ने योगिप्रत्यक्ष में केवलज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तथा अवधिज्ञान को समविष्ट किया है। इनमें पहले दो ज्ञान तो सिर्फ योगियों (महाव्रतियों) को होते हैं; किन्तु अवधिज्ञान गृहस्थों को भी होता है।

२ न्यायावतार, कारिका ११

३ न्यायसार, पृष्ठ ७-१३



इस प्रकार सभी ने प्रत्यक्ष के मुख्य और सांव्यवहारिक–ये दो भेद करके मुख्य में अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान– इन तीन को लिया है तथा सांव्यवहारिक में मतिज्ञान को ग्रहण किया है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के उक्त वर्गीकरण से स्पष्ट है कि जैसे अन्य दर्शनों में अलौकिक प्रत्यक्ष के भी परिचित्तज्ञान, तारक, कैवल्य (मुक्त) युंजान आदि रूप से भेद पाये जाते हैं, उसी प्रकार जैनदर्शन में भी विकल-सकल अवधि। मनःपर्यय केवलज्ञान रूप से मुख्य प्रत्यक्ष के भेद वर्णित किए गए हैं।

आचार्य अकलंक द्वारा न्यायविनिश्चय के प्रथम परिच्छेद में लिखित बौद्धदर्शन सम्मत इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के निराकरण के साथ ही सांख्य और नैयायिक सम्मत प्रत्यक्ष लक्षण कर निरसन भी न्यायविद्या के क्षेत्र अप्रतिम अवदान है।



आचार्य अकलंक की प्रमाण-मीमांसा व सत्यता की कसौटी

(समकालीन पाश्चात्य संदर्भ में)

डॉ० बच्छराज दूगड़*

आचार्य अकलंक के अनुसार प्रमाण शब्द भाव, कर्तृ और करण-इन तीनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। जब भाव की प्रधानता होती है तो प्रमा को प्रमाण कहते हैं, कर्तृ अर्थ में प्रमातृत्व-शक्ति की प्रधानता होती है, जबकि कारण अर्थ में प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण की भेद विवक्षा होती है। इनमें से विवक्षानुसार अर्थ ग्रहण किया जाता है।[१]

प्रमाण के भावसाधन और कर्तृसाधन के रूप पर कुछ आपत्तियां उठाई गई थीं, जिनका समाधान अकलंक ने किया है। यदि प्रमाण को भाव-साधन के अर्थ में लिया जाये तो चूंकि प्रमा ही प्रमाण है और प्रमा ही फल है, अतएव प्रमा के फल का अभाव हो जायेगा। इस शंका का समाधान करते हुए अकलंक कहते हैं कि आत्मा को इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान होता है वही उसका फल है, अतः प्रमाण का मुख्य फल अज्ञान-निवृत्ति ही है।[२]

प्रमाण को यदि कर्तृसाधन माना जाय तो प्रमाण प्रमाता- रूप हो जाता है। अन्य शब्दों में, प्रमाता आत्मा अर्थात् गुणी और उसका गुण रूप ज्ञान भिन्न-भिन्न होंगे, क्योंकि गुणी और गुण में भेद होता है। परन्तु ऐसी धारणा जैनदर्शन के उस आधारभूत सिद्धान्त के विपरीत जाती है, जिसके अनुसार ज्ञान आत्मा से पृथक् नहीं है। इस सन्दर्भ में अकलंक का कहना है कि आत्मा का गुण ज्ञान है। ज्ञान और आत्मा अपनी स्वाभाविक पूर्ण-अवस्था में एक दूसरे से पृथक् नहीं रह सकते। यदि ज्ञान को आत्मा से सर्वथा भिन्न माना जाता है तो आत्मा 'पट' की तरह 'अज्ञ' ज्ञानशून्य जड़ हो जायेगी।[३] कुंदकुंद का कथन है कि यदि ज्ञानी और ज्ञान को सदा एक दूसरे से

---

* सह-आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, अहिंसा, शान्ति एवं अणुव्रत विभाग, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं (राज०)

१. तत्त्वार्थवार्तिक, भाग- १, अकलंक, सं०पं० महेन्द्र कुमार, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९५३, १-१०-११

२. वही १-१०-६,७

३. वही १-१०-८,९

भिन्न पदार्थान्तर माना जायेगा तो दोनों अचेतन हो जायेंगे क्योंकि ज्ञान के बिना आत्मा नहीं रह सकती। अतः ज्ञान आत्मा है।[1]

'यदि प्रमाण और प्रमेय भिन्न-भिन्न हैं तो क्या यह सम्भव है कि कोई प्रमेय प्रमाण हो जाये' इसके उत्तर में, अकलंक कहते हैं कि यदि प्रमाण स्वयं अपना प्रमेय नहीं बन सकता, तो इसका अर्थ उसे अपनी सत्तासिद्ध करने के लिए दूसरे प्रमाण का सहारा लेना पड़ता है, दूसरे प्रमाण को तीसरे प्रमाण का और इस प्रकार अनवस्था-प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। यदि ज्ञान को दीपक की तरह 'स्व' और 'पर' का प्रकाशक माना जाये तो प्रमाण और प्रमेय के संघर्ष की उपुर्यक्त समस्या का हल हो जाता है।[2] प्रमेय निश्चित रूप से प्रमेय ही है, किन्तु प्रमाण प्रमाण भी है और प्रमेय भी।[3]

ज्ञान की प्रमाणता :

जैनदर्शन सिद्धान्ततः प्रमाण को कई अर्थों में प्रयोग करता है, लेकिन उसको मुख्यतः ज्ञान के अर्थ में ही प्रयोग करता है परन्तु ऐसा मानने का कारण क्या है' इसे स्पष्ट करने के लिए प्रमाण का लक्षण जानना अपेक्षित है। अकलंक के अनुसार-जो प्रमा का साधकतम कारण हो या जिसके द्वारा अच्छी तरह से जाना जाता है, वह प्रमाण है।[4]

माणिक्यनन्दि के अनुसार- हेय (त्याज्य) एवं उपादेय (ग्राह्य) रूप-पदार्थों की संसिद्धि ज्ञान-प्रमाण से होती है।[5] अर्थ- संसिद्धि के प्रधान कारणभूत प्रमाण से वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है। अतः स्पष्ट है कि प्रमाण का कार्य वस्तु के यथार्थ रूप को प्रदर्शित करना है। प्रमाण के इस कार्य में ज्ञान सहायक होता है। अन्य दर्शनों द्वारा मान्य सन्निकर्ष, इन्द्रियवृत्ति, योग्यता आदि ज्ञान की उत्पादक सामग्री में तो सम्मिलित किये जा सकते हैं, किन्तु वे स्वयं अचेतन होने के कारण प्रमाण के साक्षात्करण नहीं हो सकते।[6] प्रमाण का साक्षात्-करण तो चेतन ज्ञान ही हो सकता है।

---

१. पञ्चास्तिकाय समयसार, कुंदकुंद, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १६१६, गाथा, ४८-४६

२. तत्त्वार्थवार्तिक १-१०-१२

३. वही, १-१०-१४

४. वही, पृ० २६७

५. परीक्षामुख, माणिक्यनन्दी, सैन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ, १६४०, १.२

६. प्रमाण-मीमांसा, हेमचन्द्र, अंग्रेजी अनुवाद, सत्करि मुखर्जी, तारा पब्लिशिंग हाउस, वाराणसी, १६७०. १.८

लघीयस्त्रय की विवृत्ति में इसी ज्ञान की प्रमाणता का समर्थन करते हुए अकलंक देव ने लिखा है कि आत्मा को प्रमिति-क्रिया या स्वार्थविनिश्चय में, जिसकी अपेक्षा होती है, वही प्रमाण है और वही साधकतम रूप से अपेक्षणीय ज्ञान है।[1]

प्रमाण संप्रत्यय के विकास में अकलंक का योगदान -

प्रमाण संप्रत्यय के विकास में अकलंक के योगदान को देखने के लिए प्रमाण-विषयक ऐतिहासिक विवेचनों को देखना होगा। उमास्वाति ने सर्वप्रथम, ज्ञान और प्रमाण का स्पष्ट निरूपण किया था। अतः उमास्वाति की प्रमाण-परिभाषा का विश्लेषण आवश्यक है। इनके मत में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यर्यज्ञान और केवलज्ञान, ज्ञान के प्रमाण के पांच प्रकार हैं।[2] उमास्वाति के ही मत में सम्यक्-ज्ञान ही प्रमाण है[3] जिसका अर्थ है जो प्रशस्त हो, अव्यभिचारी हो और संगत हो।

उमास्वाति के पश्चात्‌वर्ती विचारकों ने प्रमाण के लक्षण में 'ज्ञान' को तो स्थान दिया किन्तु उस ज्ञान के 'सम्यक्' विशेषण के स्थान पर अन्य विशेषणों का प्रयोग किया। सिद्धसेन[4] ने "स्वपरावभासि" व "बाधविवर्जित"[5] ज्ञान को प्रमाण कहा।

अकलंकदेव ने प्रमाण संप्रत्यय का विकास करते हुए एक नया लक्षण दिया "अविसंवादी"।[6] उनके अनुसार अविसंवादी ज्ञान प्रमाण है, क्योंकि स्वसंवेदन तो ज्ञान सामान्य का लक्षण है। प्रमाणता और अप्रमाणता का निर्णय अविसंवाद और विसंवाद के आधार पर करना चाहिए। अकलंक द्वारा प्रमाण के इस नवीन लक्षण का औचित्य यही है कि कोई भी ज्ञान एकान्त रूप से प्रमाण नहीं होता। चूंकि इन्द्रियां सीमित शक्ति वाली होती हैं, इसलिए इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान सदैव सत्य नहीं होता। रेल से बाहर दिखाई देने वाले वृक्ष, मकान, पहाड़ आदि के अस्तित्व के विषय में कोई विसंवाद न होने के कारण उन चीजों का ज्ञान अविसंवादी होने से प्रमाण ही है। अविसंवादी ज्ञान को प्रमाण मान लेने पर अविसंवादी ज्ञान के अर्थ का स्पष्टीकरण

१. न्यायकुमुदचन्द्र, (अकलंक की लघीयस्त्रय पर टीका) प्रभाचन्द्र, सं० पं० महेन्दकुमार, मानिकचन्द्र दिगम्बर जैन सीरीज, बम्बई १६३८, १.३
२. मतिश्रुताऽवधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्। तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति, सं० पं० सुखलाल संघवी, भारत जैन महामण्डल, वर्धा, १६३२, १.६
३ तत्प्रमाणे। वही १.१०
४. प्रमाणं स्वपरावभासिज्ञानं बाधविवर्जितम्, न्यायावतार वार्तिक, सिद्धसेन, सिंघी जैन ग्रंथमाला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १६४६, १२
५. न्यायावतार, १.२
६. अष्टसहस्री (अकलंक की अष्टशती पर टीका) विद्यानन्द, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १६१५, पृ० १७५

आवश्यक हैं अकलंक के अनुसार, अविसंवादी ज्ञान का अर्थ है ऐसा ज्ञान जिसमें बाह्य वस्तु जैसी है वैसी ही ज्ञान में प्रकट हो जाये। इन शब्दों में बाह्य वस्तु का यथावत् ज्ञान में प्रकटीकरण ही अविसंवाद है।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि अकलंक अविसंवादी ज्ञान को प्रमाण मानते हुए उसे अनधिगतार्थग्राही भी कहते हैं।[1] प्रमाण के इस नवीन लक्षण का अभिप्राय है- ऐसा ज्ञान प्रमाण होगा जिसका किसी दूसरे प्रमाण से निर्णय न किया गया हो अर्थात् प्रमाण का विषय 'अपूर्व' हो।

माणिक्यनन्दि अकलंकदेव के प्रमाण के उपर्युक्त नवीन लक्षण का समर्थन करते प्रतीत होते हैं जब वे प्रमाण के लक्षण में 'अपूर्व' विशेषण देते हैं। साथ ही कहते हैं कि 'स्व' अर्थात् अपने आपके और 'अपूर्वार्थ' अर्थात् जिसे किसी अन्य प्रमाण से नहीं जाना जा सकता, ऐसे पदार्थ के निश्चय करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।[2]

प्रमाण की उक्त परिभाषाओं के विश्लेषण के यह स्पष्ट होता है कि जैन दार्शनिकों द्वारा प्रमाण के लक्षण के रूप में विविध पदों का प्रयोग किया गया है, जैसे- सम्यक्, अविसंवादी, अनधिगतार्थग्राही, स्वपूर्वार्थव्यवसायी, स्वपराभासि और बाधविवर्जित। यहाँ स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता है कि प्रमाण के विषय में यह मतभेद क्यों है? वस्तुतः शब्दों की इन विभिन्नताओं के पीछे सत्यता की कई कसौटियां छिपी हैं।

प्रमाण की सत्यता की कसौटी :

पूर्व विवेचन से स्पष्ट हो चुका है कि जैन-दार्शनिकों के अनुसार (जिनमें अकलंक भी सम्मिलित हैं) ज्ञान प्रमाण है, लेकिन चूंकि सभी ज्ञान प्रमाण नहीं माने जा सकते, इसलिए यहाँ ज्ञान के 'सत्यापन' का प्रश्न उठता है। सत्यापित ज्ञान ही प्रमाण है। ज्ञान की परीक्षा किस आधार पर की जा सकती है, 'सत्य' का क्या अर्थ है, इसी की व्याख्या के लिए जैन-दार्शनिकों द्वारा सम्यक्, अविसंवादी, स्वपरावभासिक, स्वपूर्वार्थव्यवसायी, अनधिगतार्थग्राही और बाधविवर्जित आदि विविध पदों का प्रयोग किया गया है। इन मापदण्डों द्वारा ही उन्होंने 'सत्य' के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। सत्यता के इन मापदण्डों में आपस में कोई संगति प्रतीत नहीं होती है। यह बात यदि पाश्चात्य-दर्शन में सत्य के स्वरूप और कसौटियों के अध्ययन के सन्दर्भ में जैन-दर्शन की सत्यता के स्वरूप और कसौटियों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाये तो अधिक स्पष्ट होगी।

१. वही, पृ० १७५

२. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञान प्रमाणम्। परीक्षामुख १.१

पाश्चात्य-दर्शन में मुख्यतः सत्यता की तीन कसौटियां हैं- संवादिता (या अनुकूलता) का सिद्धान्त (Correspondence Theory), अबाधिता (अथवा सामंजस्य) का सिद्धान्त (Coherence Theory) और अर्थक्रियावादी (या उपयोगितावादी) सिद्धान्त (Pragmatic Theory)।[१]

सत्य के संवादिता सिद्धान्त के अनुसार सत्य वह है जो यथार्थ से मेल खाये, जो वास्तविकता के अनुरूप हो। इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार अनुकूलता को सत्य का लक्षण ही नहीं वरन् सत्यता की कसौटी भी माना गया है।

जैनदर्शन सत्यता की इस कसौटी से वहाँ सहमत प्रतीत होता है, जहाँ प्रमाण का लक्षण सम्यक्त्व (उमास्वाति) और अविसंवादित्व (अकलंक) माना गया है। सम्यक्त्व को परिभाषित करते हुए उमास्वाति ने कहा है कि सम्यक्ज्ञान वह है जो पदार्थ को न्यूनतारहित एवं अधिकतारहित ज्यों का त्यों जानता है। इसी प्रकार अविसंवादित्व का लक्षण करते हुए अकलंक कहते हैं कि-वह ज्ञान जिसका तथ्य या यथार्थता से विसंवाद न हो, ऐसा ज्ञान जिसमें बाह्यार्थ की यथावत् उपलब्धि हो। बाह्यार्थ की यथावत् प्राप्ति या अप्राप्ति पर अविसंवाद और विसंवाद निर्भर है। अतः इससे यहां निष्कर्ष निकलता है कि वह ही ज्ञान सत्य (या दूसरे शब्दों में प्रमाण) हो सकता है जो सम्यक् हो (उमास्वाति तथा हेमचन्द्र के अनुसार) तथा अविसंवादी हो (अकलंक के अनुसार) और वस्तु का यथातथ्य चित्रण अथवा यथार्थता की यथावत् ज्ञान में उपस्थिति कराता हो, यही सत्यता की कसौटी है।

सत्य की इस कसौटी को यदि मान लिया जाये, तो इसमें कुछ कठिनाइयां सामने आती हैं, जैसा कि इस कसौटी को मानने वाले पाश्चात्य दार्शनिकों के सामने भी आती रही हैं। ज्ञान की यथार्थता से अनुरूपता उस तरह नहीं मापी जा सकती, जिस तरह कोई भौतिक वस्तु मापी जाती है। इसके अतिरिक्त, कोई किसी तथ्य का संवादी है- यह कैसे कहा जा सकता है? ज्ञान तथ्य के अनुकूल है- यह कहना तभी सार्थक है, जबकि हमें उस तथ्य का, उस ज्ञान से, कोई स्वतंत्र पूर्वज्ञान हो चुका हो, लेकिन प्रश्न उठता है- जिसका पूर्वज्ञान हो चुका हो उसके फिर से ज्ञान होने का क्या औचित्य है? यहाँ वस्तुतथ्य का पूर्वज्ञान होना प्रमाण के अनधिगतार्थग्राही लक्षण के विरुद्ध है, क्योंकि इस लक्षण के अनुसार प्रमाण का कार्य प्रमाणान्तर से अनिर्णीत अर्थ का निर्णय

---

१. Dictionary of Philosophy. Ed. Dogo Bert D. Runes, Philosophical library, New york. १९४२, page ३२१-२२.

करना होता है। यह कथन कि 'पत्तियां हरी हैं' तथ्य के साथ संवाद रखता है, अतः पुनरुक्ति मात्र है, क्योंकि तथ्य स्वयं ज्ञात विषयों में हुआ करते हैं। तथ्य तथा सत्य एक ही बात है। अतः मात्र संवादित्व से प्रत्येक ज्ञान के सत्य की सिद्धि नहीं की जा सकती। एक तो ज्ञान का वस्तुतथ्य से संवाद स्थापित करना ही असम्भव है, फिर यही वस्तुतथ्य की हमारी धारणा गलत है तो संवाद भी गलत होगा, जिसके परिणामस्वरूप मिथ्याज्ञान भी सत्यसिद्ध हो जायेगा।

कुछ जैन-दार्शनिकों ने प्रमाण के तीन लक्षण बताये हैं- अबाधित्व, अव्यभिचारितत्व और संगति। जैसा कि पूर्वविवेचन से स्पष्ट हो चुका है कि उस ज्ञान को प्रमाण मानेंगे जिस ज्ञान की शेष ज्ञान से संगति हो। इसका आशय यह है कि कुछ दार्शनिकों ने सत्यता की कसौटी संगति मानी है। पाश्चात्य-दर्शन में भी आदर्शवादी दार्शनिक, जिनमें हेगेल, ग्रीन, बोसांके और ब्रेडले प्रमुख हैं, ने संगति को सत्यता की कसौटी माना है इनके अनुसार हमारे ज्ञान की सत्यता शेष ज्ञान के साथ संगति में निहित है। यदि हमारा वर्तमान ज्ञान पूर्वज्ञान के विपरीत है तो हो सकता है कि हमारा वर्तमान ज्ञान गलत हो। यद्यपि कभी-कभी ऐसा भी होता है कि नवीन खोजों एवं अनुसंधानों के द्वारा हमारा पूर्वज्ञान गलत सिद्ध कर दिया जाता है, और नवीन ज्ञान को सत्य। किन्तु यहां पर स्पष्ट है कि नवीन ज्ञान और पूर्वज्ञान में संगति स्थापित कर दी गयी और दोनों में विरोध समाप्त कर दिया गया। इसका तात्पर्य है कि किसी भी स्थिति में बाधित ज्ञान सत्य नहीं माना जा सकता। ज्ञान में संगति, ज्ञान की सत्यता के विश्वास के लिए आवश्यक है। ज्ञातव्य है कि सत्यता की यह कसौटी अकलंक व माणिक्य नंदी के 'अपूर्व' विशेषण की विरोधी है।

सत्यता की इस कसौटी में भी कई कठिनाइयां हैं। तर्कशास्त्र में अबाधिता (Non-Contradiction) विश्लेषणात्मक परामर्शों की सत्यतका की कसौटी है विश्लेषणात्मक परामर्शों का अर्थ है- ऐसे परामर्श जो कोई नवीन ज्ञान तो नहीं देते हैं, परन्तु इन परामर्शों में विधेय उद्देश्य का स्पष्टीकरण मात्र करते हैं। विश्लेषणात्मक परामर्श को एक उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं। जैसे- त्रिभुज के तीनों कोणों का योग दो समकोणों के योग के बराबर होता है, इस विश्लेषणात्मक परामर्श में उद्देश्य त्रिभुज के तीनों कोणों के योग से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विधेय दो समकोण के योग के बराबर होगा किन्तु ज्ञान विधेय द्वारा उद्देश्य के स्पष्टीकरण तक सीमित नहीं है। अतः ज्ञान को विश्लेषणात्मक परामर्शों तक सीमित नहीं किया जा सकता है,

ज्ञान में विधेय को उद्देश्य में कुछ नई बातें जोड़नी चाहिए। जिस परामर्श में विधेय उद्देश्य में कुछ बातें जोड़ता है, उस परामर्श को संश्लेषणात्मक परामर्श कहते हैं।

अतः स्पष्ट है कि यदि सत्यता की कसौटी अबाध का नियम मान लिया जाये तो ज्ञान सिर्फ विश्लेषणात्मक परामर्शों तक सीमित रह जायेगा और सम्पूर्ण ज्ञान संदेहयुक्त हो जायेगा। पाश्चात्य-दर्शन में डेविड ह्यूम ने इसी प्रकार मात्र अबाध-नियम को सत्य की कसौटी मानकर सम्पूर्ण ज्ञान को संदेहयुक्त सिद्ध किया था। ह्यूम के पश्चात्वर्ती जर्मन दार्शनिक इमैन्युअल कांट ने ह्यूम के मत का तर्कपूर्ण खंडन कर दिया था। कांट ने दिखाया: कि संश्लेषणात्मक परामर्शों की सत्यता पर संदेह नहीं किया जा सकता है। ज्ञान सिर्फ यह नहीं है कि 'चौकोर गोल नहीं है', वरन् इस ज्ञान की सत्यता में किंचित् संदेह नहीं किया जा सकता कि अमुक मेज एक विशिष्ट आकार और विशिष्ट रंग की है।

यदि संगति और अबाधिता को ज्ञान की सत्यता की कसौटी माना जाये तो जिस प्रकार सत्य-ज्ञानों में सामंजस्य स्थापित किया जाता है, उसी प्रकार असत्य ज्ञानों में सामंजस्य स्थापित करके असत्य-ज्ञानों का समूह बना लेना असम्भव नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि संगति और अबाधिता को सत्य की कसौटी मानने पर सत्य और भ्रमपूर्ण ज्ञानों में अंतर नहीं किया जा सकता है, क्योंकि भ्रमपूर्ण ज्ञानों में भी संगति स्थापित की जा सकती है।

माणिक्यनन्दि द्वारा बताये गये प्रमाण के लक्षण का विश्लेषण करने पर सत्यता की एक अन्य कसौटी सामने आती है- **अर्थक्रियावादी कसौटी।** इस कसौटी के अनुसार कोई ज्ञान तभी सत्य कहा जा सकता है जब मानव-व्यवहार द्वारा निरीक्षण-परीक्षण द्वारा उस ज्ञान को परख लिया जाये। डिवी के अनुसार सत्य का केवल एक अर्थ है- परीक्षित। अर्थक्रियावादी विलियम जेम्स के अनुसार केवल उन्हीं प्रत्ययों को सत्य कहा जा सकता है, जो प्रयोग द्वारा प्रमाणित किये जा सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि ज्ञान अनुभवाश्रित परीक्षण के पश्चात् ही सत्य सिद्ध होता है।

इस सिद्धान्त में भी कई कठिनाइयां हैं। सर्वप्रथम तो सत्य का निर्णय सदैव परीक्षण नहीं होता, दूसरे उपयोगिता की अनुभूति में भ्रम हो सकता है। इसके अतिरिक्त यह आवश्यक नहीं है कि जो उपयोगी है वह यथार्थ है। कभी किसी परिस्थिति में झूठ बोलना उपयोगी हो सकता है, किन्तु इस उपयोगिता से उस झूठ की यथार्थता सिद्ध नहीं की जा सकती। उपयोगिता और सत्यता में अनिवार्य संबंध नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से यही सिद्ध होता है कि प्रमाण सत्यता की कसौटी पर परखा हुआ ज्ञान है। प्रमाण ज्ञानमात्र नहीं है, अपितु परीक्षित ज्ञान है, सत्यापित ज्ञान है।

अकलंक देव ने प्रमाण का एक लक्षण दिया- "अनधिगतार्थग्राही" और माणिक्यनन्दि ने भी प्रमाण का एक लक्षण दिया- "स्वापूर्वार्थव्यवसायी"। अकलंक के अनुसार, अनिधगत का अर्थ है ऐसा ज्ञान प्रमाण होगा जो प्रमाणान्तर से अनिर्णित अर्थ का निर्णय करे। इसी प्रकार माणिक्यनन्दि के "स्व" अर्थात् अपने और "अपूर्वार्थ" अर्थात् जिसे किसी अन्य प्रमाण से नहीं जाना गया है, ऐसे पदार्थ के निश्चय करने वाले ज़्ञान को प्रमाण कहा है। यदि प्रमाण के ये "अपूर्व" और "अनधिगत" विशेषण मान लिये जाते हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि प्रमाण सत्यापित ज्ञान नहीं प्रत्युत ऐसा ज्ञान है जिसको पहले किसी प्रमाण से नहीं जाना गया है। अतः प्रमाण के लक्षण परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार उमास्वामी, अकलंक, सिद्धसेन, माणिक्यनंदी आदि दार्शनिकों के प्रमाण के लक्षण के विवेचन से स्पष्ट होता है कि इनके द्वारा प्रमाण के लक्षण कथन में सत्यता की विविध कसौटियों को माना गया। साथ ही, पाश्चात्य-दर्शन की सत्यता की विविध कसौटियों से इन दार्शनिकों के प्रमाण लक्षण की तुलना करने पर एक नई बात सामने आई कि जहाँ पाश्चात्य- दार्शनिकों द्वारा सत्यता की इन विविध कसौटियों को परस्पर विरोधी माना गया है और किसी एक कसौटी को ही अंतिम रूप से चुना गया है, वहीं इन दार्शनिकों द्वारा प्रमाण के लक्षण के रूप में एक साथ ही सत्यता ने ये विविध कसौटियां स्वीकार की हैं।

प्रश्न उठता है कि इन दार्शनिकों द्वारा प्रमाण के लक्षण में एक साथ सत्यता की ये विविध कसौटियां क्यों मानी गयीं, इसका उत्तर खोजा जा सकता है जैनदर्शन की विशिष्ट तत्वमीमांसा में, जिसका अनिवार्य सार निकलता है उनकी अनेकान्तवादी दृष्टि, जो इनके सम्पूर्ण दर्शन में व्याप्त है। इस अनेकान्तवाद के सिद्धान्त के अनुसार वस्तु में विरुद्ध प्रतीत होने वाले अनन्तधर्म रह सकते हैं क्योंकि वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। वस्तु में जितने विरोधी धर्म हैं सब सत्य हैं, क्योंकि वस्तु-विषयक सम्पूर्ण यथार्थता का ज्ञान उन विरोधी धर्मों के समन्वय में निहित है। अतः वस्तु के विषय में सभी मत उपयोगी हैं, क्योंकि वे वस्तु के विविध पहलुओं का कथन करते हैं और वस्तु के विषय में सम्पूर्ण सत्य को जानने में सहायक होते हैं। वस्तुओं के विषय में जो नाना मत-मतान्तर हैं उनका कारण वस्तु का अनेक धर्मात्मकस्वरूप है।[1]

१ पंचास्तिकाय, गाथा-८

पाश्चात्य- दार्शनिक वस्तु और सत्यता की एक कसौटी मानते हैं और दूसरी कसौटी को उस कसौटी का विरोधी सिद्ध करते हैं क्योंकि उनके मत में सत्ता का स्वरूप अपरिवर्तनशील है। इसके विपरीत, जैनदार्शनिक वस्तु का विवेचन एक विशिष्ट रूप में करते हैं। वस्तु-विषयक सभी दृष्टियां उस विशिष्ट दृष्टिकोण के संबंध में सत्य हैं। सभी दृष्टियां सत्य को जानने के सम्भावित माध्यम हैं। इससे सिद्ध होता है कि इन दार्शनिकों द्वारा प्रमाण के जो विभिन्न लक्षण दिये गये हैं, वे सम्भव हैं, क्योंकि वस्तु में विभिन्न गुण सम्भव हैं।



अकलंक और जीव की परिभाषा

डॉ० नंद लाल जैन*

शास्त्रार्थी, टीकाकार; जैनन्याय, प्रमाणवाद एवं अनेकान्त के प्रकाशक भट्ट अकलंक का नाम सुनते ही न्याय और सिद्धांत के विद्वानों को महान् गौरव का अनुभव होता है। यद्यपि सिमोवा जिले में प्राप्त दसवीं सदी के एक शिलालेख में उनका नाम पाया गया है, फिर भी यह दुर्भाग्य की बात है कि उनका प्रामाणिक जीवन चरित्र हमें उपलब्ध नहीं है। हम प्रभाचन्द्र के कथाकोष, मल्लिषेण प्रशस्ति, राजबली कथे एवं अकलंक चरित्र से उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं का विवरण पाते हैं। उनकी प्रशंसा में श्रवणबेलगोला में अनेक अभिलेख हैं और ६७वें अभिलेख में साहसतुंग को उनका संरक्षक बताया गया है। इनका जीवन काल ७२०-७८० ई० माना जाता है। ये दक्षिण देश के राष्ट्रकूट प्रदेश के रहे हैं। इनके जीवन काल में महाराज दंतिदुर्ग साहसतुंग (७२५-७५७), अकालवर्ष शुभतुंग (७५७-७३), गोविंद द्वितीय (७७३-७६) एवं ध्रुव (७७६-६३) नामक चार राजाओं ने राष्ट्रकूट क्षेत्र (महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान और दक्षिण में आंध्र-कर्नाटक) में प्रभावी राज्य किया। इनके जीवन काल में राजस्थान-गुजरात में आचार्य हरिभद्र (७००-७० ई०) , उत्तरप्रदेश के कन्नौज और बंगाल के बिहारी आचार्य वप्पभट्टि (७४३-८३८ ई०) और बदनावर, मध्य प्रदेश में आचार्य जिनसेन प्रथम ने जिनधर्म प्रभावना एवं साहित्य सृजन किया। इनमें हरिभद्र और जिनसेन तो उनके विषय में जानते थे, पर संभवतः वप्पभट्टि इनसे अपरिचित रहे होंगे। अकलंक का युग शास्त्रार्थी युग था। प्रायः आचार्यों का बौद्धों से शास्त्रार्थ होता था। वप्पभट्टि ने ६ महीने तक चले शास्त्रार्थ में बौद्ध विद्वान् वर्धनकुंजर को हराया था। हरिभद्र ने भी महाराज सूर्यपाल की सभा में बौद्धों को शास्त्रार्थ में हराया। अकलंक ने भी साहसतुंग के समय में बौद्धों को शास्त्रार्थ में हराया। उन्होंने उड़ीसा में भी शात्रार्थ का डंका बजाया था। शास्त्रार्थ के अतिरिक्त, बचपन में ब्रह्मचर्य, बौद्ध विद्यालय में गोपनीय रूप से शिक्षा तथा टीका और मौलिक ग्रंथों का लेखन आदि उनके जीवन की प्रमुख घटनाएं हैं।

अकलंक की कृतियां :

अकलंक के ४ मौलिक और २ टीका ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। मौलिक ग्रंथों में प्रमाण

---

* जैन केन्द्र, रीवां (म०प्र०)

नय और निक्षेपों की विषद चर्चा है। यह ऐसी उच्चस्तरीय एवं तर्कशास्त्रीय चर्चा है कि इसी के कारण "प्रमाणमकलंकस्य" की उक्ति प्रसिद्ध हुई है। यह हर्ष की बात है किं इनके सभी मौलिक ग्रंथ सटिप्पण प्रकाशित हो चुके हैं। इनके टीकाग्रंथों में (१) समंतभद्र की आप्तमीमांसा पर अष्टशती-८०० श्लोक प्रमाण टीका एवं (२) उमा स्वामी के तत्त्वार्थसूत्र पर राजवार्तिक टीका समाहित हैं। ये दोनों टीकाएँ क्या; भाष्य ही हैं। इनमें अकलंक की तर्कशैली, प्रश्नोत्तरशैली और अनेकांतवाद-आधारित निरूपण-शैली मनोहारी है। वस्तुतः शास्त्रार्थ और कृतियों के कारण ही जैनदर्शन तो क्या, भारतीय दर्शन के इतिहास में अकलंक को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। जैनन्याय के तो वे जनक ही कहलाते हैं। विचारों के विकास की दृष्टि से, ऐसा प्रतीत होता है कि अकलंक ने टीका ग्रंथ पहले लिखे होंगे और मौलिक ग्रंथ बाद में। उदाहरणार्थ, राजवार्तिक में प्रत्यक्ष के दो भेद नहीं हैं, वे लघीयस्त्रय में हैं। हम यहां केवल राजवार्तिक में वर्णित जीव की परिभाषा पर विचार करेंगे।

राजवार्तिक :

राजवार्तिक उमास्वामी के बहुमान्य तत्त्वार्थसूत्र की दूसरी टीका है। इसमें गद्यात्मक रूप में सर्वार्थसिद्धि के अधिकांश वाक्यों को तथा स्वतंत्र रूप में नये रचे वार्तिक (लघुसूत्र) के रूप में प्रस्तुत कर उनकी व्याख्या की है। इस वार्तिक की रचना संभवतः नैयायिक विद्वान् उद्योतकर के न्यायवार्तिक का अनुकरण है। चूंकि तत्त्वार्थसूत्र में अनेक प्रकरणों में आगमिक परम्परा अनुमोदित हुई है, (कर्मबन्ध के पाँच हेतु, प्रत्यक्ष के दो भेद, अनुयोगद्वार आदि), अतः अकलंक ने भी अपनी टीका में प्रायः उसका अनुसरण किया है। दीक्षित की यह अभ्युक्ति समुचित नहीं लगती, कि इस ग्रंथ में अष्टशती की तुलना में मौलिकता नहीं दिखती क्योंकि अनेक जैन और जैनेतर विद्वानों ने इस ग्रंथ को भी जैनधर्म का तार्किक भाषा में प्रस्तुत सार एवं अनेक नये विषयों की उत्थापना का स्रोत बताया है। आचार्य हरिभद्र ने तो मुख्यतः अनेकान्तवाद को ही पल्लवित किया, पर अकलंक ने जैन प्रमाणवाद को भी पल्लवित किया जो अब तक प्रसप्त अवस्था में था। उन्होंने विभिन्न तन्त्रों के सिद्धान्तों को मूल्यांकित कर जैन मान्यताओं की तर्कसंगत वरीयता पुष्ट की। फिर भी, विद्यानंद की तुलना में अपने मूल्यांकनों में अकलंक किंचित् दुर्बल लगते हैं, क्योंकि उनकी भाषा में सौष्ठव एवं मृदुता है। दीक्षित के विपर्यास में, पंडित जी के समान विद्वानों ने राजवार्तिक को अकलंक की प्रतिभा और नवीनता की प्रतीक बताया है और उसे सर्वार्थसिद्धि-आधारित होने पर भी मौलिक-जैसा बताया है। दिगम्बर विद्वान् भी दीक्षित के मत से सहमत

नहीं हैं।

राजवार्तिक में तत्त्वार्थसूत्र के विषयों के अनुसार सात तत्त्वों का भाष्य रूप में तार्किक एवं अनेकान्ती विवरण है। मनोरंजन की बात यह है कि उमास्वामी के मूलसूत्रों में "आत्मा" शब्द का प्रयोग नहीं है, वहां प्रत्येक स्थल पर "जीव" शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। यह भी ११ स्थलों पर आया है। इनमें केवल २-३ स्थानों पर ही जीव की परिभाषा दी गई है। इससे अनेक बातें ध्वनित होती हैं। प्रथम, उमास्वामी के युग तक जैनों में आत्मा शब्द लोकप्रिय नहीं हो पाया होगा। इस शब्द की स्थिति ठीक उसी प्रकार की लगती है जैसे उत्तरवर्ती काल में "अस्तिकाय" के लिए "द्रव्य" शब्द का समाहार हुआ या "पर्याय" के लिए "विशेष" शब्द का प्रचलन हुआ। श्वेताम्बर आगमों में भी आत्मा शब्द की तुलना में जीव शब्द का ही अधिक प्रयोग है लेकिन पूज्यपाद और अकलंक के समान टीकाकारों ने अपनी टीकाओं में जीव की व्याख्या के समय आत्मा शब्द का प्रायः प्रयोग किया है। लगता है, इन्होंने दोनों शब्दों को समानार्थी मान लिया। पर यह संग्रहनयी दृष्टि ही हो सकती है, समभिरूढ़नयी दृष्टि नहीं। इस आधार पर इनके विशिष्ट अर्थ होते है :

आत्मा+ शरीर = जीव, सशरीरी प्राणी, देहबद्ध चेतनतत्त्व

जीव - शरीर = आत्मा, देहमुक्त चेतनतत्त्व।

इससे लगता है कि टीकाकारों के युग में कम से कम दक्षिण में "आत्मा" शब्द प्रचलन में था। फलतः जैसे दार्शनिक शब्दावली की समकक्षता के स्थापन की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष को इंद्रिय (एवं अनिंद्रिय) के रूप में भी माना गया, परमाणु को व्यवहार रूप में भी माना गया, उसी प्रकार, अन्य दर्शनों के साथ तुलना की दृष्टि से जीव के लिए "आत्मा" से अभिहित करने की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। इस जीव और आत्मा शब्द के प्रारम्भिक समाहार के प्रकरण से यह भी अनुमान लगता है कि उमास्वामी का कार्यक्षेत्र दक्षिण न होकर उत्तर (पटना) में ही होगा। अन्य तंत्रों के समकक्ष- से लगने वाले पारिभाषिक शब्दों के समाहरण से जहाँ जैनों की समन्वयवादिता प्रकट होती है, वहीं उनकी ज्ञान के क्षेत्र में पृथकतावादी वृत्ति के प्रति उदारता का भी संकेत देती है। जीव शब्द के उत्तरवर्तीकाल में आत्मा शब्द के उपयोग और उसकी परिभाषा से यह धारणा भी खण्डित होती है कि धर्मज्ञ "सूक्ष्म" से "स्थूल" की ओर बढ़ते हैं। वे जीव से आत्मा की ओर बढ़े। यहाँ स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति ही दिखती है। यह वैज्ञानिक प्रवृत्ति है। संभवतः ऐसे ही प्रकरणों के कारण धर्म को "विज्ञान" मानने की परंपरा का सूत्रपात हुआ होगा।

जीव (स्थूल) ----- आत्मा (सूक्ष्म)

जीव की परिभाषा के प्रारम्भिक रूप :

जैनदर्शन में जीव शब्द की ही नहीं, अपितु जीव की भी दुर्गति है। उसे जिस घृणा और भर्त्सना से वर्णित किया गया है, उसे देखकर जहां आचार्यों की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का आभास होता है, वहीं उनकी अतिशयोक्ति अलंकार एवं वीभत्स रस में प्रवीणता भी प्रकट होती है। ये वर्णन आज के मनोवैज्ञानिक प्रचार तंत्र को भी मात करते हैं। यह वर्णन कभी भी सामान्य जन को रास नहीं आया इसीलिए मोक्ष मार्ग के पथिकों की संख्या कभी नहीं बढ़ पाई।

भाषिक दृष्टि से प्राप्त जैनों की सबसे प्राचीन पुस्तक- आचारांग में जीव के वाचक ४ शब्द दिये हैं- प्राण, भूत, जीव एवं सत्त्व। भगवतीसूत्र और शीलांकाचार्य ने इनके जो अर्थ किए हैं, वे सारिणी एक में दिए गये हैं। भगवती ने इनमें २/१ में २ शब्द और जोड़े हैं और बाद में जीव के २३ पर्यायवाची बताये हैं। इनमें "आत्मा" भी एक पर्यायवाची है। इसका अर्थ निरंतर संसार-भ्रमण-स्वभावी बताया गया है (अभयदेव सूरि)। फलतः जीव का प्रारम्भिक अर्थ तो संसारी जीव ही रहा है। अन्य दर्शनों से "आत्मा" शब्द के समाहरण पर भी उसका प्रारम्भिक जैन अर्थ संसारी जीव ही रहा है, उसका अन्य अर्थ (शुद्ध जीव, जीव-कर्म आदि) उत्तरवर्ती विकास है।

सारिणी १ : जीव-वाचक प्राचीन शब्दों के अर्थ

शब्द	भगवती	शीलांक
१. प्राण	दस प्राणों से युक्त	२-४ इन्द्रिय जीव (त्रस)
२. भूत	त्रैकालिक अस्तित्व	एकेंद्रिय वनस्पति (स्थावर)
३. जीव	आयुष्यकर्म एवं प्राणयुक्त	पंचेन्द्रिय (त्रस)
४. सत्त्व	कर्म-संबंध से विषादी	एकेंद्रिय पृथ्वी आदि चार (स्थावर)
५. विज्ञ	खाद्य-रसों का ज्ञाता	--------
६. वेद	सुख-दुःखसंवेदी	--------
७. आत्मा	सतत संसार-भ्रमणी	--------

चतुर्वेदी का विचार है कि मानव के प्रारम्भिक वैचारिक विकास के प्रथम चरण में वह क्रियाकाण्डी एवं सामान्य बुद्धिवादी था। वह इहलौकिक जीवन को ही परमार्थ मानता था। वह वस्तुतः चार्वाक था। अपने विकास के द्वितीय चरण में वह चिंतनशील, बुद्धिवादी, कल्पनाप्रवीण एवं प्रतिभाज्ञानी बना। इस चरण में उसने

आत्मवाद एवं उससे सहचरित अनेक सिद्धान्तों की बौद्धिक कल्पना की, जिससे वह न केवल हिंसात्मक क्रियाकाण्डों से ही मुक्ति पा सका, अपितु अध्यात्मवाद के साये में उसने जीवन को अनन्त सुखमय बनाने का महान् आशावादी उद्देश्य और लक्ष्य भी पाया। अपने बुद्धिवाद से उसने सामान्य-अर्थी सतत-विहारी आत्मा शब्द का ही अमूर्तीकरण नहीं किया, अपितु अनेक भौतिक प्रक्रमों एवं वस्तुओं (प्राण, इन्द्रिय, मन आदि) का भी अध्यात्मीकरण किया। इस प्रक्रिया में जीवन की घटनाओं की व्याख्या सामान्य जन के लिए दुःखबोध हो गई। जल, थल व नभ आदि के अध्यात्मीकरण ने ऋषि-मुनियों को जो भी प्रतिष्ठा दिलाई हो, पर सामान्य जन तो परेशानी में ही पड़ा। वह आत्मवादी बने या जीववादी ? आत्मवादी बनने में अनन्त सुख एवं आयु थी, जीववादी बनने में सान्त सुख और सीमित आयु थी। एक ओर कल्पना जगत् का आनन्द था, दूसरी ओर व्यावहारिक जगत् की आपदायें थीं। श्रमण-संस्कृति एवं उपनिषदों के उपदेष्टा साधु जीवन की श्रेष्ठता की चर्चा कर उसे ही उत्सर्ग मार्ग बताते थे, अपवादी तो बेचारा "जीव" माना गया। बहुसंख्यकों की इतनी अप्रतिष्ठा धर्मज्ञ ही कर सकते थे। यह स्थिति अब तक बनी हुई है। इससे आत्मवाद मौलिक सिद्धान्त हो गया। जैनों में तो आत्मप्रवाद नाम से एक स्वतंत्र पूर्वागम ही माना जाता है, यद्यपि इसके नाम से प्रकट है कि यह एक विषयवादी प्रकरण रहा हैं। इसीलिये कबीर को भी अपने समय में यह कहना पड़ा कि मैं बाजार में भाषण दे रहा हूँ पर श्रोतागण नदारद हैं। क्यों? अब मानवबुद्धि इसका उत्तर दे सकती है। अध्यात्मवादी मान्यताओं की कोटि व्यावहारिक जगत् की विरोधी दिशा में जाती है। इनके बीच समन्वय कम दिखता है। अतः सामान्य जन "जीव" बने रहने में, साधु बनने की अपेक्षा, अधिक आनन्द मानता है। वह सोचता है कि सांसारिक कष्ट तो हलुए में किशमिश के समान हैं, जो उसके आनन्द को ही बढ़ाते हैं। सत्यभक्त ने बताया है कि संसार में शारीरिक और मानसिक दुःखों की संख्या १०८ है और मूलतः ८ प्रकार के सुखों (जीवन, विद्या, प्रेम, विषय, महत्वाकांक्षा आदि) के उपभेद ७२ हैं। लेकिन संख्या कुछ भी हो, परिमाण की दृष्टि से संसार में सुख की मात्रा दुःख से कई गुनी अधिक है। नहीं तो, (जीवणं पियं) क्यों मानता? फलतः संसार की दुखमयता की धारणा तर्कसंगत विचार चाहती है। यह नकारात्मक प्रवृत्ति की, निवृत्ति मार्ग की, निषेधात्मक आचारवाद की प्रतीक है। यदि हम संसार को सान्त सुखमय मानें, तो हमारी प्रवृत्ति सकारात्मक एवं सुख को बढ़ाने की होगी। इस मान्यता से जैनों के मूल उद्देश्य का भी कोई विरोध नहीं होगा, क्योंकि अनन्त सुख सान्त सुख का बहिर्वेशन मात्र है :

संसारी जीव (- कर्म) = आत्मा ----> अनंत सुख (मोक्ष)

दुखमयता की धारणा ने हमें यथास्थितिवादी बनाये रखा है। यही कारण है कि हम संसार को सदैव दु:खमय बनाकर रखे हुए हैं और व्यक्तिवादिता का पल्लवन कर रहे हैं। न्यायाचार्य ने टीक ही कहा है कि हम संसार की ४ गतियों में से मनुष्य और पशु गति को तो प्रत्यक्ष ही देखते हैं। इनकी निंदा भी करते हैं। पर, फिर भी उन्हीं में पुनः उत्पन्न होना चाहते हैं। यह कितने आश्चर्य की बात है?

प्रारम्भिक परिभाषा के विविध रूप :

जैनाचार्यों ने संसारी जीवों की इस सामान्य बुद्धि पर सूक्ष्मता से विचार किया और अनेकांत-प्रतिष्ठापन युग में द्रव्य-भाव, व्यवहार-निश्चय, अंतरबाह्य, आत्मभूत-अनात्मभूत आदि की धारणाएं प्रस्तुत कर बताया कि प्रत्येक वस्तु के अनेक रूप होते हैं। उसका स्वरूप सापेक्ष दृष्टि से ही जाना जा सकता है। संपूर्ण स्वरूप तो सर्वज्ञ ही जानता है, पर भाषा की सीमाओं के कारण वह भी कह नहीं सकता, वह अवक्तव्य ही होता है इसलिए जीव की परिभाषाएँ अनेक रूप और शब्दावली में पाई जाती हैं। इस आधार पर जीव और आत्मा सह-संबंधित हो गए हैं। जीव को आत्मा की एक दशा मान लिया गया। जब जीव को देहबद्ध रूप में माना जाता है, तब उसकी परिभाषा ऐसी होती है जो आत्मा पर लागू नहीं भी हो। जब उसे देहमुक्त रूप में माना जाता है तब वह आत्मा हो जाता है और परिभाषा अधिक मूलभूत हो जाती हैं। अनेक आचार्य एक ही वस्तु की भिन्न-भिन्न परिभाषाओं का विभ्रमण मानते है और वे जीव और आत्मा की परिभाषाओं को मिश्रित रूप में प्रस्तुत करते हैं, जिनमें मूर्त और अमूर्त या द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के लक्षण समाहित होते हैं। जैन लक्षणावली में जैनशास्त्रों में जीव की परिभाषा के ५२ सन्दर्भ दिये हैं।

जीव की परिभाषा के सन्दर्भ में यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि शास्त्रों में जीवों के संबंध में विवरण तो पर्याप्त हैं, पर्यायवाची भी अनेक बताए गए हैं, पर इसकी परिभाषा कुछ ही ग्रन्थों में पाई जाती है। हाँ, अनेक उत्तरवर्ती टीकाकारों ने अवश्य इसे आत्मवादी भाषा में परिभाषित किया है।

भगवती और प्रज्ञापना के समान ग्रन्थों में जीव के पर्याय या विशेष स्वरूप बताये गए हैं। उन्हें क्षण समकक्षता दी जा सकती है। संक्षेप में जीव के ५ प्रकार के रूप पाए जाते हैं:

रूप	भगवती	प्रज्ञापना अ/ब
१. शरीर या भौतिक रूप	नारकीय, कर्म, शरीर	शरीर, अवगाहन, योनि,

		श्वासोच्छ्वास, आहार, प्रवीचार, भाषा, जन्म-मरण, आयु
२. ज्ञानात्मक रूप	दर्शन, ज्ञान, उपयोग	इन्द्रिय, उपयोग, संज्ञा/मन
३. संवेग/ मनोभागी रूप	लेश्या, दृष्टि, संज्ञा	कषाय , लेश्या, सम्यक्त्व
४. क्रियात्मक रूप	योग	योग, संयम
५. संवेदनात्मक/अनुभूति	----	सुख-दुख, शीत-उष्ण, वेदना आदि।

इन रूपों को "जीव पर्याय/परिणाम" के रूप में कहा गया है। स्पष्ट है कि ये एकीकृत रूप "जीव" (सदेह आत्मा) के ही हो सकते हैं। प्रारम्भ में मार्गणा स्थानों को भी "जीवस्थान" ही कहा जाता था; उन्हें भी इन ५ रूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है। इस प्रकार, प्रारम्भ में जीव का स्वरूप पंच रूप था। सभी रूपों की समकक्ष मान्यता रही है। उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में प्रायः इन सभी (शरीरादि, मनोभाव, उपयोग, योग एवं वेदना) रूपों के माध्यम से जीव का ही वर्णन किया है लेकिन अब जीववाद आत्मवाद में परिवर्द्धित हुआ, तब इनमें से उपयोगात्मक परिभाषा मुख्य हो गई और अन्य परिभाषाएँ द्वितीयक कोटि में चली गई। आत्मा (शुभ या शुद्ध?) स्वामी हो गया और जीव बेचारा दास हो गया।

आगमोत्तर काल के शास्त्रों में प्राप्त जीव की परिभाषाओं को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है:

१. जीव शब्द पर आधारित भौतिक परिभाषाएँ- प्राण, आयु आदि।

२. जीव के ज्ञानात्मक/आध्यात्मिक स्वरूप पर आधारित परिभाषाएँ- ज्ञान, दर्शन, सुख-दुख, वीर्य, उपयोग।

३. जीव के भौतिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप पर आधारित परिभाषाएँ या मिश्र परिभाषाएँ- प्राण और उपयोग।

भौतिक और मनोभौतिक परिभाषा :

उपर्युक्त ३ प्रकार की परिभाषाओं का ऐतिहासिक अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि जीव की प्रारम्भिक परिभाषा प्राणधारण (द्रव्य प्राण) और आयुष्य ग्रहण से संबंधित रही होगी। प्राण शब्द का सामान्य अर्थ श्वासोच्छ्वास होता है, पर जैनों का अर्थ अन्य तंत्रों की तुलना में व्यापक है। उसके अंतर्गत बल, इन्द्रिय, आयु और

श्वासोच्छ्वास समाहित होते हैं। ये सभी पौद्गलिक हैं तथा आयु और नामकर्म के रूप हैं। फलतः जीव की यह प्रारम्भिक परिभाषा भौतिक दृष्टि को निरूपित करती है। यह आचारांग, सूत्रकृत, स्थानांग, प्रज्ञापना, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, धवला-१ तथा कुंदकुंद के प्रवचनसार एवं पंचास्तिकाय में पाई जाती है। आजीवक संप्रदाय भी जीव को परमाणुमय, वृत्ताकार या अष्टफलकीय आकृति वाला एवं नीले रंग का मानता था। धवला, भगवती एवं पंचास्तिकाय में जीव के १७-२३ नाम बताये गये हैं, जिनमें अधिकांश जीव के भौतिक स्वरूप को परिलक्षित करते हैं। श्वेताम्बर आगमों में जन्तु, जन्म, शरीरी आदि आते हैं, जो धवला और कुंदकुंद के नामों में नहीं हैं। इससे प्रकट होता है कि श्वेताम्बरों की तुलना में दिगम्बर अधिक अमूर्त आत्मवादी हैं। यह आत्मवाद भौतिकवाद का उत्तरवर्ती विकसित रूप लगता है। भाव प्राणों की धारणा से जीव को लक्षणों में कुछ व्यापकता आई है।

भौतिक परिभाषाओं में उक्त के अतिरिक्त जीव की एक भावात्मक या मनोभावात्मक परिभाषा भी है जिसमें कर्म-जन्य ४ भाव- औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक तथा औदयिक एवं कर्म-निरपेक्ष पाँचवाँ पारिणामिक भाव- कुल ५ भाग समाहित हैं। यद्यपि अनुयोगद्वारों में ६ नामों के अंतर्गत ६ भाव बताए हैं, पर वहां उन्हें जीव का असाधारण लक्षण नहीं कहा है। सम्भवतः यह उमास्वामी का योगदान है कि उन्होंने जीव को मनोभावात्मक विशेषताओं से भी लक्षित किया। भाव शब्द के अनेक अर्थ होते हैं- पर्याय, परिणाम, वर्तमान, स्थिति आदि। पर जीव लक्षण के संबंध में चित्र विकार का मनोवैज्ञानिक अर्थ अधिक उपयुक्त लगता है। फलतः जीव वह है जिसमें कर्म एवं कर्मोदय के कारण अनेक प्रकार के मनोभाव भी पाए जाते हैं। यह मनोभावी परिभाषा तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकारों के अतिरिक्त धवला तथा कुंदकुंद के कुछ ग्रंथों में पाई जाती है। "उपयोग जीव का लक्षण है" की प्रश्नावली में यह बताया गया है कि भौतिक लक्षण अनात्मभूत या सहकारी लक्षण हैं, प्रमुख या आत्मभूत लक्षण नहीं हैं। इस भौतिक परिभाषा में जीव के भौतिक/भावात्मक तत्त्व (शरीर, योनि, अवगाहन आदि) तथा क्रियाएँ (योग) एवं कर्म-जन्य मनोभाव समाहित होते हैं। फलतः यह परिभाषा मात्र भाव प्राणी आत्मा पर लागू नहीं होती।

अध्यात्मवादी उपयोगात्मक परिभाषा :

जीव की दूसरी परिभाषा संवदेनशीलता से संबंधित है। सम्भवतः आचार्यों की यह मान्यता है कि उपर्युक्त भौतिक एवं भावात्मक परिभाषा जीव की मौलिक संवदेनशीलता के कारण ही है। इसको शास्त्रों में अनेक रूपों में व्यक्त किया गया है।

हमें उमास्वामी का कृतज्ञ होना चाहिए कि उन्होंने इस कोटि की अनेक परम्परागत परिभाषाओं को एकीकृत कर उसे "उपयोग" पद के अंतर्गत समाहित कर दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने उत्तराध्ययन की परिभाषा को अपना आधार बनाया होगा। इस कोटि की विविध परिभाषाओं के अध्ययन से पता चलता है कि ये अनेक रूपों में व्यक्त की गई हैं : (१) उपयोग लक्षण (२) चेतना लक्षण (३) चेतना एवं उपयोग लक्षण (४) ज्ञान स्वभाव (५) ज्ञान-दर्शन स्वभाव (६) सुख-दुःख-ज्ञान-उपयोग स्वभाव (७) ज्ञान-दर्शन-सुख-दुःख, तप, चारित्र, वीर्य, स्वभाव और (८) भाव, प्राण धारण स्वभाव। कुंदकुंद ने प्रवचनसार में चेतना और उपयोग-दोनों को जीव का लक्षण बताया है। इससे यह अनुमान लगता है कि एक समय ऐसा था जब इन दोनों शब्दों में अर्थभेद रहा होगा। वस्तुतः चेतना सामान्य गुण है, जिसकी अभिव्यक्ति का रूप उपयोग है। यह ज्ञान, दर्शन, सुखानुभूति, वीर्यानुभूति या आंतरिक ऊर्जानुभूति आदि अनेक रूपों में होती है। पूज्यपाद भी जीव की अनेक प्रकार की चेतना मानते हैं एवं आत्मा को उपयोगमय मानते हैं। इस प्रकार चेतना के अनेक क्षमतात्मक और क्रियात्मक रूपों का पता चलता है। अतः उपर्युक्त विविध रूपों को संक्षेपण या विस्तारण के रूप में लेना चाहिए इसीलिए उपयोग और चेतना एकार्थक से मान लिये गये हैं। अतः पूज्यपाद और अकलंक-दोनों ने ही चेतना के अनेक प्रकारों की चर्चा की है एवं उत्तराध्ययन के व्यापक लक्षणों को एक ही शब्द में कह दिया हैं फिर भी, उमास्वामी उपयोग या चेतना को केवल ज्ञान-दर्शनात्मक ही मानते हैं क्योंकि सूत्र २. ८ में उन्होंने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। यह मान्यता प्रवचनसार, भगवती के समान ग्रंथों के भी अनुरूप है। सम्भवतः उनकी यह मान्यता हो कि सुख-दुःख आदि की अनुभूति ज्ञान-दर्शन या संवदेनशीलता पर ही आधारित होती है। अतः सभी प्रकार की अनुभूतियों का मूल आधार चैतन्य है। इसलिये सभी एक ही पद में समाहित हो जाते हैं। इस प्रकार, अध्यात्मवादी जीव-आत्मा- की परिभाषा को निम्न रूप में व्यक्त किया जा सकता है-

चैतन्य = उपयोग = भावप्राण = ज्ञान-दर्शनादि = जीव/आत्मा

यह स्पष्ट है कि यह "जीव" और "आत्मा"- दोनों के लिये लागू होती है।

सामान्यतः "उपयोग" शब्द की तुलना में चेतना शब्द की परिभाषा कम मिलती है तथापि धवला-१ (पेज १४६) के अनुसार चैतन्य शब्द संवेदनशीलता का निरूपक है। इसी के कारण ज्ञान और दर्शन आदि की प्रवृत्तियाँ या अनुभूतियाँ होती हैं। अतः कार्य में कारण का उपचार कर ज्ञान-दर्शनादि को ही चैतन्य मान लिया जाता है। प्रारम्भ में "चेतना" शब्द से केवल प्रत्यक्ष पदार्थ का ग्रहण, प्रतिभासन या संवेदन का

अर्थ लिया जाता था, पर बाद में इसे त्रैकालिक विषयों के संवेदन के व्यापक अर्थ में लिया जाने लगा। इस प्रकार "चेतना" या "चार्वाक" से "अध्यात्मवादी" हो गयी। यह विचार विकास का एक अच्छा उदाहरण है।

जैन लक्षणावली (पेज २७४) में चैतन्य के लक्षण के १-२ संदर्भों की तुलना में उपयोग के २८ संदर्भ दिये गये हैं। सभी में चैतन्य के बाह्य और आभ्यन्तर निमित्तों से होने वाले जीव के परिणामों को उपयोग कहा गया है। इसके अंतर्गत उपयोग रूप भावेंद्रिय भी समाहित हो जाती है। अनेक परिभाषाओं में उप + योग (क्रिया) के रूप में व्युत्पत्तिपरक अर्थ भी दिया गया है, जिससे इसकी क्रियात्मकता एवं परिणामात्मकता व्यक्त होती है। इससे ज्ञान-दर्शनादि का निकटतम संयोजन ही उपयोग होता है। इसी को अकलंक और पूज्यपाद ने "चैतन्यान्वयी परिणाम" कहा है। इस प्रकार, उपयोग संवेदनशील की अभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों को माना जाता है। इस परिभाषा से एक तथ्य तो प्रकट होता ही है कि उपयोग भी अंशतः भौतिक है, क्योंकि यह संदेह जीव में ही होता है। सिद्ध या शुद्ध आत्मा तो उपयोगातीत प्रतीत होती है। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जीव की परिभाषाओं के रूपों में जितनी विविधता है, उतनी उपयोग के स्वरूपों में नहीं पाई जाती। इससे जीव की परिभाषा की सापेक्ष जटिलता प्रकट होती है।

मिश्र परिभाषा (प्राण + उपयोग) परिभाषा :

जीव की तीसरी कोटि की परिभाषा भौतिक एवं ज्ञानात्मक परिभाषाओं की मिश्रित रूप है। यह जीव की व्यावहारिक परिभाषा है। इस परिभाषा में जहाँ एक ओर जीव को कुंदकुंद रूप रस आदि रहित गुणातीत के रूप में बताते हैं, वहीं वे कर्म संबंध से उसे मूर्तिक (अनिर्दिष्ट संस्थान) भी बताते हैं। जीव के अनेक नामों में ८० प्रतिशत नाम मूर्तिकता के प्रतीक हैं और केवल २० प्रतिशत अमूर्तिकता के। वे चेतना के ३ रूप करते हैं- ज्ञान, कर्म और कर्मफल तथा उसके विस्तार में जीव के मूर्तिक और अमूर्तिक रूप को व्यक्त करते हैं। जीव की इस मिश्र परिभाषा में किंचित् विरोध सा लगता है। इसलिये अनेकांत पर आधारित व्यवहार-निश्चयवाद या द्रव्य- भाववाद का आश्रय लेना स्वाभाविक ही है। मूर्तिकता संबंधी सारे लक्षण व्यवहारी या सामान्य जनों के अनुभव में आते हैं। उनमें से अधिकांश वैज्ञानिकतः प्रयोग समर्थित भी हैं। कुंदकुंद का कथन है कि व्यावहारिक लक्षण अजीव कर्मों के कारण है, जिन्हें हमने जीव के ही लक्षण मान लिये हैं इसलिए व्यवहार भाषा के समान इनके बिना सामान्य जन सूक्ष्म तत्त्व को (शुद्ध आत्मा) कैसे समझेगा? लेकिन जहां कुंदकुंद एक अच्छे वैज्ञानिक की

भांति अपने अनुभूत कथनों को सुधारने की बात कहते हैं, वहीं वे व्यवहार को "अभूतार्थ" कहकर उसको अमान्य करने का संकेत देते हैं। वे स्थूल, कर्म मलीमस जीव के वर्णन से प्रारंभ कर सूक्ष्म आत्मा की ओर जाते हैं और उसके स्वरूप को सामान्य जन की बुद्धि के बाहर तथा मनोहारी बना देते हैं। भला, अभूतार्थ असत्य से भूतार्थ की ओर कैसे पहुँचा जा सकता है? संसारी जीवों को यह बात पसंद नहीं आयी और कुंदकुंद एक हजार वर्ष तक सुप्त या लुप्त ही पड़े रहे। यह स्पष्ट है कि जीव की यह मिश्र परिभाषा दिगंबरों द्वारा लुप्त रूप से मान्य कुछ प्राचीन ग्रंथों से मेल खाती है। यह परिभाषा "जीव" और "आत्मा" को पर्यायवाची मानने के प्राचीन युग से प्रचलित रही है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने केवल विरोधी से लगने वाले लक्षणों की दो कोटियाँ बनाकर व्यवहारी जीव को परेशान कर दिया।

अकलंक के राजवार्तिक में जीव की परिभाषा :

तत्त्वार्थसूत्र में जीव शब्द का ही उपयोग है और उसी की मिश्र परिभाषा ही अनेक सूत्रों के माध्यम से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में (२.१, २.७, २.८, २.५३, ६.१, ८.१-३६) में दी गई है जो प्राचीन ग्रंथों के अनुरूप ही है। उनके प्रथम टीकाकार पूज्यपाद तो शुद्ध अध्यात्मवादी लगते हैं। (यद्यपि उन्होंने भी ८.२ में जीव का व्युत्पत्तिपरक अर्थ किया है) क्योंकि उन्होंने पहले ही तत्त्वनिर्देशक सूत्र १.४ में "चेतना लक्षणो जीवः" कहकर "उपयोगो लक्षणम्" में भी उसे अनुसरित किया है। इसे विपर्यास में, अकलंक ने प्राण धारण रूप व्युत्पत्तिपरक अर्थ के साथ चैतन्य लक्षणी जीव बताया है तथापि लघीयस्त्रय और सिद्धिविनिश्चय में उनके चैतन्य लक्षणी जीव की परिभाषा से ऐसा लगता है कि वे अपने जीवन के उत्तरकाल में आत्मवादी अधिक हो गये होंगे, क्योंकि ये रचनाएँ टीकाग्रंथों के बाद की हैं। यही नहीं, सूत्र २.८ में उन्होंने जीव का अस्तित्व भी मिथ्यादर्शन आदि कारणों से उत्पन्न नर-नारकादि पर्यायों तथा उच्चज्ञानियों द्वारा प्रत्यक्षता के तर्कों से सिद्ध किया है। साथ ही उपयोग के तदात्मकत्व, अस्थिरत्व एवं संबंध के आधार पर जीव के लक्षण को मान्य करने वाले मतों का खंडन कर उपयोग का आत्मभूत लक्षणत्व सिद्ध किया है। उन्होंने "अहं-प्रत्यय", संशय, विपर्यय और अध्यवसाय के आधार पर भी जीव का अस्तित्व सिद्ध किया है। अकलंक की जीवं की परिभाषा पूज्यपाद एवं वाचक उमास्वाति से व्यापक भी है, क्योंकि उन्होंने चैतन्य को ज्ञान-दर्शन आदि के साथ सुख-दुःख-वीर्य आदि के रूप में भी माना है।

इसलिये उन्होंने इस प्रश्न का भी उत्तर दिया है कि आत्मा जीव कैसे हो जाता है? उनका कथन है कि आत्मा में विशेष सामर्थ्य होती है कि वह कर्मों से सम्बद्ध होकर जीव रूप धारण कर ले। उसमें यह सामर्थ्य उसके अनादिकाल से कर्मबद्ध होने के कारण आती है। इस प्रकार, आत्मा अनादिकाल से जीव भी है, मूर्तिक ही है इसलिये उसका कर्म से प्रभावित होना स्वाभाविक ही है। इसे ठीक औषधियों या मदिरा आदि से जीव के चैतन्य के अभिभूत होने के समान समझना चाहिए, इस अनादि संबंध की धारणा से अकलंक जैसे तार्किक ने भी इस मूलभूत प्रश्न का उत्तर नहीं दिया कि शुद्ध आत्मा सर्वप्रथम कैसे जीव बना होगा? यह प्रश्न आत्मवाद की धारणा पर बड़ा भारी प्रश्नचिह्न लगाता है। इसका उल्लेख जैनी ने भी अपनी पुस्तक में किया है। तत्त्वतः शुद्ध आत्मा तो जन्म-मरण रहित है और उसका सांसारिक रूप ही असम्भव है। अतः संसार में जीव ही है, कर्मबद्ध जीव ही है। उनका ही वर्णन शास्त्रों में अधिकांश पाया जाता है। उनके नैतिक उत्थान, सुख-संवर्द्धन की दिशा एवं निष्कामकर्मता की विधियाँ वहाँ बताई गई हैं। फलस्वरूप अकलंक ने जीव को अनेक जगह आत्मा का समानार्थी माना है, पर उनका आत्मवाद भी मनोवैज्ञानिक भित्ति पर स्थित है, जो हमारे जीववाद में आशावाद के दीप को प्रज्वलित किये रहता है।

अकलंक और बीसवीं सदी :

अकलंक आठवीं सदी के विद्वान् थे। जीववाद संबंधी धारणाओं पर पिछले तीन सौ वर्षों से पर्याप्त अनुसंधान हुए हैं और अनेक तत्कालीन मान्यताएँ पुष्ट हुई हैं तथा कुछ परिवर्द्धन के छोर पर हैं, लेकिन आत्मा संबंधी मान्यताएँ अभी भी विज्ञान के क्षेत्र से बाहर बनी हुई हैं।

अनेक लेखक, जिनमें वैज्ञानिक भी सम्मिलित हैं, आजकल भौतिकी एवं परामनोविज्ञान संबंधी पूर्वोक्ति, दूरदृष्टि, अलौकिक कारणवाद आदि के अन्वेषणों के आधार पर "पदार्थ पर मन के प्रभाव" की चर्चा करते हुए चेतना या संवेदनशीलता का स्वरूप बताकर आत्मवाद के परोक्ष वैज्ञानिक समर्थन देने में अनेक उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। वे यह भी बताते हैं कि आत्मवाद और उससे साहचर्य सिद्धांत दुःखमय सांसारिक जीवन में आशावाद, उच्चतर लक्ष्य के लिये यत्न, सर्वजीव, समभाव एवं सहयोग की वृत्ति का मनोवैज्ञानिकतः पल्लवन करते हैं। इसके विपर्यास में, वे यह भी बताते हैं कि चेतना और मन समानार्थी से रहे हैं (जिसे आत्मा भी कहा जा सकता है)। पश्चिमी विचारक तो मन और आत्मा को समानार्थी ही मानते रहे हैं, अब मन के अनेक रूप सामने आए हैं- चेतन, अवचेतन, अचेतन। चेतना के भी अनेक रूप

सामने आए हैं- (१) अंतरज्ञानात्मक या लोकोत्तर (२) आनुभाविक या लौकिक एवं (३) स्व-चेतना। चेतना की परिभाषा क्या है? यह बहुत स्पष्ट तो नहीं है, लेकिन अनेक लोग इसे मस्तिष्क की शरीर क्रियात्मक मशीन का एक उत्पाद मानते हैं। वे इसे संवेदन और अनुभूति का आधार मानते हैं। टार्ट के समान प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक चेतना को एक विशेष प्रकार की मनोवैज्ञानिक ऊर्जा मानते हैं जो मन और मस्तिष्क को अपनी क्रियाओं के लिए सक्रिय करती है। यह एक जैवीय कम्प्यूटर है जिसकी कार्यक्षमता अनेक दृश्य (अनुभूति, शरीर क्रियाएँ, शिक्षा, संस्कृति) और अदृश्य (कर्म आदि कारकों) पर निर्भर करती है। मस्तिष्क के विशिष्ट केन्द्रों के समान चेतना की भी अनेक विविक्त अवस्थाएं होती हैं जो विशिष्ट गुणों की निरूपक होती हैं। योगी और वैज्ञानिक तथा विद्यार्थी और समान्य जन की चेतना की अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। हमारे मस्तिष्क की क्रियाएँ/ दशाएं चेतना की इन अवस्थाओं की प्रतीक हैं। आज के वैज्ञानिक मानते हैं कि सामान्य चेतना द्वि-रूपिणी होती है- भौतिक और मानसिक, मूर्त और अमूर्त। इसका मूर्त रूप हमारी सामान्य जीवन क्रियाओं का निरूपक है और मानसिक रूप ज्ञान-दर्शन के गुणों का प्रतीक है। यह स्पष्ट है कि ये दोनों रूप अविनाभावी- से लगते हैं। आज की ये वैज्ञानिक मान्यताएँ अभी तक तो चेतना या आत्मा की अमूर्तता पुष्ट नहीं कर पाई हैं, पर वे इसी दिशा की ओर अभिमुख हो रही है, ऐसा लगता है। इस तरह आज का विज्ञान अकलंक के बुद्धिवादी युग की धारणाओं को प्रयोगवाद का स्वरूप देता दिखता है।

सहायक पाठ्यसामग्री :

१. वर्णी, जिनेन्द्र : जैनेन्द्र सिद्धांत कोश २-३, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९७१-७२

२. वाचक, उमास्वाति : तत्त्वार्थसूत्र, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, काशी, १९७६

३. तथैव : सभाष्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, राजचन्द्र आश्रम, अगास, १९३२

४. आचार्य, पूज्यपाद : सर्वार्थसिद्धि, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९७१

५. जैन, एन०एल० : साइंट्फिक कंटेंट्स इन प्राकृत केन्नस, पा० विद्यापीठ, काशी १९९६

६. शास्त्री, बालचन्द्र : जैन लक्षणावली भाग १-२, वीर सेवा मंदिर, दिल्ली १९७२

७. भट्ट, अकलंक : तत्त्वार्थवार्तिक भाग, १-२, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली १९५१-५३

८. जैनी, पी०एस० : जैन पाथ आव प्योरिफिकेशन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९८०

९. आचार्य, कुंदकुंद : प्रवचनसार, राजचन्द्र आश्रम, अगास, १९८४

१०. तथैव : समयसार, सी०जे०पी०एच०, लखनऊ, १६३०
११. उत्तराध्ययन-२, जैन विश्व भारती, लाडनूं, १६६३
१२ स्वामी, सुधर्मा : भगवती सूत्र-१, तथैव, १६६४
१३. आर्य, श्याम : प्रज्ञापना सूत्र १-२, आ०प्र०स०, व्यावर, १६८२-८४
१४. स्वामी, सुधर्मा : आचारांग-१, तथैव, १६८०
१५. चतुर्वेदी, गिरिधर शर्मा : वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, वि०रा० परिषद्, पटना, १६७२
१६. दीक्षित, के०के० : जैन आन्टोलॉजी, एल०डी० इंस्टीट्यूट, अहमदाबाद, १६७१
१७. सत्यभक्त, स्वामी : सत्यामृत- २, सत्याश्रम, वर्धा, १६३२
१८. आचार्य, उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, वर्णी ग्रंथमाला, वाराणसी, १६५०
१६. कैरियर, मार्टिन आदि : माइंड, ब्रेन एंड बिहेवियर, डी गायटर, न्यूयार्क, १६६१
२०. अग्रवाल, पारसमल : तीर्थंकर वाणी, १६६६ में प्रकाशित विविध लेख
२१. कन्नन, ए० : होलस्टिक ह्यूमन कंसर्न फार वर्ल्ड वेलफेयर, थियो०सोसायटी, मद्रास, १६८८



लघीयस्त्रय और उसका दार्शनिक वैशिष्ट्य

डॉ० कमलेशकुमार जैन*

आचार्य अकलंकदेव ईसा की आठवीं शती के शास्त्रार्थी विद्वान् हैं। इन्होंने अपनी तर्कशक्ति के द्वारा अनेक दार्शनिक मतों का सप्रमाण खण्डन करके जैन न्यायशास्त्र की उस परम्परा को पल्लवित एवं पुष्पित किया है, जो आचार्य समन्तभद्र एवं आचार्य सिद्धसेन दिवाकर द्वारा स्थापित की गई थी।

मान्यखेट राजधानी[1] में जन्में एवं लघुहव्व नृपति के ज्येष्ठ पुत्र[2] आचार्य अकलंकदेव अपने वैदुष्य के कारण तत्कालीन विद्वत्समूह में धुरिकीर्तनीय थे। उनके द्वारा जैन न्याय-शास्त्र की प्रतिष्ठा एवं उसके संरक्षण हेतु जो भी प्रयत्न किया गया वह अद्वितीय है। वे कोरे शास्त्रार्थी विद्वान् नहीं थे, अपितु उन्होंने जैनागम-परम्परा को सुरक्षित रखते हुए अपनी नव-नवोन्मेष तर्कणा-शक्ति के आधार पर पूर्व प्रचलित ज्ञान-मीमांसा को प्रमाण-मीमांसा के ढाँचे में ढालकर जैन सिद्धान्तों के संरक्षण हेतु जो सुरक्षा-कवच प्रदान किया है, वह जैन न्यायशास्त्र के इतिहास में देदीप्यमान सितारे की तरह चिरकाल तक चमकता रहेगा।

अकलंक के ग्रन्थ :

आचार्य अकलंकदेव ने अपने अगाध ज्ञान के नवनीत रूप कुछ बिन्दुओं को संजोकर अनेक ग्रन्थरत्नों का प्रणयन किया है, जिनमें तत्त्वार्थवार्तिक, अष्टशती, लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय और प्रमाण संग्रह - ये छह कृतियाँ प्रमुख हैं। इनमें प्रथम दो भाष्य और अन्तिम चार स्वतंत्र हैं। इनके अतिरिक्त अकलंकस्तोत्र, अकलंक प्रतिष्ठा-पाठ और अकलंक प्रायश्चित नामक तीन ग्रन्थ अकलंक के नाम से मिलते हैं, किन्तु इनके शास्त्रार्थी अकलंककृत होने में विद्वानों में मतभेद है।[3] एतद् अतिरिक्त वृहत्त्रय एवं न्यायचूलिका नामक दो अन्य ग्रन्थों का भी उल्लेख मिलता है, किन्तु इन्हें भी विद्वानों ने शास्त्रार्थी अकलंककृत स्वीकार नहीं किया है।[4] माणिकचन्द्र

---

* वरिष्ठ प्राध्यापक-जैन दर्शन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

१. अकलंकग्रन्थत्रय, प्रस्तावना, पृ० ११

२. जीयाच्चिरमकलङ्कब्रह्मा लघुहव्वनृपतिवरतनयः।
अनवरतनिखिलजननुतविद्यः प्रशस्तजनहृद्यः।।
-तत्त्वार्थवार्तिक, प्रथम अध्याय, अन्तिम प्रशस्ति पद्य

३. भट्टाकलंककृत लघीयस्त्रय : एक दार्शनिक विवेचन (टंकित प्रति), पृ० ५७

४. वही, पृ० ५७

दि० जैन ग्रन्थमाला द्वारा वि० स० १९७२ में प्रकाशित एवं पण्डित कल्लप्पा भरमाप्पा निटवे द्वारा संशोधित लघीस्त्रयादिसंग्रह नामक संकलन में स्वरूप संबोधन को भी शास्त्रार्थी अकलंकदेव की कृति के रूप में संग्रहीत किया है।

लघीयस्त्रय :

विभिन्न स्रोतों के माध्यम से उपलब्ध पुष्ट प्रमाणों के आधार पर विद्वानों द्वारा स्वीकृत आचार्य अकलंकदेवकृत ग्रन्थों की परम्परा में लघीयस्त्रय अद्वितीय रचना है। पण्डित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने विविध प्रमाणों के आधार पर लघीयस्त्रय को शास्त्रार्थी अकलंकदेव की कृति स्वीकार किया है।[१]

लघीयस्त्रय इस नाम से स्पष्ट है कि यह छोटे-छोटे तीन प्रकरणों का समूह है। ग्रन्थ का यह नामकरण ग्रन्थकारकृत प्रतीत नहीं होता है। इसका यह नाम सर्वप्रथम आचार्य अनन्तवीर्य की सिद्धिविनिश्चय टीका में मिला है।[२] तत्पश्चात् आचार्य अभयचन्द्रसूरि ने "लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्तिं वक्ष्ये" और "भट्टाकलंकदेवः पोतायमानं लघीयस्त्रयाख्यं प्रारभमाणः" -इन दो सन्दर्भों में लघीयस्त्रय इस नाम का स्पष्ट उल्लेख किया है।[३]

आचार्य उमास्वामी ने "प्रमाणनयैरधिगमः"[४] इस सूत्र के माध्यम से यह स्पष्ट किया है कि तत्त्वों का ज्ञान प्रमाण और नयों के द्वारा किया जाता है। इससे पूर्व आचार्य उमास्वामी ने निक्षेपों[५] को भी तत्त्वज्ञान का हेतु स्वीकार किया है। अतः आचार्य प्रभाचन्द्र और आचार्य अभयचन्द्रसूरि-इन दो टीकाकारों ने अकलंककृत प्रमाण-नय प्रवेश को दो स्वतंत्र प्रकरण माना और उसी में प्रवचन-प्रवेश को समाहित कर लघीयस्त्रय इस संज्ञा से अभिहित किया, जो बाद में इसी नाम से प्रसिद्ध हो गया।[६]

इस प्रकार लघीयस्त्रय प्रमाण, नय और निक्षेप- इन तीन प्रकरणों का समूह है। प्रथम 'प्रमाण प्रवेश' प्रत्यक्ष, प्रमेय, परोक्ष और आगम- इन चार परिच्छेदों में विभाजित है। द्वितीय 'नय प्रवेश' स्वतंत्र एवं एक मात्र नय-परिच्छेद में विभक्त है।

---

१. अकलंकग्रन्थत्रय, प्रस्तावना, पृ० ३३

२. (क) अकलंकग्रन्थत्रय, प्रस्तावना, पृ० ३४
(ख) उक्तं च लघीयस्त्रये प्रमाणफलयोः क्रमभावेऽपि तादात्म्यं प्रत्येयम्
-सिद्धिविनिश्चय टीका, प्रथम भाग, पृ० ११७/२०

३. लघीयस्त्रय, तात्पर्यवृत्ति, पृ० १ (लघीयस्त्रयादि संग्रहः)

४. तत्त्वार्थसूत्र, १/६

५. नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः। - तत्त्वार्थसूत्र, १/५

६. विशेष ऊहापोह के लिए देखिये- अकलंकग्रन्थत्रय, प्रस्तावना, पृ० ३४-३५

तृतीय 'प्रवचन प्रवेश' प्रवचन और निक्षेप- इन दो परिच्छेदों में विभाजित है। इस प्रकार लघीयस्त्रय में संकलित तीन प्रकरणों में कुल सात परिच्छेद हैं। आचार्य अकलंकदेव के इस लघीयस्त्रय पर स्वोपज्ञ विवृति भी उपलब्ध है। इसके नामकरण के सम्बन्ध में पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने लिखा है कि ग्रन्थ बनाते समय अकलंक देव को लघीयस्त्रय नाम की कल्पना नहीं थी[१], जो यथार्थ है।

लघीयस्त्रय का परिमाण -

सिंघी जैन ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित अकलंकग्रन्थत्रय के अन्तर्गत संकलित लघीयस्त्रय में कुल अठहत्तर कारिकाएँ हैं और माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित लघीयस्त्रयादिसंग्रह में सतहत्तर कारिकाएँ हैं। इनमें "लक्षणं क्षणिकैकान्ते..," नामक पैंतीसवीं कारिका नहीं है और न ही इस कारिका पर अभयदेवसूरि ने तात्पर्यवृत्ति लिखी है जबकि स्वयं आचार्य अकलंकदेव ने इस पर स्वोपज्ञ विवृति लिखी है। अकलंकग्रन्थत्रय के अन्तर्गत लघीयस्त्रय के द्वितीय 'नय प्रवेश' के अन्त में "मोहेनैव परोऽपि कर्मभिरिह...." नामक कारिका उपलब्ध है, किन्तु इसकी मूलग्रन्थ के साथ संगति न होने से इसे पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने प्रक्षिप्त माना है।[२]

लघीयस्त्रय में उपलब्ध कुल सात परिच्छेदों के नाम और उनकी कारिकाओं की संख्या इस प्रकार है-

प्रमाण प्रवेश :

प्रत्यक्ष परिच्छेद	६-१/२ कारिकाएँ
प्रमेय (या प्रमाण विषय) परिच्छेद	३ कारिकाएँ
परोक्ष परिच्छेद	११-१/२ कारिकाएँ
आगम परिच्छेद	८ कारिकाएँ

नय प्रवेश :

नय परिच्छेद	२१ कारिकाएँ

प्रवचन प्रवेश :

प्रवचन (या श्रुतोपयोग) परिच्छेद	२२ कारिकाएँ
निक्षेप परिच्छेद	६ कारिकाएँ
	७८ कुल कारिकाएँ

१. अकलंकग्रन्थत्रय, प्रस्तावना, पृ० ३४
२. अकलंकग्रन्थत्रय, प्रस्तावना, पृ० ३५

यद्यपि आचार्य अकलंकदेव द्वारा स्वोपज्ञ विवृति में अन्तिम निक्षेप परिच्छेद को स्वतंत्र न मानने से छह ही परिच्छेद हैं, किन्तु लघीयस्त्रय के टीकाकार प्रभाचन्द्र और अभयचन्द्रसूरि ने सात परिच्छेदों में ही ग्रन्थ को विभाजित कर टीका लिखी है। अतः सात परिच्छेद ही सम्प्रति विद्वानों द्वारा मान्य हैं।

लघीयस्त्रय का दार्शनिक वैशिष्ट्य :

लघीयस्त्रय एक दार्शनिक ग्रन्थ है और दर्शन के क्षेत्र में रचे गये मूल संस्कृत ग्रंथों की परम्परा में बेजोड़ है। इसके कुछ दार्शनिक सिद्धान्त आगमिक-परम्परा का निर्वाह करते हुए भी अपनी कुछ विशेषता लिये हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही आचार्य अकलंकदेव ने "प्रमाणे इति संग्रह" ऐसा वाक्य लिखकर "प्रमाणे" पद में द्विवचन का प्रयोग किया है। इससे उमास्वामी द्वारा उल्लिखित आगमिक परम्परा-का समर्थन किया है कि प्रमाण दो ही हैं- प्रत्यक्ष और परोक्ष। इनके अतिरिक्त अन्य प्रमाण नहीं हैं और यदि किन्हीं दार्शनिकों ने दो से ज्यादा प्रमाण माने हैं तो वे सभी इन्हीं दो प्रमाणों में अन्तर्भूत हैं।

लोक में जो इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान के रूप में स्वीकार किया गया है, उससे संगति बैठाने के लिए अकलंकदेव ने स्पष्टज्ञान रूप प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद करके इन्द्रियजन्यज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की कोटि में समाहित किया है और लोकमान्यता को प्रतिष्ठा देते हुए इन्द्रियज्ञान को व्यवहार से प्रत्यक्ष प्रमाण माना है और निश्चय से तो मुख्य प्रत्यक्ष को ही वस्तुतः प्रत्यक्ष प्रमाण कहा है। बौद्धदार्शनिकों ने स्वसम्मत प्रत्यक्ष के चार भेदों में इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को भी समाहित किया है।

आचार्य अकलंकदेव की दृष्टि इस रूप में स्पष्ट है कि जो आत्ममात्र सापेक्ष स्वावलम्बी ज्ञान है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है और जो पर सापेक्ष ज्ञान है वह परोक्ष प्रमाण है।[1] उन्होंने सांव्यवहारिक के भी इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष-ये दो भेद किये हैं।

आगम में सामान्य ग्रहण को दर्शन कहा है, किन्तु अकलंकदेव के अनुसार इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध होने पर सत्ता सामान्य का दर्शन होता है, तत्पश्चात् पदार्थ के आकार को लिये हुए जो निर्णयात्मक ज्ञान होता है उसे अवग्रह कहते हैं। उन्होंने मतिज्ञान के उन्हीं तीन सौ छत्तीस भेदों का उल्लेख किया है, जो आगमिक-परम्परा से प्राप्त हैं। उनके अनुसार पूर्व-पूर्व का ज्ञान प्रमाण और उत्तर-उत्तर का ज्ञान उसका

१. लघीयस्त्रय, कारिका ३

फल है।[1]

परोक्ष प्रमाण के सम्बन्ध में आचार्य अकलंकदेव का कहना है कि मति, स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान) नाम योजना से पहले सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है तथा शब्द योजना होने पर श्रुत अर्थात् परोक्ष है।[2] तत्त्वार्थसूत्रकार ने मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध को मतिज्ञान के ही पर्यायवाची माना है।[3] आगमिक-परम्परा के अनुसार ये सभी ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं, क्योंकि ये सभी इन्द्रियों की सहायता से उत्पन्न होते हैं। इसी को आचार्य कुंदकुंद ने इस प्रकार कहा है कि- जो पर की सहायता से वस्तु का ज्ञान होता है, वह परोक्ष है और जो केवल आत्मा के द्वारा वस्तु का ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष है।[4] किन्तु अन्य सभी दार्शनिकों के इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है।

सर्वार्थसिद्धिकार के सामने जब यह प्रश्न उठा कि इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष और इन्द्रियातीत ज्ञान को परोक्ष मानना चाहिए।[5] तो पूज्यपाद को कहना पड़ा कि ऐसी स्थिति में सर्वज्ञ का ज्ञान प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष हो जायेगा, क्योंकि उनका ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं है।[6] इसी आशंका का विशेष समाधान करते हुए आचार्य अकलंकदेव ने बतलाया कि न्याय वैशेषिक, सांख्य, बौद्ध आदि सभी दार्शनिक इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं और जैन आगमिक-परम्परा उसे परोक्ष मानती है। अतः अकलंकदेव ने इन्द्रियजन्य ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहकर इस समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि- सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा-ये चार भेद हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि जिसे आगमिक-परम्परा में मतिज्ञान कहा है, उसे ही दार्शनिक-परम्परा में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा गया है।

अब समस्या यह थी कि तत्त्वार्थसूत्र[7] और षट्खण्डागम[8] के अनुसार स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध- ये मतिज्ञान के ही पर्यायवाची हैं। अतः ये भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की कोटि में आ जायेंगे ? तब आचार्य अकलंकदेव ने लघीयस्त्रय[9]

१. लघीयस्त्रय, कारिका ७
२. लघीयस्त्रय, कारिका १०-११
३. तत्त्वार्थसूत्र, १/१३
४. प्रवचनसार, १/५८
५. सर्वार्थसिद्धि, १/१२ टीका
६. सर्वार्थसिद्धि, १/१२ टीका
७. मतिः स्मृतिः संज्ञाचिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्-तत्वार्थसूत्र, १/१३
८. सण्णा सदी मदी चिंता चेदि (४१) षट्खण्डागम, पु० १३, पृ० २४४
९. लघीयस्त्रय, कारिका ६१ की स्वोपज्ञ विवृति

में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष-ये दो भेद करके स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध को अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष की कोटि में समाहित करके सार्वकालिक समाधान प्रस्तुत किया है। अकलंकदेव की इस भेद-व्यवस्था से यह फलित हो गया कि-अवग्रहादि में इन्द्रियों की प्रधानता है, अतः ये इन्द्रिय प्रत्यक्ष हैं और स्मृति आदि में अनिन्द्रिय अर्थात् मन की प्रधानता है, अतः ये अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष हैं।

बौद्ध दार्शनिकों के अनुमान प्रमाण में पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्ष असत्त्व- इन तीनों रूपों को हेतु का लक्षण माना है, किन्तु आचार्य अकलंकदेव ने लिखा है कि- साध्य के साथ अविनाभावनियम का पूरी तरह से निश्चय ही हेतु का एक मात्र लक्षण है।

लिङ्गात् साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात्।[1]

यहाँ पक्षधर्मत्व आदि तीनों रूप सदोष हेतु में भी पाये जाने के कारण अकलंकदेव ने इन्हें हेतु का लक्षण स्वीकार नहीं किया है। बौद्ध दार्शनिकों ने स्वभाव हेतु, कार्य हेतु एवं अनुपब्धि हेतु- इन तीन को हेतु का भेद मानकर "यत् क्षणिकं तत् सर्वं सत्" को तादात्म्य सम्बन्ध (स्वभाव हेतु) और धूम एवं अग्नि में तदुत्पत्ति सम्बन्ध (कार्य हेतु) तथा यहाँ घट नहीं है, अनुपलब्ध होने से, इस अनुपलब्धि हेतु में तादात्म्य सम्बन्ध मानकर अपने सिद्धान्त की पुष्टि की है, किन्तु अकलंकदेव का कहना है कि- साध्य के अभाव में साधन का अभाव रूप जो अन्यथानुपपत्ति नियम है उसके बिना तादात्म्य और तदुत्पत्ति को जानना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि आकाश में स्थित चन्द्रमा न तो जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा का स्वभाव है और न ही कार्य है, फिर भी जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा से आकाश में स्थित चन्द्रमा का अनुमान किया जाता है।[2] इसी प्रकार आकाश में कृत्तिका नक्षत्र के उदय से भविष्य में उदित होने वाले शकट नक्षत्र का अनुमान होता है। आज के सूर्योदय से कल के सूर्योदय का अनुमान होता है और इसी प्रकार सूर्यग्रहण या चन्द्रग्रहण का भी अनुमान होता है। यहाँ आचार्य अकलंकदेव ने विस्तार से परमत-सम्मत हेतुओं का विविध तर्कों के माध्यम से खण्डन करके अविनाभाव सम्बन्ध को ही हेतु का सम्यक् लक्षण सिद्ध किया है[3] तथा अन्य वादियों द्वारा माने गये प्रमाण-भेदों का प्रत्यक्ष और परोक्ष-इन दो प्रमाणों में ही अन्तर्भाव किया है।

१. लघीयस्त्रय, कारिका १२

२. लघीयस्त्रय, कारिका १३

३. विस्तार के लिए देखें- लघीयस्त्रय, कारिका १० से २१

अनेक दार्शनिकों ने तैमरिक आदि इन्द्रियज्ञान को प्रत्यक्षाभास कहा है, किन्तु अकलंकदेव ने इसे कथंचित् प्रत्यक्ष करते हुए स्पष्ट किया है कि- जो ज्ञान जिस विषय में अविसंवादी होता है वह उस विषय में प्रमाण होता है और जिस विषय में विसंवादी होता है उस विषय में अप्रमाण होता है[१] अर्थात् संशयज्ञान आदि सभी प्रमाणाभास स्वरूप अथवा द्रव्य की अपेक्षा से प्रमाण हैं, क्योंकि वे उतने अंश में अविसंवादी है। अतः अविसंवादी होने से सविकल्पक ज्ञान ही प्रमाण है।[२]

प्रमाण का विषय :

प्रमाण के विषय के सम्बन्ध में आचार्य अकलंकदेव का स्पष्ट मत है कि द्रव्यपर्यायात्मक अन्तस्तत्त्व और बाह्य घटादि रूप अर्थ प्रमाण के विषय हैं क्योंकि कोई दार्शनिक केवल द्रव्य रूप तत्त्व मानते हैं, कोई-कोई पर्याय रूप तत्त्व मानते हैं और कोई द्रव्य रूप और पर्याय रूप तत्त्वों को मानकर भी दोनों को सर्वथा भिन्न ही मानते हैं। उन्हीं को लक्ष्य में रखकर अकलंकदेव ने अर्थ को द्रव्य पर्यायात्मा कहा है-

"तद् द्रव्यपर्यायात्मार्थो बहिरन्तश्च तत्त्वतः।"[३]

बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने लिखा है कि- "अर्थक्रिया समर्थ यत् तदत्र परमार्थ सत्"[४] अर्थात् जो अग्न्यादि पदार्थ अपनी दाह-पाक आदि रूप क्रिया में समर्थ होता है, उसे पारमार्थिक सत् कहते हैं। यहाँ अकलंकदेव का कहना है कि-अर्थक्रिया या तो क्रम से होती है या अक्रम से अर्थात् युगपत् होती है, किन्तु वस्तु को सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक मानने पर न तो क्रम से ही अर्थक्रिया होना सम्भव है और न अक्रम से ही अर्थक्रिया होना सम्भव है जबकि उस अर्थक्रिया को परमार्थभूत अर्थों का लक्षण माना गया है -

अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः।
क्रमाक्रमाभ्यां भावानां सा लक्षणतया मता।।[५]

इस प्रसंग में आचार्य अकंलकदेव का कहना है कि- उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप परिणमन वाले पदार्थ में ही अर्थक्रिया सम्भव होने से द्रव्यपर्यायात्मक अर्थ ही प्रमाण का विषय है।[६] वस्तु को कथंचित् भेदाभेदात्मक, कथंचित् नित्यानित्यात्मक और

---

१. लघीयस्त्रय, कारिका २२
२. लघीयस्त्रय, कारिका २३-२४
३. लघीयस्त्रय, कारिका ७
४. प्रमाणवार्तिक, २/३
५. लघीयस्त्रय, कारिका ८
६. लघीयस्त्रय, कारिका ७

कथंचित् सदसदात्मक ही मानना चाहिए, तभी उसमें अर्थक्रिया सम्भव है।

नय व्यवस्था :

द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु में जो भेद और अभेद विषयक अभिप्राय हैं, उन्हें जब दार्शनिक अपने-अपने अभिप्राय को स्वीकार करते हुए दूसरे के अभिप्राय का निराकरण नहीं करते हैं तब वे नय कहलाते हैं और जब वे दूसरे के अभिप्राय का निराकरण करते हुए अपने ही एकाकी अभिप्राय को वस्तु का पूर्ण स्वरूप मानते हैं तब वे नय न होकर नयाभास अथवा मिथ्यानय कहलाते हैं। इसी को समन्तभद्राचार्य ने "निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तुतेऽर्थकृत"[1] के रूप में प्रतिपादित किया है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भेद से नय दो प्रकार का है। द्रव्यार्थिक नय के संग्रह, नैगम और व्यवहार- ये तीन भेद हैं और पर्यायार्थिक नय के ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ तथा एवम्भूत- ये चार भेद हैं। यहाँ अकलंकदेव ने विभिन्न दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को पर के अभिप्राय का निराकरण करके केवल अपने अभिप्राय को वस्तु का सर्वथा स्वरूप स्वीकार करने के कारण विभिन्न नयाभासों में गर्भित किया हैं, उनके अनुसार वेदान्तियों का ब्रह्माद्वैतवाद सन्मात्र तत्त्व के जीवादि भेदों का निराकरण करता है। अतः वह संग्रहनयाभास है।[2] नैयायिक-वैशेषिक, गुण-गुणी और अवयव-अवयवी में अत्यन्त भेद मानते हैं, जबकि वे सर्वथा भिन्न नहीं हैं, अपितु किसी अपेक्षा से वे अभिन्न भी हैं। अतः वे भी नैगमाभास कहे जा सकते हैं।

नयों का क्रम भेद :

सामान्य रूप से आगमिक-परम्परा में नयों के क्रम में सर्वप्रथम नैगम नय का उल्लेख किया गया है, किन्तु अकलंकदेव ने संग्रह नय को प्रथम स्थान दिया है।[3] इसका कारण यह है कि आगमिक-परम्परा में जो नयों का क्रम निर्धारित किया गया है; वह विषय की उत्तरोत्तर सूक्ष्मता एवं पूर्व-पूर्व का नय उत्तर-उत्तर नय में हेतु होने रूप दो दृष्टियों से व्यवस्थित है, किन्तु न्यायशास्त्र में समस्त नास्तिकों के विवादों का निराकरण करने के लिए समस्त पदार्थों के अस्तित्व के सूचक संग्रह नय को प्रथम स्थान दिया है।[4]

आचार्य अकलंकदेव के अनुसार स्व और पर का ज्ञान प्रमाण है। जानने का

१. आप्तमीमांसा, कारिका १०८
२. लघीयस्त्रय, कारिका ३८, ६६
३. लघीयस्त्रय, कारिका ३२
४. लघीयस्त्रय, कारिका ३८

नामादि रूप उपाय निक्षेप है। ज्ञाता का अभिप्राय नय है और युक्ति अर्थात् प्रमाण, नय, निक्षेप के द्वारा ही पदार्थों का ग्रहण होता है-

ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरुपायो न्यास इष्यते।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः।।[१]

नैयायिकों ने इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष को ही ज्ञान की उत्पत्ति में साधकतम माना है, किन्तु अकलंकदेव का कहना है कि- इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष आदि के होते हुए भी जब तक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है तब तक सन्निकर्ष की, सन्निकर्ष और ज्ञान के अन्वय-व्यतिरेक की तथा इन्द्रिय और सन्निकर्ष एवं सन्निकर्ष और ज्ञान के कार्यकारणभाव की व्यवस्था नहीं हो सकती है। अतः साधकतम होने से ज्ञान ही प्रमाण है।[२] यहाँ ज्ञान की उत्पत्ति का नियामक कर्मावरण का क्षयोपशम कहा गया है।[३] उनके अनुसार श्रुत के स्याद्वाद और नय- ये दो उपयोग अथवा व्यापार होते हैं। स्याद्वाद सकलादेशी है अर्थात् अनेकधर्मात्मक वस्तु का सर्वदेश कथन करता है और नय विकलादेशी है, यह वस्तु का एक देश कथन करता है-

उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ।
स्याद्वादः सकलादेशे नयो विकलसङ्कथा।।[४]

आचार्य अकलंकदेव ने स्याद्वाद पद में प्रयुक्त 'स्यात्' पद का प्रयोग न करने पर भी कुशल वक्ता के द्वारा प्रयुक्त वाक्य में 'स्यात्' पद एवं 'एवकार' पद की प्रतीति स्वतः मानी है। वे लिखते हैं-

अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र स्यात्कारोऽर्थात् प्रतीयते।
विधौ निषेधेऽप्यन्यत्र कुशलश्चेत् प्रयोजकः।।[५]

इस प्रकार आचार्य अकलंकदेव ने नयों के संग्रह में भी पूर्व आगमिक-परम्परा का समर्थन करते हुए सप्त नयों का उल्लेख किया है। उनमें से जीव-अजीव आदि में अर्थों का आलम्बन लेने से प्रारम्भिक चार अर्थनय हैं और सत्यभूत काल, कारक, लिङ्ग आदि भेद के वाचक पदविद्या अर्थात् व्याकरणशास्त्र का आलम्बन लेने से शेष तीन नय शब्दनय हैं।[६]

१. लघीयस्त्रय, कारिका ५२
२. लघीयस्त्रय, कारिका ५५
३. लघीयस्त्रय, कारिका ५७
४. लघीयस्त्रय, कारिका ६२
५. लघीयस्त्रय, कारिका ६३
६. चत्वारोऽर्थनया ह्येते जीवाद्यर्थव्यपश्रयात्
त्रयः शब्दनयाः सत्यपदविद्यां समाश्रिताः।। - लघीयस्त्रय, कारिका ७२

इस प्रकार आचार्य अकलंकदेव ने अपने लघीयस्त्रय में विभिन्न दार्शनिक मतों की समीक्षा की है तथा आगमिक-परम्परा को सुरक्षित रखते हुए अपने तर्कों के माध्यम से जैन न्यायशास्त्र की ऐसी प्रतिष्ठा की है, जो आज भी विद्वानों के लिए मार्गदर्शक है।

"जय अकलंकदेव"



श्री मद् अकलंक देव और उनका प्रमाण संग्रह

डॉ० सुरेशचन्द जैन*

अकलंक के पूर्व जैनन्याय - ईसा की प्रथम शताब्दी के आचार्य कुन्दकुन्द ने सम्भवतः सर्वप्रथम ज्ञान की स्वप्रकाशकता का सूत्रपात किया, जो परवर्ती आचार्यों के लिए सर्वमान्य हुआ। आचार्य उमास्वामी (गृद्धपिच्छाचार्य) ने 'प्रमाणनयैरधिगमः'[1] सूत्र द्वारा प्रमाण की चर्चा ही नहीं की, अपितु प्रमाण की तरह नय को भी प्रमुख स्थान दिया। उन्होंने पाँच ज्ञानों (मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल) को ही प्रमाण के रूप में स्थापित किया तथा ''मतिःस्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्''[2] सूत्र के माध्यम से अन्य दर्शनों में मान्य प्रमाणों का अन्तर्भाव परोक्ष प्रमाण में किया है। तत्पश्चात् आचार्य समन्तभद्र एवं सिद्धसेन दिवाकर ने उक्त आधार पर प्रमाण विषयक चर्चा को स्थायित्व प्रदान किया। आचार्य समन्तभद्र ने जैनदर्शन के निहितार्थ तत्त्व को 'अनेकान्तवाद' और सप्तभङ्गीवाद की प्रक्रिया को दार्शनिक दिशा की प्रक्रिया (Process) के रूप में प्रचलित ही नहीं किया, अपितु अनेकान्त में अनेकान्त की योजना करने की प्रक्रिया भी निरूपित की। प्रमाण का दार्शनिक लक्षण 'स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि लक्षणम्'[3] की स्थापना की। इसके साथ ही आचार्य समन्तभद्र ने जैनपरम्परा में सम्भवतया सर्वप्रथम 'न्याय' शब्द का प्रयोग करते हुए स्याद्वाद को न्यायशास्त्र में गुम्फित किया।[4]

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द से लेकर अकलंकदेव के पूर्व तक (उमास्वामी, समन्तभद्र, सिद्धसेन दिवाकर, पूज्यपाद, श्रीदत्त, पात्रकेसरी) जैनन्याय सम्बन्धी प्रमाण की रूपरेखा आगमिक शैली में स्थापित हो चुकी थी । जैनन्याय के प्रस्थापक के रूप में विश्रुत आचार्य अकलंकदेव ने तार्किक शैली में प्रमाण की स्थापना की है जिसे दोनों परम्पराओं (दिगम्बर और श्वेताम्बर) के परवर्ती प्रमाण-मीमांसक आचार्यों ने यथावत् स्वीकार किया। इस सन्दर्भ में पं० सुखलालजी संघवी का यह कथन सर्वथा उपयुक्त है-''अकलंक

---

* निदेशक, श्री गणेशवर्णी दि० जैन संस्थान, नरिया, वाराणसी, उ०प्र०

१. तत्त्वार्थसूत्र १।६,

२. वही १।१०

३. परस्परेक्षान्वय-भेदलिंगतः प्रसिद्धसामान्यविशेषयोस्तव समग्रतास्ति स्वपरविभासकं यथा प्रमाण भुविबुद्धि लक्षगम्।

४. जैनन्याय, पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, पृष्ठभूमि, पृष्ठ-८

ने न्याय प्रमाणशास्त्र का जैन परम्परा में जो प्राथमिक निर्माण किया, जो परिभाषायें, जो लक्षण परीक्षण किया, जो प्रमाण प्रमेय आदि का वर्गीकरण किया और परार्थानुमान तथा वाद, कथा आदि परमत प्रसिद्ध वस्तुओं के सम्बन्ध में जो प्रणाली स्थिर की, संक्षेप में अब तक जैन परम्परा में नहीं, पर अन्य परम्पराओं में प्रसिद्ध ऐसे तर्कशास्त्र के अनेक पदार्थों को जैन दृष्टि से जैन परम्परा में जो सात्मीभाव किया तथा आगम सिद्ध अपने मन्तव्यों को जिस तरह दार्शनिकों के सामने रखने योग्य बनाया, वह सब छोटे-छोटे ग्रन्थों में विद्यमान उनके असाधारण व्यक्तित्व का तथा न्याय प्रमाण स्थापना युग का द्योतक है।"[1] यहाँ सम्प्रति प्रमाणसंग्रह और उसका वैशिष्ट्य प्रस्तुत है-

प्रमाणसंग्रह - न्यायशास्त्र का एक नाम प्रमाणशास्त्र भी है। प्रमाणसंग्रह अकलंकदेव की महत्त्वपूर्ण कृति है। इस ग्रन्थ के नाम के विषय में पं. सुखलालजी संघवी का मानना है कि यह नाम दिङ्नाग के 'प्रमाणसमुच्चय' तथा शान्तरक्षित के 'तत्त्व संग्रह' का स्मरण दिलाता है। डॉ० महेन्द्रकुमारजी ने भी उक्त मान्यता का समर्थन किया है। प्रमाणसंग्रह कृति में उपलब्ध विषय सामग्री भी उक्त नाम को चरितार्थ करती है। इस ग्रन्थ में मुख्यतः प्रमाणों एवं युक्तियों का ही संग्रह है। अकलंकदेव की यह अन्तिम कृति है। इस सन्दर्भ में न्यायाचार्य डॉ० महेन्द्रकुमार का कथन है कि '... इसकी प्रौढ़ शैली से ज्ञात होता है कि यह अकलंकदेव की अन्तिम कृति है और इसमें उन्होंने अपने यावत् अवशिष्ट विचारों को लिखने का प्रयास किया है, इसीलिए यह इतना गहन हो गया है। इसमें हेतुओं की उपलब्धि-अनुपलब्धि आदि अनेकों भेदों का विस्तृत विवेचन है जबकि न्यायविनिश्चय में इनका नाम ही लिया गया है....।[2]

प्रमाणसंग्रह में कुल ८६-१/२ कारिकायें हैं, जो नौ प्रस्तावों में विभाजित हैं। उसकी विषयवस्तु इस प्रकार है-

१. प्रथम प्रस्ताव- इस प्रस्ताव में ६ कारिकायें हैं। इसमें प्रमुख रूप से (१) प्रत्यक्ष का लक्षण (२) प्रत्यक्षानुमानागम और (३) उनका फल तथा (४) मुख्य प्रत्यक्ष का लक्षण आदि का निरूपण है।

२. द्वितीय प्रस्ताव- इस प्रस्ताव में ६ कारिकायें हैं। इसमें मुख्य रूप से परोक्ष प्रमाण के भेद-स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क का निरूपण है।

३. तृतीय प्रस्ताव- इस प्रस्ताव में १० कारिकायें है। इसमें अनुमान के अंग,

१. दर्शन और चिन्तन, पृष्ठ ३६५
२. अकलंक ग्रन्थत्रय- प्रस्तावना, डा० महेन्द्रकुमार जैन, पृष्ठ-३६

साध्य-साधन लक्षण, साध्याभास, सदसदेकान्त में साध्य प्रयोग की असंभवता, सामान्य-विशेषात्मक वस्तु की साध्यता तथा संशयादि आठ दोषों का परिहार है।

४. **चतुर्थ प्रस्ताव**- इस प्रस्ताव में ११-१/२ कारिकायें हैं। इसमें अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु का समर्थन किया गया है। अनुपलब्धि के भेदों का भी निदर्शन है।

५. **पंचम प्रस्ताव**- इस प्रस्ताव में १०-१/२ कारिकायें हैं, जो हेत्वाभास के विवेचन से सम्बन्धित हैं। इसमें अन्तर्व्याप्ति का भी विवेचन किया गया है।

६. **षष्ठ प्रस्ताव**- इस प्रस्ताव में १२-१/२ कारिकायें हैं इसमें शास्त्रार्थ विषयक विवेचन है जिसमें मुख्यतः वाद, जय, पराजय आदि का स्वरूप बतलाया गया है।

७.सप्तम प्रस्ताव- इस प्रस्ताव में १० कारिकायें हैं, जो प्रवचन के लक्षण, सर्वज्ञता के विषय में सम्भावित सन्देहों के निराकरण और अपौरूषेयत्व आदि के खण्डन से सम्बन्धित हैं।

८. **अष्टम प्रस्ताव**- इस प्रस्ताव में १३ कारिकायें हैं, जिनमें सप्तभंगी का विवेचन तथा नैगमादि नयों का कथन है।

९. **नवम प्रस्ताव**- इस प्रस्ताव में मात्र २ कारिकायें हैं, जो प्रमाण, नय और निक्षेप के उपसंहार से सम्बन्धित हैं।

प्रमाण के अन्तर्गत प्रत्यक्ष का लक्षण -

प्रमाणसंग्रह ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही निम्न कारिका है, जिसमें प्रमाण के दो भेद-प्रत्यक्ष और परोक्ष का उल्लेख है-

प्रत्यक्षं विशदज्ञानं त्रिधा श्रुतमविप्लवम्।
परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि प्रमाणे इति संग्रहः।।"

आचार्य कुन्दकुन्द ने ज्ञान के दो भेद किए हैं- प्रत्यक्ष और परोक्ष। तत्त्वार्थ सूत्रकर्ता ने 'मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्' 'तत्प्रमाणे', 'आद्ये परोक्षम्' 'प्रत्यक्षमन्यत्' सूत्रों में मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान को प्रमाण रूप में स्वीकार किया है। इनमें से आदि के मति एवं श्रुत परोक्ष और शेष ज्ञान प्रत्यक्ष माने गए हैं। अकलंकदेव ने उक्त सरणि को आधार बनाया और प्रमाण के दो भेद किए-प्रत्यक्ष और परोक्ष। विशदज्ञान को प्रत्यक्ष तथा प्रत्यभिज्ञा आदि ज्ञानों को परोक्ष प्रमाण के रूप में स्थापित किया। इतना ही नहीं आचार्य अकलंकदेव ने प्रत्यक्ष के सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष और मुख्य प्रत्यक्ष भेद किए और स्मृति आदि इतर दर्शनों में मान्य प्रमाणों को सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष और परोक्ष श्रुतज्ञान में अन्तर्भूत किया। विशेष रूप से सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष की सीमा का निर्धारण भी किया। अकलंक का मानना है कि शब्द संसर्ग के

अभाव की स्थिति तक सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत स्वीकार्य है। उन्होंने सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष के भी दो भेद किए १. इन्द्रिय प्रत्यक्ष और २. अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष और इन्द्रिय प्रत्यक्ष के अन्तर्गत मतिज्ञान को ग्रहण किया तथा दूसरी ओर अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष में स्मृति को अकलंक ने ग्रहण किया है, क्योंकि उनका मानना है कि स्मृति में मन का ही मुख्य व्यापार होता है।[1] अकलंक का तर्क है कि यदि मतिज्ञान को इन्द्रिय प्रत्यक्ष माना जाये तो उसके सहयोगी स्मृति आदि को भी प्रत्यक्ष के अन्तर्गत ग्रहण करना तर्कसम्मत है।

इस सन्दर्भ में प्रमाण संग्रह की प्रथम कारिका की विवृति दृष्टव्य है-

"प्रत्यक्षं विशदज्ञानं तत्त्वज्ञानं विशदम्, इन्द्रियप्रत्यक्षम्, अनिन्द्रियप्रत्यक्षम् अतीन्द्रिय प्रत्यक्षं त्रिधा।.....परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि स्मरणपूर्वकम्। हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं द्वे एव प्रमाणे इति शास्त्रार्थस्य संग्रहः....।

इस प्रकार अकलंक ने विशदज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण माना है। यद्यपि बौद्ध भी विशदज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं, परन्तु वे निर्विकल्पक ज्ञान को ही प्रत्यक्ष की परिधि में रखते हैं। अतः उनका निर्विकल्पक ज्ञान विषय-विषयी सन्निपात के बाद होने वाले सामान्यावभासी अनाकारदर्शन के समान है जबकि अकलंक निश्चयार्थक एवं साकार स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण स्वीकार करते हैं। अकलंक द्वारा मान्य विशदज्ञान में 'साकार' और 'अञ्जसा' पद महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथमतः साकार पद से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का निराकरण तथा द्वितीयतः अञ्जसा पद संव्यवहार से प्रयोजनीय न होकर परमार्थ रूप में विशद है।

अनुमान आदि ज्ञानों से अधिक प्रतिभासन होना वैशद्य है। जिस तरह अनुमान आदि ज्ञान अपनी उत्पत्ति में लिंग ज्ञान आदि की अपेक्षा रखते हैं, उस तरह प्रत्यक्ष ज्ञान अपनी उत्पत्ति में किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता है। यही इसका वैशद्य है।

परोक्ष प्रमाण :

अकलंक ने अस्पष्ट ज्ञान को परोक्ष ज्ञान माना है।[2] चक्षु आदि इन्द्रियों के निमित्त से होने वाला ज्ञान एकदेश रूप से स्पष्ट होता है, अतः उसे सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष माना है। आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में तत्त्वार्थ सूत्रकार और

---

१. ज्ञानमाद्यंतिः संज्ञा चिन्ताचाभिनिबोधनम्। प्राङ्नाम योजनाच्छेषं श्रुतंशब्दानुयोजनात्"
प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा–न्यायविनिश्चय श्लोक३ लघीयस्त्रय, कारिका १०

२. लघीयस्त्रय, कारिका ३
"प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः
परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाणे इति संग्रहः।।"

अकलंकदेव के उल्लिखित मन्तव्य को सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने इस प्रकार व्यक्त किया है-

अकलंकदेव के कथन से सूत्रकार के कथन में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती, क्योकि अकलंकदेव ने अक्ष-आत्मा से होने वाले अतीन्द्रिय ज्ञान को ही मुख्य प्रत्यक्ष कहा है। इस दृष्टि से इन्द्रिय और मन से होने वाला मतिज्ञान परापेक्ष होने से परोक्ष ही है, किन्तु इसमें कुछ स्पष्टता पाई जाती है और लोकव्यवहार में उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है इसलिए उसे सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष कहा है।[१]

इस प्रकार अकलंक ने विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष तथा अस्पष्ट ज्ञान को परोक्ष प्रमाण माना है।

प्रमाण लक्षण विषयक चर्चा :

आचार्य कुन्दकुन्द प्रभृति आचार्यों का अनुसरण करते हुए आचार्य समन्तभद्र द्वारा प्रणीत प्रमाण में स्वपरावभासकत्व तत्त्व को अकलंक ने भी स्वीकार किया है। पूज्यपाद की प्रमाण की मीमांसा (ज्ञान-प्रमाण) को भी अकलंक ने स्वीकार किया परन्तु सिद्धसेन कृत प्रमाण लक्षण[२] में 'बाधविवर्जित' विशेषण उन्हें स्वीकार्य नहीं हुआ। अकलंक ने एक ओर लघीयस्त्रय में 'व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम्' अर्थात् स्वपरावभासी व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण कहा तो दूसरी ओर अष्टशती में 'प्रमाणमविसंवादिज्ञानमनधिगतार्थलक्षणत्वात्'- अनधिगतार्थक अविसंवादि ज्ञान को प्रमाण कहा है। प्रमाणसंग्रह के नवें प्रस्ताव में प्रमाण और नय का उपसंहार करते हुए अकलंक ने प्रमाण लक्षण इस प्रकार किया है-

"ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरुपायो न्यास इष्यते" कारिका (८६)। इसी कारिका की विवृति में वे आगे लिखते हैं कि-

"मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्, तदेव प्रमाणं न शब्दादिः अन्यत्रोपचारात्। प्रमाणमेव हिं ज्ञानं मत्यज्ञानादेरनधिगतेः।"

उक्त विभिन्न लक्षणों में एक तत्त्व समान है और वह है ज्ञान को प्रमाण माना जाना। फिर चाहे वह व्यवसायात्मक हो अथवा अनधिगतार्थक। वस्तुतः दर्शनशास्त्र में "प्रमाकरणं प्रमाणम्" इस विषय में सभी एकमत हैं, परन्तु वह करण क्या है, यही मतभेद का कारण है। अकलंक का मानना है कि प्रमाण मात्र को व्यवसायात्मक होना चाहिए क्योंकि कोई भी ज्ञान निर्विकल्पक या अव्यपदेश्य नहीं हो सकता। यह सम्भव

१. जैनन्याय, पं. कैलाशचन्द्रशास्त्री पृष्ठ, १३२

२. प्रमाणं स्वपरामाभिज्ञानं बाधविवर्जितम्"-न्यायावतार, कारिका १

ही नहीं कि अर्थ का ज्ञान हो और कोई विकल्प न आए।

अनधिगतार्थक प्रमाण-लक्षण और व्यवसायात्मक प्रमाण-लक्षणों के विषय में डॉ० कोठिया जी का कहना है कि इनमें मात्र शब्दों का अन्तर है। इन लक्षणों में मूल आधार आत्मार्थग्राहक एवं व्यवसायात्मक ही है, परन्तु अर्थ के विशेषण रूप से कहीं अकलंक ने 'अनधिगत' और कहीं 'व्यवसायात्मक' पद दिए हैं। 'अविसंवादि' पद.... जैन चिन्तक पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि (१/१२)में उपलब्ध है।[1]

न्यायाचार्य डॉ० महेन्द्रकुमार ने 'अकलंक ग्रन्थत्रय' की प्रस्तावना में उल्लेख किया है कि-अकलंकदेव ने इस (प्रमाण) लक्षण में अविसंवादि और अनधिगतार्थग्राहि- इन दो नए पदों का समावेश करके अवभासक के स्थान पर व्यवसायात्मक पद का प्रयोग किया है। अविसंवादि तथा अज्ञातार्थ प्रकाश पद स्पष्ट रूप से धर्मकीर्ति के प्रमाण लक्षण से आए हैं तथा व्यवसायात्मक पद न्यायसूत्र से। इनकी लक्षण संघटना के अनुसार स्व और पर का व्यवसाय-निश्चय करने वाला अविसंवादि–संशयादि समारोप का निरसन करने वाला और अनधिगतार्थ को जानने वाला ज्ञान प्रमाण होगा।[2]

इस प्रकार प्रमाण-लक्षण की सुस्पष्ट संघटना का श्रेय आचार्य अकलंक को जाता है। परवर्ती आचार्यों ने अकलंक द्वारा स्थापित पद्धति का अनुकरण किया है। परीक्षामुखकर्त्ता माणिक्यनन्दि ने 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्' कहकर जिस अपूर्वार्थ ज्ञान को प्रमाण कहा है उसमें अपूर्व पद अनधिगत का समानार्थक है। इसी प्रकार प्रभाचन्द ने भी अकलंक का ही अनुसरण किया है।

धारावाहिक ज्ञान का प्रामाण्य-

मीमांसक[3] की दोनों परम्पराओं (प्रभाकर एवं कुमारिल) में धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण माना गया है। (अज्ञाननिवृत्तिपूर्वक निरन्तर उत्पन्न होने वाला उत्तरज्ञान) जैन दार्शनिकों में भी धारावाहिक ज्ञान के प्रामाण्य को लेकर दो विचारधारायें हैं। एक विचारधारा के अनुसार अनधिगत अर्थ का ग्राही ज्ञान प्रमाण है, धारावहिक ज्ञान प्रमाण नहीं है, किन्तु अनधिगत पद से सर्वथा अनधिगत अर्थ ग्रहण न कर कथंचित् अर्थ में ग्रहण करने से यह मान्य है कि प्रथम ज्ञान से जाने हुए पदार्थ में प्रवृत उत्तरज्ञान यदि पूर्व की अपेक्षा कुछ विशेष जानता है तो वह प्रमाण है।[4] दूसरी विचारधारा के अनुसार

१. जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन–डॉ० दरबारीलाल कोठिया, पृष्ठ..
२. अकलंक ग्रन्थत्रय-प्रस्तावना, पृष्ठ ४३
३. तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधविवर्जितम्।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम्।।
४. जैनन्याय–पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, पृष्ठ ५१

धारावाहिक ज्ञान यदि गृहीतग्राही अथवा अगृहीतग्राही होते हुए स्वार्थ का निश्चायक है तो वह प्रमाण है।[1]

जैनदर्शन में पहली विचारधारा का प्रतिनिधित्व अकलंकदेव करते हैं। दूसरी विचारधारा के समर्थक हैं आचार्य अकलंक के अनुगामी विद्यानन्द और माणिक्यनन्दि। विद्यानन्द ने 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्' में प्रयुक्त 'अपूर्व' पद की निरर्थकता प्रतिपादित की है। हेमचन्द्रसूरि ने भी 'प्रमाण-मीमांसा' में ग्रहीतग्राही ज्ञान को प्रमाण स्वीकार किया है (उनका तर्क है कि- द्रव्य की अपेक्षा से गृहीतग्राहित्व के प्रामाण्य का निषेध करते हैं अथवा पर्याय की अपेक्षा से) पर्याय की अपेक्षा से तो धारावाहिकज्ञान भी ग्रहीतग्राही नहीं है, क्योंकि पर्याय क्षणिक होती है। अतः उसका निराकरण करने के लिए अपूर्व पद देना व्यर्थ है।[2]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि यद्यपि जैन दार्शनिकों में अपूर्व पद एवं धारावाहिकज्ञान के प्रामाण्य के विषय को लेकर किंचित् मतभेद है, फिर भी अकलंक की एक विशेष पद्धति रही है, जिसके अनुसार उन्होंने अन्य मतों की ऐकान्तिकता की समीक्षा करते हुए अनेकान्तवाद का पुट देकर उन्हें अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया है। यद्यपि अपूर्व पद के विषय में भी किंचित् मतभेद है, फिर भी वह प्रमाण स्व का निश्चार्यक होता है इसमें कोई मतभेद नहीं है।

इस प्रकार आचार्य अकलंकदेव अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रतिपादित ज्ञान-मीमांसा पर प्रमाण का भव्य महल बनाकर अपने द्वारा लिखित प्रमाणसंग्रह में उसका विवेचन प्रस्तुत किया है तथा उन्होंने जहाँ पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निश्चित विषयों का विस्तार से विवेचन किया है, वहीं उन्होंने प्रमाण के विषय में अनेक नई एवं मौलिक उद्भावनायें एवं प्रस्थापनायें प्रस्तुत करके अपने साहसी और महान् व्यक्तित्व का परिचय देकर आगे के विद्वानों को इन विषयों पर विस्तार से विचार करने का मार्ग प्रशस्त किया है।



१. जैनन्याय, पृष्ठ ५१
२. जैनन्याय, पृष्ठ ५३

भट्ट अकलंक की तर्कविदग्धता : तत्त्वार्थवार्तिक के सन्दर्भ में

डॉ० जयकुमार जैन*

श्रद्धा में जब तर्क का समावेश होता है, तब दर्शन जन्म लेता है। वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान ही दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य है। जब सभी दार्शनिक तर्क की सरणि से मुख्य अर्थ का साक्षात्कार करते हैं तो उनमें मतभेद क्यों ? यह प्रश्न न केवल सामान्य जनों को, अपितु श्रेष्ठ विचारकों को भी आन्दोलित करता है। आत्मा के स्वरूप के विषय में ही विचार करें तो यदि सांख्य आत्मा को कूटस्थ नित्य मानते हैं तो बौद्ध प्रतिक्षण परिवर्तनशील क्षणिक। नैयायिक-वैशेषिक गुणों में परिवर्तन मानते हैं तो मीसांसक अवस्था भेद का परिवर्तन मानते हुये भी नित्य। जैन अवस्था-भेद का परिवर्तन तो मानते हैं, किन्तु यह परिवर्तन अविच्छिन्न पर्याय परम्परा रूप स्वयं द्रव्य का लक्षण है। चार्वाक भूतचतुष्टय को ही आत्मा मानता है। इसी प्रकार आत्मा की मूर्तता-अमूर्तता के विषय में भी मतवैभिन्य है। यह मतवैभिन्य कदाचित् तर्कजन्य है। तर्क की प्रामाणिकता को मान लेने के कारण ही कदाचित् प्रत्येक दार्शनिक यह समझ बैठा है कि उसका दर्शन पूर्ण एवं सत्य है किन्तु सब दर्शनों को पूर्ण एवं सत्य कैसे कहा जा सकता हैं? इसीलिए हरिभद्रसूरि लोकतत्त्वनिर्णय में तर्क की निरर्थकता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं-

ज्ञायेरन् हेतुवादेन पदार्था यद्यतीन्द्रियाः।
कालेनैतावता तेषां कृतः स्यादर्थनिर्णयः।।'

महाभारत में भी अप्रतिष्ठ कहकर तर्क की पूर्ण प्रामाणिकता स्वीकार नहीं की गई है, कहा भी है-

'तर्कोप्रतिष्ठः श्रुतयोर्विभिन्नाः नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः।।

इस सब कथनों के होते हुए भी तर्क की, युक्ति की महत्ता का निषेध नहीं किया जा सकता है। स्वयं हरिभद्रसूरि ने अन्यस्थल पर तर्क, युक्ति, परीक्षण को आवश्यक

---

* रीडर, संस्कृत विभाग, एस०डी०पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, मुजफ्फरनगर

माना है। वे कहते हैं-

'तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्।।'

क्योंकि अन्धश्रद्धा जितनी आसान है, उतनी प्रतिपातिनी भी। इसी कारण न्याय-वैशेषिक दर्शन ने जिन सोलह के तत्त्वज्ञान से मुक्ति मानी है, उनमें तर्क भी एक है। वे तर्क को प्रमाणों का उपकारी मानते हैं। तर्कभाषा में कहा गया है- 'सं चायं तर्कः प्रमाणानामनुग्राहकः।' न्यायसूत्र (१.१.४०) में तर्क का स्वरूप कहते हुए उसे कारणोपपत्तिपूर्वक तत्त्वज्ञान में उपकारी कहा गया है। वात्स्यायन यद्यपि तर्क को प्रमाण नहीं मानते तथापि अनुग्राहक अवश्य मानते हैं। वे लिखते हैं-'तर्को न प्रमाण संग्रहीतों न प्रमाणान्तरं प्रमाणानामनुग्राहकस्तत्त्वज्ञानाय कल्पते।' स्पष्टतया तर्क स्वयं में प्रमाण नहीं है, किन्तु अर्थसिद्धि में लिए या प्रतिपक्षी मत के खण्डन के लिए तर्क की उपयोगिता असंदिग्ध है।

जैनन्याय के प्रतिष्ठापक आचार्यप्रवर भट्ट अकलंकदेव ने जिस सातवीं शताब्दी (न्यूनतम ६७६ ई०) में जन्म लेकर भारतीय न्यायशास्त्र में जैनन्याय को प्रतिष्ठित किया, वह समय दार्शनिकों में वाद-विवाद का समय था। शास्त्रार्थ के माध्यम से वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन किया जाता था और इसी आधार पर होती थी जय या पराजय। अतः उन्होंने अपने प्रतिपादन में तर्क की सरणि अपनायी और सभा में तार्किक के रूप में उन्हें प्रतिष्ठा मिली। कहा भी है-

"सदसि यदकलंकः कीर्तने धर्मकीर्तिः
वचसि सुरपुरोधा न्यायवादेऽक्षपादः।"

'प्रमाणमकलंकस्य' उक्ति तार्किक संसद में उसी प्रकार प्रतिष्ठित है, जिस प्रकार 'उपमा कालिदासस्य' 'भारवेरर्थगौरवम्' या 'दण्डिनःपदलालित्यम्। भट्ट अकलंकदेव ने तत्त्वार्थवार्तिक में सैकड़ों तर्कों के द्वारा पूर्वपक्षियों की आशंकाओं को उठाकर उनका समाधान प्रस्तुत किया है। सब तर्कों का उल्लेख करना न तो इस लेख की सीमा में आ सकता है और न ही प्रासंगिक है। यहाँ उदाहरणार्थ कतिपय बिन्दु प्रस्तुत हैं, जिनसे उनकी तर्कविदग्धता तार्किकों के निकष पर परीक्षित होकर खरी उतरती है और उनके तर्क प्रमाण के साधन बनते हैं।

ग्रन्थ की उत्थानिका में एक आशंका प्रस्तुत की गई है कि जब मोक्ष अन्तिम, अनुपम एवं उत्तम पुरुषार्थ है तो उसी का उपदेश करना चाहिए था। सर्वप्रथम मोक्षमार्ग का उपदेश क्यों किया गया है? इसका तार्किक समाधान प्रस्तुत करते हुए तत्त्वार्थवार्तिककार

कहते हैं कि मोक्षार्थी भव्य ने मार्ग ही पूछा है, अतः प्रश्नानुरूप मार्ग का उपदेश सर्वप्रथम किया गया है। जैसे पटना जाने वाले लोगों में पटना के प्रति विप्रतिपत्ति नहीं होती है, पटना के मार्ग के प्रति विप्रतिपत्ति है। अतः उन्हें पटना के मार्ग का ही उपदेश देना समीचीन होता है। पुनः आशंका की गई कि मोक्ष जब प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं है तो उसका मार्ग बताना निष्प्रयोजन है। इसका समाधान किया गया है कि यद्यपि अनुमान से उसकी सिद्धि हो जाती है। जैसे-घटीयन्त्र का घूमना धुरी से, उसका घूमना जुते बैलों के घूमने से और बैलों के न घूमने से सबका घूमना रूक जाता है, उसी प्रकार कर्मोदय से गतिचक्र चलता है और गतिचक्र से वेदना रूपी घटीयन्त्र घूमता है और कर्मोदय की निवृत्ति होने पर चतुर्गति का चक्र रूक जाता है। तदनन्तर जिज्ञासु पूछता है कि बन्धपूर्वक मोक्ष होता तो मोक्षमार्ग का उपदेश न देकर पहले बन्ध के कारणों का उपदेश देना चाहिए था। इस जिज्ञासा का बड़ा ही सुन्दर तार्किक समाधान किया है कि कारागार में बद्ध व्यक्ति को मुक्ति के आश्वासन की तरह मोक्षमार्ग का प्रथम उपदेश आनन्ददायक है।[१] इस प्रकार उत्थानिका में ही भट्ट अकलंकदेव की तर्कविदग्धता का निदर्शन दृष्टिगत हो जाता है।

जैनदर्शन की मान्यता है कि केवलज्ञान के हो जाने पर अन्य ज्ञानों की सत्ता नहीं रहती है। पूर्वपक्षी कहता है कि केवलज्ञान होने पर अन्य क्षायोपशमिक ज्ञानों का अभाव नहीं हो सकता है, अपितु दिन में तारागण की तरह विद्यमान रहने पर वे अभिभूत हो जाते हैं और अपना कार्य नहीं करते हैं। इसका तर्कपूर्ण समाधान करते हुए भट्ट अकलंकदेव का कथन है कि केवलज्ञान क्षायिक और विशुद्ध होता है, अतः उसके प्रकट हो जाने पर क्षयोपशमजन्य लेशतः अशुद्धि की भी सत्ता रह ही नहीं सकती।[२] 'जीवभव्याभव्यत्वानि च' सूत्र की संरचना पर एक व्याकरणात्मक आशंका पूर्वपक्षी की है। पूर्वपक्षी कहता है– कि–'त्व' भावार्थक प्रत्यय है। भाव में बहुवचन का प्रयोग करना समीचीन नहीं कहा जा सकता है। इसका उत्तर इस प्रकार दिया गया है कि– जीव, भव्य एवं अभव्य तीनों के भाव पृथक्-पृथक् हैं, एक समान नहीं। द्रव्य भेद से भाव में भी भिन्नता है। अतः पृथक्-पृथक् भावों के निर्देश के लिए बहुवचन का प्रयोग न केवल समीचीन है, अपितु अपेक्षित भी है।[३]

'उपयोगो लक्षणम्' सूत्र के व्याख्यान में कोई प्रतिपक्षी दार्शनिक कहता है कि दूध

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक, उत्थानिका

२. वही १/३०,

३. वही २/७

का दूध रूप में परिणमन नहीं होता है,.अपितु दधि आदि के रूप में होता है, तब आत्मा का ज्ञान रूप में परिणमन कैसे हो सकता है, क्योंकि ज्ञान तो स्वयं आत्मा है। क्या तर्क है भट्ट अकलंकदेव का, कि यदि अन्यथा ही परिणमन मानोगे तो स्वपक्ष साधन और परपक्षदूषण में भी यही प्रसंग आ जायेगा और इससे हमारे ही पक्ष की सिद्धि हो जायेगी।[1] यह शास्त्रार्थी पद्धति का समाधान है। द्वितीय अध्याय के अन्तिम सूत्र में प्रश्न उपस्थापित किया गया है कि चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त और नारायण कृष्ण की भी अकाल मृत्यु सुनी जाती है तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि उत्तम देह वालों की अकाल मृत्यु नहीं होती। इसका समाधान करते हुये कहा है कि चरमोत्तम एक पद नहीं है, अपितु चरम विशेषण है और उत्तम विशेष्य है। अतः केवल उत्तम शरीर वालों की अकाल मृत्यु में कोई बाधा नहीं है। हाँ, अन्तिम उत्तम शरीर वालों की अकाल मृत्यु नहीं होती है। जैसे- आम को पाल में समय से पहले पका दिया जाता है, वही आम का पकना कहलाता है। वैसे ही निश्चित मरणकाल से पहले आयु की उदीरणा हो जाती है, उसे अकाल मृत्यु कहते हैं। एक अन्य उदाहरण देकर कहा गया है कि जैसे गीला कपड़ा फैला देने पर जल्दी सूख जाता है, इकट्ठा रखने पर नहीं। वैसे ही उदीरणा होने पर निश्चित समय से पहले मृत्यु हो जाती है।[2]

'कायप्रवीचारा आ ऐशानात्' सूत्र में आ+ऐशानात् में आ उपसर्ग को अभिविधि अर्थ में दिखाने के लिए सन्धि नहीं की गई है। 'ऐशानपर्यन्तम्' कहने पर भी मर्यादा या अभिविधि का ज्ञान नहीं हो सकता था।[3] इसी प्रकार 'अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः' सूत्र में अजीव से 'न जीवः' अर्थात् जीवभाव रूप अर्थ नहीं लेना है, अपितु 'अनश्वः' की तरह जीवभिन्न (अचेतन) अर्थ का ग्रहण करना अभीष्ट है।[4] कितनी सूक्ष्मता भरी है भट्ट अकलंकदेव के तर्कों में, यह सहृदय समालोचक ही समझ सकते हैं।

'प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत्' सूत्र में आशंकाकार कहता है कि यदि दीपक के प्रकाश की तरह संहार-विक्षर्प माना जायेगा तो आत्मा भी घटादि के समान छेदन-भेदन को प्राप्त हो जायेगा। इसके उत्तर में एक व्यावहारिक तर्क द्रष्टव्य है। सरदी-गरमी का प्रभाव चमड़े पर पड़ सकता है, आकाश पर नहीं। आत्मा का स्वरूप अछेद्य-अभेद्य है। अतः स्वभाव में ऐसी संभावना नहीं की जा सकती है।[5] बीज अंकुर में है या नहीं

१. वही २/८
२. वही २/५३
३. वही ४/७
४. वही, ५/१
५. वही ५/१६

तथा बीज से अंकुर भिन्न है या अभिन्न-सदृश आशंकाओं का समाधान अनेकान्त पद्धति से करते हुए राजवार्तिक में कहा है कि बीज अंकुर में कथञ्चित् है, कथञ्चित् नहीं। बीज अंकुर से कथंचित् भिन्न है, कथञ्चित् अभिन्न।[१]

'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' सूत्र पर आक्षेप करता हुआ पूर्वपक्षी कहता है कि गुण संज्ञा जैनों की नहीं है। यदि होती तो द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक के समान गुणार्थिक नय भी होता। इसका सयुक्तिक समाधान दो प्रकार से किया गया है। एक तो स्वयं तत्त्वार्थ सूत्र में 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' सूत्र में गुण का कथन है। अन्य बात यह है कि 'गुणा एव पर्यायाः' ऐसा सामानाधिकरण्य रूप में यह प्रयोग सोने की अंगूठी की तरह समझा जा सकता है। पर्यायें गुणों से सर्वथा भिन्न नहीं है।[२]

'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः'। सूत्र में 'कर्मणः' पद पृथक् प्रयुक्त है। 'कर्मयोग्यान्' ऐसा समस्तपद नहीं रखा गया है। इसका कारण यह है कि 'कर्मणः' पद षष्ठी का है, किन्तु इसका पंचमी विभकि में हेत्वर्थ में विपरिणमन करके दो सूत्र निकालना अभीष्ट है। इसीलिए भट्ट अकलंकदेव ने कहा है-'कर्मणो योग्यानिति पृथक् विभक्त्युच्चारणं वाक्यान्तरज्ञापनार्थम्'। दो सूत्र इस प्रकार निष्पन्न होते हैं-१.कर्मणो जीवः सकषायो भवति। २ कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते।[३] पुद्गल के विवेचन में प्रश्न उपस्थापित किया गया है कि–पुद्गल द्रव्य जब एक है तो अवरण, सुख-दुःख आदि अनेक कार्यों का निमित्त कैसे बन सकता है ? इसका समाधान किया गया है कि जैसे अग्नि में दाह, पाक, प्रताप, प्रकाश सभी की सामर्थ्य है वैसे ही पुद्गल द्रव्य में ऐसी सामर्थ्य है, उसका ऐसा ही स्वभाव है।[४] इसी प्रकार कर्मबन्ध के विषय में आशंका की गई है कि जब वह अनादि है तो उसे अनन्त भी होना चाहिए, उसका अन्त कैसे हो सकता है ? इसके समाधान में तर्क दिया गया है कि बीजांकुर यद्यपि अनादि है, किन्तु अग्नि से बीज जला देने पर जैसे पुनः अंकुर नहीं हो पाता है, उसी तरह कर्मबीज के नष्ट हो जाने पर भवांकुर नहीं रह पाता है। अतएव कर्मबन्ध अनादि तो है, पर अनन्त नहीं।[५]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भट्टअकलंकदेव के तर्क सामर्थ्यवान्, कथ्य को सिद्ध करने में समर्थ तथा प्रमाणसाधन रूप हैं। 

१. वही ५/२२

२. वही ५/३८

३. वही ८/२

४. वही, ८/४

५. वही, १०/२

आ० अकलंकदेवकृत तत्त्वार्थवार्तिक के कतिपय वैशिष्ट्य

डा० रमेशचन्द्र जैन*

जैनागमों की भाषा प्राकृत रही है। संस्कृत में सर्वप्रथम जैन रचना होने का श्रेय गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वामिकृत तत्त्वार्थसूत्र को है। तत्त्वार्थसूत्र सूत्र शैली में लिखा गया है। सूत्र रूप में ग्रथित यह ग्रन्थ जैन तत्त्वज्ञान का सागर है। लघुकाय सूत्रग्रन्थ होने पर भी यह गागर में सागर भरे जाने की उक्ति को चरितार्थ करता है। यही कारण है कि जैनधर्म की दिगम्बर और श्वेताम्बर–दोनों परम्पराओं में यह मान्य है। इस सूत्रग्रन्थ का मुख्य नाम तत्त्वार्थ है। इस नाम का उल्लेख टीकाकारों ने किया है। इसमें आचार्य पूज्यपाद, अकलंकदेव और विद्यानन्द प्रमुख हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इन्हीं सात तत्त्वों का तत्त्वार्थसूत्र में विवेचन है। ग्रन्थ की महत्ता को देखते हुए इस पर अनेक टीकायें लिखी गई । दिगम्बर परम्परा में इस पर सबसे प्राचीन टीका आचार्य पूज्यपाद देवनन्दिकृत सर्वार्थसिद्धि प्राप्त होती है। यद्यपि सर्वार्थसिद्धि में कुछ प्रमाण ऐसे हैं, जिनसे पता चलता है कि इससे पूर्व भी कुछ टीकायें लिखी गयी थीं, जो आज अनुपलब्ध हैं। श्वेताम्बर परम्परा में इस पर तत्त्वार्थाधिगम भाष्य प्राप्त होता हैं, जो स्वोपज्ञ कहा जाता है, किन्तु इसके स्वोपज्ञ होने में विद्वानों ने संदेह व्यक्त किया है।[1] सर्वार्थसिद्धि में तत्त्वार्थसूत्र का जो पाठ निर्धारित किया गया है, दिगम्बर परम्परा के सभी विद्वानों व आचार्यों ने उसका अनुसरण किया है। सर्वार्थसिद्धि को ही दृष्टि में रखते हुए उस पर अकलंकदेव ने तत्त्वार्थवार्तिक और आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक जैसी प्रौढ़ और गहन तत्त्वज्ञान से ओत-प्रोत अनेक टीकायें लिखी हैं। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के जोड़ की टीकायें नहीं मिलती हैं। यद्यपि संख्या की दृष्टि से अनेक टीकायें प्राप्त हैं। समकालीन या परवर्ती समस्त टीकायें इन टीका ग्रन्थों से प्रभावित हैं। प्रस्तुत लेख का प्रतिपाद्य तत्त्वार्थवार्तिक ही है।

तत्त्वार्थवार्तिक तत्त्वार्थसूत्र पर अकलंकदेव की अतिगहन, प्रखर दार्शनिकता और

---

* जैन मन्दिर के पास, बिजनौर (उ० प्र०)

१. विशेष जानकारी के लिए सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्रशास्त्री की सर्वार्थसिद्धि की प्रस्तावना देखिए

प्रौढ़ शैली में लिखी गयी मौलिक कृति है। इसे राजवार्तिक के नाम से भी जाना जाता है। वार्तिककार अकलंकदेव ने सर्वार्थसिद्धि का अनुसरण करने के साथ-साथ उनकी अधिकांश पंक्तियों को वार्तिक बना लिया है। वार्तिक के साथ उनकी व्याख्या की है। चूंकि तत्त्वार्थसूत्र में दस अध्याय हैं, अतः तत्त्वार्थवार्तिक में भी दस ही अध्याय है किन्तु उद्योतकर के न्यायवार्तिक की तरह प्रत्येक अध्याय को आहिकों में विभक्त कर दिया गया है। इससे पहले जैन साहित्य में अध्याय के आह्निकों में विभाजन करने की पद्धति नहीं पाई जाती है। अकलंकदेव द्वारा तत्त्वार्थवार्तिक में दिये गये वार्तिक प्रायः सरल और संक्षिप्त हैं, किन्तु उनका व्याख्यान जटिल है। इस ग्रन्थ में अकलंकदेव के दार्शनिक, सैद्धान्तिक और वैयाकरण-ये तीन रूप उपलब्ध होते हैं।[1]

दार्शनिक वैशिष्ट्य- तत्त्वार्थवार्तिक के अध्ययन से यह बात स्पष्ट पता चलती है कि इसके रचनाकार भट्ट अकलंकदेव विभिन्न भारतीय दर्शनों के तलस्पर्शी अध्येता थे। उन्होंने विभिन्न दर्शनों के मन्तव्यों की समीक्षा कर अनेकान्तिक पद्धति से समाधान करने की परम्परा को विकसित किया है। उनका वाङ्मय गहन है। विद्वान् भी उसका विवेचन करने में कठिनाई का अनुभव करते हैं। उनके विषय में वादिराजसूरि ने कहा है-

"भूयोभेद नयावगाहगहनं देवस्य यद्वाङ्मयम्।
कस्यद्विस्तरतो विविच्य वदितुं प्रभुमादृशः।।"

अर्थात् अकलंकदेव की वाणी अनेक भंग और नयों से व्याप्त होने के कारण अतिगहन है। मेरे समान अल्पज्ञ प्राणी उसका विस्तार से कथन और वह भी विवेचनात्मक कैसे कर सकता है।"

तत्त्वार्थवार्तिक में न्याय-वैशेषिक, बौद्ध, सांख्य, मीमांसा तथा चार्वाक मतों की समीक्षा प्राप्त होती है। इसमें न्याय-वैशेषिक और बौद्धदर्शन की समीक्षा अनेक स्थलों पर की गयी है। अकलंकदेव का उद्देश्य इन दर्शनों की समीक्षा के साथ-साथ इनके प्रहारों से जैन तत्त्वज्ञान की रक्षा करना भी रहा है। इसमें वे पर्याप्त सफल भी हुए हैं। उन्होंने जैनन्याय की ऐसी शैली को जन्म दिया है जिसके प्रति बहुमान रखने के कारण परवर्ती जैन ग्रन्थकार इसे अकलङ्क-न्याय के नाम से अभिहित करते हैं। उनकी शैली परवर्ती जैन न्याय ग्रन्थकारों ने चाहे वे दिगम्बर परम्परा के रहे हों या श्वेताम्वर परम्परा के, बहुत अपनाया है। इस रूप में आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेन के बाद जैन न्याय के क्षेत्र में उनका नाम बड़े गौरव के साथ लिया जाता है। यहाँ उनके द्वारा

१. न्यायकुमुदचन्द्र, प्र० भाग, पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित प्रस्तावना, पृ०४३

की गई विभिन्न दर्शनों की समीक्षा प्रस्तुत हैं।

वैशैषिक समीक्षा- तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय में प्रथम सूत्र की व्याख्या में सांख्य, वैशेषिक और बौद्धों के मोक्ष के स्वरूप का वर्णन किया गया है। वैशेषिक आत्मा के बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, और संस्कार रूप इन नव विशेष गुणों के अत्यन्त उच्छेद को मोक्ष कहते हैं। ऐसा मानते हुए भी कर्मबन्धन के विनाश रूप मोक्ष के सामान्य लक्षण में किसी को विवाद नहीं है।[१]

वैशेषिक के मत से द्रव्य, गुण और सामान्य पदार्थ पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र हैं, इसलिए उनके मत में उष्ण गुण के योग से अग्नि उष्ण है ऐसा कहा जा सकता हैं, स्वयं अग्नि उष्ण नहीं हो सकती। अयुतसिद्ध लक्षण समवाय यहाँ इसमें है, इस प्रकार की बुद्धि प्रवृत्ति का कारण होती है, इसलिए गुण-गुणी में अभेद का व्ययदेश होता है और इस समवाय सम्बन्ध के कारण ही उष्णत्व के समवाय से गुण में उष्णता तथा उष्ण गुण के समवाय से अग्नि उष्ण हो जाती है।[२]

इसके उत्तर में आ० अकलंकदेव ने कहा है कि ऐसा नहीं है, स्वतन्त्र पदार्थों में समवाय के नियम का अभाव है। यदि उष्ण गुण एवं अग्नि परस्पर भिन्न हैं तो ऐसा कौन सा प्रतिविशिष्ट नियम है कि उष्ण गुण का समवाय अग्नि में ही होता है, शीतगुण में नहीं ? उष्णत्व का समवाय उष्ण गुण में ही होता है, शीत गुण में नहीं। इस प्रकार का प्रतिनियम दृष्टिगोचर नहीं होता।[३]

इसके अतिरिक्त समवाय के खण्डन में अनेक युक्तियां दी गई हैं।

१. वृत्यन्तर का अभाव होने से समवाय का अभाव है।[४]

२. समवाय प्राप्ति है इसलिए उसमें अन्य प्राप्तिमान का अभाव है ऐसा भी नहीं है, क्योंकि इस प्रकार के कथन में व्यभिचार आता है।[५]

दीपक के समान समवाय स्व और पर-इन दोनों का सम्बन्ध करा देगा, ऐसा कहना भी उचित नहीं है, ऐसा मानने पर समवाय में परिणामित्व होने से अनन्यत्व की सिद्धि होगी।[६]

इन सब कारणों से गुणादि को द्रव्य की पर्याय-विशेष मानना युक्तिसंगत है।

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक १/१८
२. वही १/१/१२
३. वही १/१/१३
४. वही १/१/१४
५. वही १/१/१५
६. वही १/१/१६

वैशेषिक मानते हैं कि इच्छा और द्वेष से बन्ध होता है। इच्छा द्वेष-पूर्वक धर्म और अधर्म में प्रवृत्ति होती है। धर्म से सुख और अधर्म से दुःख होता है तथा सुख-दुःख से इच्छा, द्वेष होते हैं। विमोही के इच्छा, द्वेष नहीं होते हैं। कारण यह है कि तत्त्वज्ञ के मिथ्यादर्शन का अभाव होता है। मोह ही अज्ञान है। विमोही षट्पदार्थ तत्त्व के ज्ञाता वैरागी यति के सुख, दुःख, इच्छा और द्वेष का अभाव धर्म, अधर्म के अभाव में नूतन शरीर और मन के संयोग का अभाव होता है। शरीर और मन के संयोग के अभाव में जन्म नहीं होता है, वह मोक्ष है।[1] इस प्रकार अज्ञान से बन्ध होता है, यह वैशेषिक भी मानता है।

अकलंकदेव के अनुसार वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है। इसे वे वैशेषिक में भी घटित करते हैं। वैशेषिक पृथ्वीत्व आदि सामान्य-विशेष स्वीकार करते हैं। एक ही पृथ्वीत्व स्व व्यक्तियों में अनुगत होने से सामान्यात्मक होकर भी जलादि से व्यावृति कराने का कारण होने से विशेष कहलाता है। इस प्रकार एक ही वस्तु में सामान्य-विशेषात्मक स्वीकार करने वाले वैशेषिक सिद्धान्त में भी एक वस्तु के उभयात्मक मानने में विरोध नहीं आता।[2]

प्रथम अध्याय के दसवें सूत्र की व्याख्या में ज्ञाता और प्रमाण भिन्न-भिन्न हैं। ऐसा मानने वाले वैशेषिक के अज्ञत्व दोष आता है, इसका विवेचन किया है। यदि ज्ञान से आत्मा पृथक् है तो आत्मा के घट मे समान अज्ञत्व का प्रसंग आएगा। ज्ञान के योग से ज्ञानी होता है यह कहना भी कठिन नहीं, क्योंकि जो स्वयं अज्ञानी है वह ज्ञान के संयोग से ज्ञानी नहीं हो सकता। जैसे- जन्म से अन्धा दीपक का संयोग होने पर भी द्रष्टा नहीं बना सकता, इसी प्रकार अज्ञ आत्मा भी ज्ञान के योग से ज्ञाता नहीं हो सकता है।[3]

प्रथम अध्याय के बत्तीसवें सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि वैशेषिकों का मत है कि प्रतिनियम पृथ्वी आदि जाति विशिष्ट परमाणु से अदृष्टादि हेतु के सन्निधान होने पर एकत्रत होकर अर्थान्तरभूत घटादि कार्यरूप आत्मलाभ होता है, यह कहना युक्तिसंगत नहीं क्योंकि वैशेषिक के अनुसार परमाणु नित्य है अतः उसमें कार्य के उत्पन्न करने की शक्ति का अभाव है।[4]

इसी प्रकार पांचवें अध्याय के प्रथम सूत्र में मोक्ष के कारणों के विषय में विभिन्न

१. वही १/१/४४
२. वही १/६/१४
३ वही १/१०/८-६
४ वही १/३२/४

वादियों के मतों का कथन करते हुए न्यायदर्शन की मान्यता की ओर संकेत किया है कि वे मानते हैं कि ज्ञान से ही मोक्ष होता है।[१]

तत्वाज्ञान से सभी के उत्तर(मिथ्याज्ञान) की निर्वृति हो जाने पर उसके अनन्तर अर्थ है उसकी भी निर्वृति हो जाती है। मिथ्याज्ञान के अनन्तर क्या है? दोष है, क्योंकि दोष मिथ्याज्ञान का कार्य है। दोष कार्य होने से दोष के अनन्तर प्रवृत्ति है क्योंकि दोष के अभाव में जन्मरूप कार्य का भी अभाव हो जाता है। जन्म के उत्तर दुःख है इसलिए जन्म के अभाव में दुःख है, इसलिए जन्म के अभाव में दुःख का भी नाश हो जाता है। अतः कारण की निर्वृति होने पर कार्य की निर्वृति होना स्वाभाविक है। आत्यन्तिक दुःख की निर्वृति होना ही मोक्ष है, क्योकि सुख-दुःख का अनुपयोग ही मोक्ष कहलाता है।[२]

जैनदर्शन के अनुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की समग्रता के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। जैसे- रसायन के ज्ञान मात्र से रसायनफल अर्थात् रोग निर्वृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि इसमें रसायन-श्रद्धान और रसायन-क्रिया का अभाव है, पूर्णफल की प्राप्ति के लिए रसायन का विश्वास, ज्ञान और उसका सेवन आवश्यक है। उसी प्रकार दर्शन और चारित्र के अभाव में ज्ञानमात्र से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।[३]

नैयायिक मानते है कि शब्द आकाश का गुण है वह वायु के अभिघात आदि बाह्य कारणों से उत्पन्न होता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष है, गुण है, अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता है और निराधार गुण नहीं रह सकते हैं अतः शब्द अपने आधारभूत गुणी आकाश का अनुमान करता है, ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि पौद्गलिक होने से शब्द पुद्गल का ही विकार है, आकाश का गुण नहीं है।[४]

पांचवे अध्याय के २५ वें सूत्र की व्याख्या में यह सिद्ध किया गया है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु-ये स्कन्ध के ही भेद हैं तथा स्पर्श, रस, शब्द आदि स्कन्ध की पर्यायें हैं। इसमें नैयायिक के इस सिद्धान्त का खण्डन किया गया है कि पृथ्वी में चार गुण, जल में गन्धरहित तीन गुण, अग्नि में गन्ध व रस रहित दो गुण तथा वायु में केवल स्पर्श गुण है। वे सब पृथिव्यादि जातियां भिन्न-भिन्न हैं।[५]

१. 'केचित्तावदाहु; ज्ञानादेव मोक्ष इति '-वही १/१/६
२. तत्त्वार्थवार्त्तिक १/१/४५
३. वही १/१/४६
४. वही ५/१८/१२
५. वही ५/२६/१७

सल्लेखना के सन्दर्भ में कहा गया है कि जो वादी आत्मा को निष्क्रिय कहते है,वे यदि साधुजन सेवित सल्लेखना करने वाले के लिए आत्मवध रूप दूषण देते हैं तो ऐसा करने वाले के आत्मा को निष्क्रिय मानने की प्रतिज्ञा खण्डित हो जाती है। निष्क्रियत्व स्वीकार करने पर आत्मवध की प्राप्ति नहीं हो सकती।[१]

दान के प्रसंग में कहा गया है कि आत्मा में नित्यत्व, अज्ञत्व और निष्क्रियत्व मानने पर दान विधि नहीं बन सकती। जिनके सिद्धान्त में सत्स्वरूप आत्मा अकारणभूत होने से कूटस्थ नित्य है और ज्ञानादि गुणों से भिन्न होने से आत्मा अज्ञ है और सर्वगत होने से निष्क्रिय है, उनके भी तिथि-विशेष आदि से फल-विशेष की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसी आत्मा में कोई विकार-परिवर्तन की सम्भावना नहीं है।[२]

चार्वाक दर्शन समीक्षा-पाँचवें अध्याय के २२वें सूत्र में शरीरादि को पुद्गल का उपकार कहा है। उक्त प्रसंग में कहा गया है 'तन्त्रान्तरीया जीवं परिभाषन्ते तत्कथमिति[३] अर्थात् अन्यवादी जीव को पुद्गल कहते हैं। इस प्रश्न के उंत्तर में कहा गया है कि स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले पुद्गल हैं।

मीमांसा दर्शन समीक्षा-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र-इन तीनों की एकता से मोक्ष होता है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में प्रसंग में अन्य मतों की समीक्षा के साथ मीमांसा के इस सिद्धान्त की भी समीक्षा की गई है कि क्रिया से ही मोक्ष होता है।[४]

प्रथम अध्याय के बारहवें सूत्र की व्याख्या में प्रत्यक्ष में लक्षण के प्रसंग में बौद्ध, वैशेषिक और सांख्य की समीक्षा के साथ मीमांसाकों के इस मत की समीक्षा की गयी है कि इन्द्रियों का सम्प्रयोग होने पर पुरुष के उत्पन्न होने वाली बुद्धि प्रत्यक्ष है।[५] मीमांसकों का यह मत माना जायेगा तो आप्त के प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता है।[६]

पांचवें अध्याय के सत्रहवें सूत्र में कहा गया है कि अपूर्व नामक धर्म(पुण्य-पाप) क्रिया से अभिव्यक्त होकर अमूर्त होते हुए भी पुरुष का उपकारी है अर्थात् पुरुष के उपभोग साधनों में निमित्त होता ही है। उसी प्रकार अमूर्त धर्म व अधर्म को भी जीव

१. वही ७/२२/१०
२. वही ७/३६/६
३. वही ५/२२/२६
४. अपर आहुः क्रियात एव मोक्ष इति। तत्त्वार्थवार्तिक १/१/५
५. सत्सम्प्रयोगे पुरुषेन्द्रियाणां बुद्धिजन्मतत्प्रत्यक्षम्, वही १/१२/६ (मीमांसादर्शन १/१२/४)
६. तत्त्वार्थवार्तिक १/१२/५

और पुद्गलों की गति और स्थिति में उपकारक समझना चाहिए।[1]

पाँचवें अध्याय के २४वें सूत्र की व्याख्या में स्फोटवादी मीमासंकों के विषय में कहा गया है कि वे मानते है कि ध्वनियाँ क्षणिक हैं। वे क्रम से उत्पन्न होती हैं और अनन्तर क्षण में विनष्ट हो जाती है। अतः इन ध्वनियों से अभिव्यक्त होने वाला अर्थ में प्रतिपादन के समर्थ, अमूर्त, नित्य, अतीन्द्रिय, निरवयव और निष्क्रिय शब्दस्फोट स्वीकार करना चाहिए। उनका यह मत ठीक नहीं है अर्थात् शब्द को क्षणिक, अमूर्त, निरवयव और निष्क्रिय शब्द स्फोट मानना उचित नहीं, क्योंकि ध्वनि और स्फोट में व्यंग्य-व्यक भाव नहीं है।[2]

सांख्य दर्शन समीक्षा-प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र की व्याख्या में विभिन्न वादियों की मोक्ष की परिभाषा के साथ सांख्यदर्शन की मान्यता की ओर भी निर्देश किया गया है। सांख्य यद्यपि प्रकृति और पुरुष का भेदविज्ञान होने पर स्वप्न में लुप्त हुए विज्ञान के समान अनभिव्यक्त चैतन्यस्वरूप अवस्था को मोक्ष मानता है।[3] यद्यपि कर्मबन्धन के विनाश रूप मोक्ष के सामान्य लक्षर्णों में किसी को विवाद नहीं है।[4]

पंचम अध्याय में आकाश के प्रदेशों की अनन्तता के विषय में आपत्ति होने पर बौद्ध और वैशेषिक द्वारा अनन्त को मान्यता दिये जाने का उल्लेख करते हुये सांख्य सिद्धान्त के विषय में कहा गया है कि इसमें सर्वगत होने से प्रकृति और पुरुष के अनन्तता कही गई है।[5]

जैनधर्म में धर्म और अधर्म द्रव्य को गति और स्थिति में साधारण कारण माना है। यदि ऐसा न मानकर आकाश को सर्वकार्य करने में समर्थ माना जायेगा तो वैशेषिक, बौद्ध और सांख्य सिद्धान्त से विरोध आएगा। उदाहरणार्थ सांख्य सत्त्व, रज और तम-ये तीन गुण मानते हैं। सत्त्व गुण का प्रसाद और लाघव, रजोगुण का शोष और ताप तथा तमोगुण का आवरण और सादन रूप भिन्न-भिन्न स्वभाव हैं। यदि व्यापित्व होने से आकाश को ही गति एवं स्थिति में उपग्रह (निमित्त) मानते हैं तो व्यापित्व होने से सत्त्व को ही शोष तापादि रजोगुण धर्म और सादन आवरण आदि तमोधर्म मान लेना चाहिए। रज, तम गुण मानना निरर्थक है तथा और भी प्रतिपक्षी

१. अपूर्वाख्यो धर्मः क्रियया अभिव्यक्तः सन्नमूर्तोऽपि पुरुषस्योपकारी वर्तते तथा धर्माधर्मयोरपि गतिस्थित्युपग्रहो अवसेयः।। वही ५/७/४१

२. तत्त्वार्थवार्तिक ५/२४/५

३. वही १/१/८

४. वही १/१/८

५. इतरे ब्रुवते प्रकृतिपुरुषयोरनन्तत्वं सर्वगतत्वादिति। वही ५/९/४

धर्म है उनको एक मानने से सङ्कक्र दोष आएगा। उसी प्रकार सभी आत्माओं में एक चैतन्यरूपता और आदान-अभोगता समान है, अतः एक ही आत्मा मानना चाहिए, अनन्त नहीं अर्थात् आत्मा भी चैतन्य भोक्तृ आदि समान होने से सर्व आत्माओं में एकत्व का प्रसङ्ग आएगा।[1]

पाँचवें अध्याय के सत्रहवें सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि जैसे अमूर्त भी प्रधान पुरुषार्थ प्रवृत्ति से महान्, अहंकार आदि विकार रूप से परिणत होकर पुरुष का उपकार करता है, उसी प्रकार अमूर्त धर्म और अधर्म द्रव्य को भी जीव और पुद्गलों की गति और स्थिति में उपकारक समझना चाहिए।[2]

सांख्य का आकाश को प्रधान का विकार मानना ठीक नहीं है क्योंकि आत्मा की तरह प्रधान के भी विकार रूप परिणमन नहीं हो सकता ।

प्रश्न- सत्व, रज और तम-इन तीन गुणों की साम्य अवस्था ही प्रधान है, उस प्रधान में उत्पादन स्वभावता है। उस प्रधान के विकार महान्, अहंकार आदि हैं तथा आकाश भी प्रधान का एक विकार है।

उत्तर- यह कथन भी अयुक्त है; क्योंकि प्रधान परमात्मा के समान नित्य निष्क्रिय, अनन्त आदि अविशेषपने से परमात्मा का आविर्भाव और तिरोभाव नहीं होने से उसमें परिणमन का अभाव है, उसी प्रकार आत्मा के समान अविशेष रूप से नित्य, निष्क्रिय और अनन्त होने से प्रधान के भी विकार का अभाव है और प्रधान के विकार का अभाव होने से प्रधान का विकार आकाश है, इस कल्पना का व्याघात होता है अथवा जैसे प्रधान के विकार घट के अनित्यत्व, मूर्तत्व और असर्वगतत्व है, उसी प्रधान का विकार होने से आकाश के भी अनित्यत्व, अमूर्त्तत्व और असर्वगतत्व होना चाहिए या फिर आकाश की तरह घट के भी नित्यत्व, अमूर्त्तत्व और सर्वगतत्व होना चाहिए; क्योंकि एक कारण से दो परस्पर अत्यन्त विरोधी नहीं हो सकते हैं।[3]

छठें अध्याय के दसवें सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि कारण तुल्य होने से कार्य तुल्य होना चाहिए। इस पक्ष में प्रत्यक्ष और आगम से विरोध आता है। मिट्टी के पिण्ड से घट, घटी, शराव, उदञ्चन (सकोरा) आदि अनेक कार्य होने से उपर्युक्त सिद्धान्त से प्रत्यक्ष विरोध आता है। सांख्य एक प्रधान तुल्य कारण से महान्, अंहकार

---

१. वही ५/१७/२३

२. वही ५/१७/४१

३. वही ५/१८/१

आदि नाना कार्य मानता है।[1]

वस्तुओं में भिन्न-भिन्न स्वभाव स्वीकार किए जाने में सांख्य का उदाहरण दिया गया है, जहाँ सत्त्व, रज, तम गुणों का प्रकाश, प्रवृत्ति और नियम आदि स्वभाव माना गया है।[2]

योगदर्शन- मोक्ष के कारणों के विषय में विभिन्न वादियों के मत वैभिन्न को दिखलाते हुए योगदर्शन की मान्यता की ओर निर्देश किया गया है, जिसके अनुसार ज्ञान और वैराग्य से मोक्ष होता है। पदार्थों के अवबोध को ज्ञान कहते हैं और विषय सुख की अभिलाषाओं के त्याग अर्थात् पञ्चेन्द्रियजन्य विषयसुखों में अनासक्ति को वैराग्य कहते है।[3]

वेदसमीक्षा- प्रथम अध्याय के दूसरे सूत्र की व्याख्या में 'पुरुष एवदं सर्वम्' इत्यादि ऋग्वेद के पुरुषसूक्त की पंक्ति उद्धृत करते हुए कहा गया है कि ऋग्वेद में पुरुष ही सर्व है, वही तत्त्व है। उसका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, यह कहना उचित नहीं हैं क्योकि अद्वैतवाद में क्रिया-कारक आदि समस्त भेद-व्यवहार का लोप हो जाता है।[4]

आठवें अध्याय के प्रथम सूत्र की व्याख्या में बादरायण, वसु, जैमिनी आदि श्रुतविहित क्रियाओं का अनुष्ठान करने वाले को अज्ञानी कहा है, क्योंकि इन्होंने प्राणिवध को धर्म का साधन माना है। समस्त प्राणियों के हित के अनुशासन में जो प्रवृत्ति करता है, वही आगम हो सकता है, हिंसाविधायी वचनों का कथन करने वाले आगम नहीं हो सकते, जैसे- दस्युजनों के वचन[5] अनवस्थान होने से भी ये आगम नहीं हैं; अर्थात् कहीं हिंसा और कहीं अहिंसा का परस्पर विरोधी कथन इनमें मिलता है। जैसे- पुनर्वसु पहला है, पुष्य पहला है, ये परस्पर विरोधी वचन होने से अनवस्थित एवं अप्रमाण हैं, उसी प्रकार वेद में भी कहीं पर पशुवध को धर्म का हेतु कहा है जैसे-एक स्थान पर लिखा है कि पशुवध से सर्व इष्ट पदार्थ मिलते हैं। यज्ञ विभूति के लिए है, अतः यज्ञ में होने वाला वध अवध है। दूसरी जगह लिखा है कि 'अज' जिनमें अंकुर उत्पन्न होने की शक्ति न हो, ऐसे तीन वर्ष पुराने बीज से पिष्टमय बलिपशु बनाकर यज्ञ करना चाहिए। इस प्रकार हिंसा का खण्डन किया गया है। इस प्रकार ये वचन परस्पर विरोधी हैं, अतः अव्यवस्थित तथा विरोधी होने से वेदवाक्य

१. वही ६/१०/११
२. वही ६/२७/६
३. वही १/१/६
४. वही १/२/२४
५. वही ८/१/१३

प्रमाण नहीं हो सकते हैं।[१] इस तरह वेदवाक्य की प्रमाणता का तत्त्वार्थवात्तिक में विस्तृत खण्डन किया गया है।[२]

बौद्धदर्शन समीक्षा- अन्य दर्शनों की समीक्षा करते हुए अकलंकदेव ने यद्यपि प्रायः बौद्ध, न्याय वैशेषिक और सांख्य को दृष्टि में रखा है, किन्तु इनमें भी बौद्ध मन्तव्यों की उन्होंने जगह जगह आलोचना की है। इसका कारण यह है कि उनके समय में बौद्धधर्म जैनधर्म का प्रबल विरोधी धर्म था। बौद्धधर्म का मर्मस्पर्शी अध्ययन करने हेतु अकलंकदेव को बौद्धमठ में रहना पड़ा था। इस हेतु उन्हें अनेक कष्टों का सामना भी करना पड़ा, किन्तु वे दुःखों के बीच रहकर भी घबराए नहीं और बौद्ध-शास्त्रों का अध्ययन कर उन्होंने जगह-जगह उनसे शास्त्रार्थ कर जैनदर्शन की विजय-दुन्दुभी बजायी। उनकी तर्कपूर्ण प्रतिभा को देखते हुए उन्हे अकलंकब्रह्म कहा जाने लगा। तत्त्वार्थवार्त्तिक के कतिपय स्थल हम उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उससे उनकी बौद्धविद्या में गहरी पैठ की जानकारी प्राप्त होती है।

प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि यद्यपि बौद्ध रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान-इन पाँच स्कन्धों के निषेध से आत्मा के अभावरूप मोक्ष के अन्यथालक्षण की कल्पना करते हैं[३] तथापि कर्म-बन्धन के विनाश रूप मोक्ष के सामान्य लक्षण में किसी भी वादी को विवाद नहीं है। बौद्ध कहते हैं कि अविद्या प्रत्यय संस्कार के अभाव से मोक्ष होता है[४], जैनों का कहना है कि संस्कारों का क्षय ज्ञान से होता है कि किसी कारण से? यदि ज्ञान से संस्कारों का क्षय होगा तो ज्ञान होते ही संस्कारों का क्षय भी हो जायेगा और शीघ्र मुक्ति हो जाने से प्रवचयेपदेश का अभाव होगा। यदि संस्कार क्षय के लिए अन्य कारण अपेक्षित हैं तो चारित्र के सिवाय दूसरा कौन सा कारण है? यदि संस्कारों का क्षय चारित्र से होता है तो ज्ञान से मोक्ष होता है, इस प्रतिज्ञा की हानि होगी।[५]

पाँचवें अध्याय के नौवें सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि बौद्ध लोकधातुओं को अनन्त मानते हैं।[६] अतः आकाश के प्रदेशों को जैनों द्वारा अनन्त माने जाने से

१. वही ८/१/१२-१४
२. वही ८/१/१५-२७
३. अन्ये अन्यथालक्षणं मोक्षं परिकल्पयन्ति- रूपवेदनासंज्ञासंस्कारविज्ञानपञ्चस्कन्धनिरोधादभावो मोक्षः इति। तत्त्वार्थवार्तिक १/१ की उत्थानिका
४. अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः इत्यादिवचनं केषाञ्चित्-वही १/१/४६
५. वही १/१/५२
६. केचित्तावदाहुः अनन्ता लोकधातवः वही, ५/९/४

कोई विरोध नहीं है।

अद्वैतवाद समीक्षा- जो (अद्वैतवादी) द्रव्य को तो मानते हैं, किन्तु रूपादि को नहीं मानते, उनका यह कहना विपरीत है। यदि द्रव्य ही हो, रूपादि नहीं हो तो द्रव्य का परिचायक लक्षण न रहने से लक्ष्यभूत द्रव्य का ही अभाव हो जायेगा। इन्द्रियों द्वारा सन्निकृष्यमाण रूपादि के अभाव में सर्व आत्मा (अखणु रूप से) ग्रहण का प्रसंग आएगा और पाँच इन्द्रियों के अभाव का प्रसंग आएगा; क्योंकि द्रव्य तो किसी एक भी इन्द्रिय से पूर्ण रूप से गृहीत हो ही जायेगा। परन्तु ऐसा मानना न तो इष्ट है और न प्रमाण प्रसिद्ध ही है अथवा जिनका मत है कि रूपादि गुण ही हैं, द्रव्य नहीं हैं। उनके मत में निराधार होने से रूपादि गुणों का अभाव हो जाएगा।[1]

आगमिक वैशिष्ट्य- तत्त्वार्थसूत्र में आगमिक मान्यताओं को निबद्ध किया गया है। टीकाकारों ने इन सूत्रों की व्याख्या युक्ति और शास्त्र के आधार पर की है। अकलंकदेव का तत्त्वार्थवार्तिक भी इसका अपवाद नहीं है। प्रथम अध्याय के ७ वें सूत्र की व्याख्या में निर्देश, स्वामित्व आदि की योजना की गयी है। प्रथम अध्याय के २० वें सूत्र की व्याख्या में द्वादशांग के विषयों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। आगम में ३६३ मिथ्यामत बतलाए गए हैं। तत्त्वार्थवार्तिक के ८ वें अध्याय के प्रथम सूत्र की व्याख्या में ३६३ मतों का प्रतिपादन है।

व्याकरणात्मक वैशिष्ट्य- अकलंकदेव व्याकरणशास्त्र के महान् विद्वान् थे। पाणिनि-व्याकरण और जैनेन्द्र-व्याकरण का उन्होंने भली-भाँति पारायण किया था। व्युत्पत्ति और कोश ग्रन्थों का उनका अच्छा अध्ययन था।

तत्त्वार्थवार्तिक में स्थान-स्थान पर सूत्रों एवं उनमें आगत शब्दों का जब वे व्याकरण की दृष्टि से औचित्य सिद्ध करते हैं, तब ऐसा लगता है, जैसे वे शब्दशास्त्र लिख रहे हों। इस प्रकार के सैकड़ों स्थल प्रमाण रूप में उद्धृत किए जा सकते हैं। सम्प्रति अग्रांकित एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

ज्ञानवान् में मतुप् प्रत्यय प्रशंसा अर्थ में है;क्योंकि ज्ञानरहित कोई आत्मा नहीं है। जैसे- कहा जाता है कि यह रूपवान् है। रूप में मतुप् प्रत्यय प्रशंसा अर्थ में है, क्योंकि रूपरहित कोई पुद्गल नहीं है।[2]

इस प्रकार यह सहज ही कहा जा सकता है कि आचार्य अकलंकदेव का तत्त्वार्थ वार्तिक विविध विधाओं, दर्शनों और औचित्यपूर्ण तर्कों का गहन सागर है। ❐

१. वही १/३२/३

२. वही १/१/३

'तत्त्वार्थवार्तिक' में प्रतिपादित मानवीय मूल्य

*डॉ० सुरेन्द्रकुमार जैन 'भारती'**

आचार्य विनोबा भावे का कथन है कि 'पुराने शब्दों पर नये अर्थों की कलम लगाना ही विचार क्रान्ति की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली है।' जैनन्याय-विद्या के अप्रतिम आचार्य भट्ट अकलंकदेव ने आचार्य श्री उमास्वामी द्वारा विरचित 'तत्त्वार्थसूत्र' ग्रन्थ पर 'तत्त्वार्थवार्तिक' लिखकर मूल ग्रन्थ के भाव एवं अर्थ को जनग्राह्य बनाने की दिशा में अपना उल्लेखनीय योगदान दिया है। इसे विनोबा भावे के कथनानुसार विचारक्रान्ति की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली कहा और माना जाना चाहिए।

'मानवीय मूल्य' 'तत्त्वार्थवार्तिक' में खोजे जायें इसके पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि मानवीय अर्थात् 'मानव सम्बन्धी'[१] मूल्य अर्थात् रचना के भीतर वर्तमान रहने वाला ऐसा उद्देश्य जो उसे किसी सामाजिक आदर्श, व्यक्तिगत उच्चता आदि से जोड़े[२]; 'मानवीय मूल्य' कहलाता है। "मानवीय संवदेना हर हालत में नैतिक बोध (अर्थात् मानव मूल्य) से जुड़ी रहती है, भले ही साधारण व्यक्ति को इसका ज्ञान न हो; परन्तु साहित्यकार की संवेदना अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म होती है; क्योंकि उसमें सचेतन नैतिक बोध रहता है।"[३] साहित्यकारों के लिए मनुष्य और उसके हावभाव गुण सदैव अध्ययन के विषय रहे हैं। वैसे भी साहित्य मनुष्य का ही कृतित्व है और मानवीय चेतना के बहुविध प्रत्युत्तरों (Responses) में से एक महत्त्वपूर्ण प्रत्युत्तर है।"[४] अतः मानवीय मूल्यों से साहित्य का बच पाना असंभव ही होता है।

पाश्चात्य विचारक आस्कर वाइल्ड भले ही नैतिक मूल्यानुराग को लेखक की शैली का अक्षम्य आडम्बर माने, किन्तु भारतीय और विशेषकर आध्यात्मिक लेखकों के लिए नैतिक मूल्यानुराग छोड़ पाना सरल नहीं है।

श्री भट्ट अकलंकदेव की दृष्टि में "सारे प्रयत्न सुख के लिए हैं 'सर्वेषां प्राणिनां परिस्पन्दः सुखप्राप्त्यर्थः'[५] किन्तु प्रश्न यह उठता है कि किसके सुख के लिए?

---

* वरिष्ठ सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, सेवा सदन महाविद्यालय, बुरहानपुर (म०प्र०)

१. वृहद हिन्दी कोश, पृ० ८८८

२. वही, पृ० ६१२

३. हिन्दी कविता, संवेदना और दृष्टिः राम मनोहत त्रिपाठी, पृ० ५०

४. मानवमूल्य और साहित्यः धर्मवीर भारती, भूमिका-२

५. तत्तवार्थवार्तिक, ५/२०/५

मानववादी भी व्यक्ति स्वातंत्र्य की बात करते हैं, किन्तु वहाँ भी यही प्रश्न उठता है कि किसका स्वातंत्र्य? तो एक ही उत्तर मिलता है आत्म-स्वातंत्र्य। 'तत्त्वार्थवार्तिक' में मंगलाचरण की टीका में श्री भट्ट अकलंकदेव स्वयं लिखते हैं-

"संसारिणः पुरुषस्य सर्वेष्वर्थेषु मोक्षः प्रधानम् प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति[१] तस्मान्तन्मार्गोपदेशः कार्यः तदर्थत्वात्"[२] अर्थात् संसारी आत्मा के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में मोक्ष अन्तिम और प्रधानभूत पुरुषार्थ है। अतः उसकी प्राप्ति के लिए मोक्षमार्ग का उपदेश करना चाहिए किन्तु यह बिना मनुष्य को आधार बनाये संभव नहीं है क्योंकि 'मनुष्यपर्याय से ही मोक्ष लाभ होता है'- "मनुष्यदेहस्य चरमत्वम्।"[३]

मनुष्य की इस शक्ति को जैनदर्शन ही नहीं बल्कि अन्य दर्शन भी स्वीकार करते हैं। 'महाभारत' में व्यास जी लिखते हैं कि-

"गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रमोमि, नहि मानुषात् श्रेष्ठतमं हि किंचित्" अर्थात्- मैं तुम्हें ब्रह्म का रहस्य कहता हूँ, मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।

ब्रह्मपुराण के अनुसार- "जो मनुष्य कर सकता है वह सुरासुर भी नहीं कर सकते।"

सांख्य-वृत्ति के अनुसार सृष्टि के षड्विध भेदों में मनुष्य उत्तम है- "देवादि षड्विधाय स्यात् संसारः कर्म, सुराऽसुरो नरः प्रेतो नारकस्तिरयर्कस्तता।"

आचार्य अकलंकदेव की दृष्टि में "धर्मार्थकाममोक्षलक्षणानि कार्याणि नृणन्ति नयन्तीति नराः"[४] अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चार पुरुषार्थों का नयन करने वाले 'नर' होते हैं, शक्ति की दृष्टि से "मनुष्य अपने में स्वतः सार्थक और मूल्यवान् है- वह आन्तरिक शक्तियों से सम्पन्न, चेतन स्तर पर अपनी नियति के निर्माण के लिए स्वतः निर्णय लेने वाला प्राणी है।"[५] श्री सुमित्रानन्दन 'पंत' की दृष्टि में-

"धर्मनीति औ सदाचार का,
मूल्यांकन है जनहित।।"

अतः मनुष्य में ही मानवोचित गुणों का विकास किया जाना अपेक्षित है। इसी विचारधारा के परिप्रेक्ष्य में 'मानववाद' उभरकर सामने आया जो पारलौकिक मूल्यों के

१. वही, १/३ (मंगलाचरण)
२. वही, १/२६, उत्थानिका, वार्तिक-३
३. वही, ४/२६/३
४. तत्तवार्थवार्तिक, २/५०/१
५. मानवमूल्य और साहित्यः धर्मवीर भारती, भूमिका-१

स्थान पर इहलौकिक मूल्यों को स्थान देने लगा। 'पंत' जी 'लोकायतन' में घोषित करते हैं-

मानव दिव्य स्फुलिंग चिरन्तन,
वह न देश का नश्वर रजकण।
देशकाल से उसे न बन्धन,
मानव का परिचय मानवपन।।

'पंचवटी' में गुप्त जी के स्वर भी यही थे-

भव में नव वैभव प्राप्त कराने आया।
नर की ईश्वरता प्राप्त कराने आया।
सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया।
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।।

'वाल्टर लिपमान' ने मानव की बुद्धि, विवेक एवं श्रम द्वारा उत्तम जीवन की खोज को मानववाद कहा।

'मानववाद' का विश्लेषण करते हुए डॉ० धर्मवीर भारती ने लिखा है कि - "मानववाद के उदयकाल में ईश्वर जैसी किसी मानवोपरि सत्ता या उसके प्रतिनिधि धर्माचार्यों को नैतिक मूल्यों का अधिनायक न मानकर मनुष्य को ही इन मूल्यों का विधायक मानने की प्रवृत्ति विकसित होने लगी थी।"[१] इसे मानवीय गौरव का नाम दिया जाने लगा। "मानवीय गौरव का अर्थ है कि मनुष्य को स्वतंत्र, सचेत, दायित्वयुक्त माना जाय, जो अपनी नियति, अपने इतिहास का निर्माता हो सकता है। इसके लिए उसके विवेक और मनोबल को सर्वोपरि और अपराजेय माना जाय।"[२] मानवीय गरिमा के प्रति सभी अस्तित्ववादी चिन्तक एवं रचनाकार पूरी तरह सजग हैं।[३] डॉ० भारती अंतरात्मा की पहचान मनुष्य की संवदेनशीलता से मानते हैं, वे लिखते हैं कि- "अंतरात्मा मानवीय अन्तर में स्थित कोई दैवी या अति प्राकृतिक शक्ति न होकर वस्तुतः मानवीय गरिमा के प्रति हमारी संवेदनशीलता का ही दूसरा रूप है और मनुष्य के गौरव को प्रतिष्ठित करने और उसकी निरन्तर रक्षा करने के प्रति हमारी जागरूकता ही हमारी जाग्रत अंतरात्मा का प्रमाण है।"[४]

---

१. मानवमूल्य और साहित्यः पेज-४
२. वही, पेज-२१
३. हिन्दी कविता, संवेदना और दृष्टि, पेज ४५
४. मानवमूल्य और साहित्यः पृ०-२१

इस अंतरात्मा की पहचान, उसकी सत्ता का आभास आत्मशक्ति के परिज्ञान से होगा और तभी मानवीय मूल्यों या गुणों की पहचान सम्भव होगी। 'अज्ञेय' की यह कविता हमें उसी आत्मशक्ति का आभास कराती है, जिस आत्मशक्ति के बल पर आत्मज्ञान या आत्मलाभ या मोक्ष-प्राप्ति का लक्ष्य तत्त्वार्थवार्तिककार को अभिप्रेत है-

"शक्ति असीम है,
मैं शक्ति का एक अणु हूं,
मैं भी असीम हूं।
एक असीम बूंद-
असीम समुद्र को अपने भीतर प्रतिबिम्बित करती है,"
एक असीम अणु-
उस असीम शक्ति को जो उसे प्रेरित करती है
अपने भीतर समा लेना चाहता है।"[१]

उक्त 'मानव' सम्बन्धी विवेचन में जहाँ लौकिक और भौतिक धरातल पर मनुष्य को खड़ा करने की चेष्टा की गयी है, वहीं भट्ट अकलंकदेव की विचारधारा प्राणी (मानव) को भौतिक धरातल से आध्यात्मिक धरातल पर खड़ा करना चाहती है, क्योंकि उनके विचारों के पीछे (उनके ही अनुसार)- "संसार सागर में डूबते हुए अनेक प्राणियों के उद्धार की पुण्य भावना है"[२] जो प्रथम सूत्र 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'[३] से अन्तिम सूत्र तक चलती है। अतः उन्होंने उन्हीं मानवीय मूल्यों को 'तत्त्वार्थवार्तिक' में स्थान दिया है जो मानव को मानवता के चरम लक्ष्य मोक्ष तक पहुँचा सकें, तत्त्वार्थवार्तिक में प्रतिपादित मानवीय मूल्य इस प्रकार हैं–

(१) मद्य-मांस-मधु का निषेध- त्रस घात की निर्वृत्ति के लिए मधु और मांस को सदा के लिए छोड़ देना चाहिए। प्रमाद के नाश करने के लिए हिताहित विवेक को नष्ट करने वाली मोहकारी मदिरा का त्याग करना अत्यावश्यक है।[४] विवेक की रक्षा, अहिंसापालन और क्रूरता से बचाव के लिए मद्य-मांस-मधु का निषेध कर स्वपरोपकार करना चाहिए।

(२) परस्परोपग्रह– आचार्य उमास्वामी के अनुसार- 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'[५]

१. 'हंस' के अप्रैल १६३६ के अंक में प्रकाशित कविताः अज्ञेय
२. तत्त्वार्थवार्तिक, १/१
३. तत्त्वार्थसूत्र, ७/१
४. तत्त्वार्थवार्तिक, ७/२१/२६
५. तत्त्वार्थसूत्र, ५/२१

अर्थात् जीव परस्पर उपकार करते हैं। भट्ट अकलंकदेव ने इस सूत्र को मानवीय मूल्य के रूप में रखा है। उनके अनुसार- परस्परशब्द कर्म व्यतिहार अर्थात् क्रिया के आदान-प्रदान को कहता है। स्वामी-सेवक, गुरु-शिष्य आदि रूप से व्यवहार परस्परोपग्रह है। स्वामी रुपया देकर तथा सेवक हित-प्रतिपादन और अहित-प्रतिषेध के द्वारा परस्पर उपकार करते हैं। गुरु उभयलोक का हितकारी मार्ग दिखाकर तथा आचरण कराके और शिष्य गुरु की अनुकूलवृत्ति से परस्पर के उपकार में प्रवृत्त होते हैं।[१] स्वोपकार और परोपकार को अनुग्रह कहते हैं। पुण्य का संचय स्वोपकार है और पात्र की सम्यग्ज्ञान आदि की वृद्धि परोपकार है।[२]

(३) मैत्री- सर्वार्थसिद्धि में पूज्यपाद स्वामी ने "परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषी मैत्री"[३] अर्थात् दूसरों को दुःख न हो; ऐसी अभिलाषा रखने को मैत्री कहा जाता है। भट्ट अकलंकदेव ने मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदन; हर प्रकार से दूसरों के दुःख न होने देने की अभिलाषा को मैत्री कहा जाता है।[४] इसके लिए निम्न भावना भानी चाहिए-

क्षमयामि सर्वजीवान् क्षाम्यामि सर्वजीवेभ्यः,
प्रीतिर्ये सर्वसत्त्वैः वैरंमे न केनचित्।।[५]

अर्थात् मैं सब जीवों के प्रति क्षमाभाव रखता हूं; सब जीव मुझे क्षमा करें; मेरी सब जीवों से प्रीति है, किसी से वैर नहीं है; इत्यादि प्रकार की मैत्री भावना सब जीवों में करना चाहिए।

(४) प्रमोद– मुख की प्रसन्नता, नेत्र का आह्लाद, रोमाञ्च, स्तुति, सद्गुण-कीर्तन आदि के द्वारा प्रकट होने वाली अन्तरंग की भक्ति और राग प्रमोद है।[६] सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्राधिक गुणीजनों की वन्दना, स्तुति, सेवा आदि के द्वारा प्रमोद भावना भानी चाहिए।[७]

(५) अनुकम्पा– "सर्वप्राणिषु मैत्री अनुकम्पा"[८] अर्थात् प्राणीमात्र में मैत्रीभाव

१. तत्त्वार्थवार्तिक, ५/२१/१-२
२. वही, ७/३८/१
३. सर्वार्थसिद्धि, ७/११/६८३
४. तत्त्वार्थवार्तिक, ७/११/१
५. वही, ७/११/८
६. तत्त्वार्थवार्तिक, ७/११/१-४
७. वही, ७/११/५-७
८. तत्त्वार्थवार्तिक, १/२/३०

अनुकम्पा है। यह सराग सम्यग्दृष्टि का गुण माना गया है। दयार्द्र व्यक्ति का दूसरे की पीड़ा को अपनी ही पीड़ा समझकर काँप जाना अनुकम्पा है। इसके दो भेद हैं एक भूतानुकम्पा और दूसरा व्रती अनुकम्पा।[१] इस विषय में 'अज्ञेय' का मत है कि अनुकम्पा की भावना रखने से व्यक्ति दूसरों को दुख देने से बचता है–

दर्द सबको माँजता है
और, जिन्हें वह माँजता है उन्हें यह सीख देता है
कि सबको मुक्त रखें।

(६) करुणा– "दीनानुग्रहभावः कारुण्यम्" अर्थात् दीनों पर दयाभाव रखना कारुण्य है। शरीर और मानस दुःखों से पीड़ित दीन प्राणियों के ऊपर अनुग्रह रूप भाव कारुण्य है।[२] मोहाभिभूत, कुमति, कुश्रुत और विभंग ज्ञान युक्त विषय तृष्णा से जलने वाले हिताहित में विपरीत प्रवृत्ति करने वाले, विविध दुःखों से पीड़ित दीन, अनाथ, कृपण, बाल-वृद्ध आदि क्लिश्यमान जीवों में करुणाभाव रखना चाहिए।[३]

(७) माध्यस्थ– "रागद्वेषपूर्वकपक्षपाताभावो माध्यस्थम्" अर्थात् राग-द्वेष पूर्वक पक्षपात न करना माध्यस्थ है।[४] राग-द्वेषपूर्वक किसी एक पक्ष में न पड़ने के भाव को माध्यस्थ या तटस्थभाव कहते हैं।[५] ग्रहण, धारण, विज्ञान और ऊहापोह से रहित महामोहाभिभूत विपरीत दृष्टि और विरुद्धवृत्ति वाले प्राणियों में माध्यस्थ की भावना रखनी चाहिए।[६]

(८) वात्सल्य– जिनप्रणीत धर्मामृत से नित्य अनुराग करना वात्सल्य है– "जिनप्रणीतधर्मामृते नित्यानुरागता वात्सल्यम्।"[७] जैसे गाय अपने बछड़े से अकृत्रिम स्नेह करती है उसी तरह धार्मिक जन को देखकर स्नेह से ओतप्रोत हो जाना प्रवचन वात्सल्य है। जो धार्मिकों में स्नेह है, वही तो प्रवचन स्नेह है।[८]

(९) वैयावृत्त्य– गुणवान्, साधुओं पर आये हुए कष्ट-रोग आदि को निर्दोष विधि से हटा देना, उनकी सेवा आदि करना बहुउपकारी वैयावृत्त्य है।[९] बाल, वृद्ध और

१. वही, ७/१२/३
२. वही, ७/११/३
३. वही, ७/११/५-८
४. सर्वार्थसिद्धि, ७/११/६८३
५. तत्त्वार्थवार्तिक, ७/११/१-४
६. वही, ७/११/५-७
७. तत्त्वार्थवार्तिक, ६/२४/१
८. वही, ६/२४/१३
९. वही, ६/२४/९

तपस्वीजनों की वैयावृत्त्य को सातावेदनीय का आस्रव माना गया है।[१]

(१०) **अहिंसा**–[२] अहिंसा सभी व्रतों में प्रधान है।[३] प्राणों के वियोग करने से प्राणी की हिंसा होती है। प्राण-वियोग होने पर आत्मा को ही दुःख होता है, अतः हिंसा है और अधर्म है।[४] धर्म के नाम पर हिंसा उचित नहीं है। प्राचीनकाल में धर्म के नाम पर हिंसा होती थी; ऐसी हिंसा का प्रतिपादन करने वाले बादरायण, वसु, जैमिनी आदि को भट्ट अकलंकदेव ने अज्ञानी कहा है। प्राणिवध तो पाप का ही साधन हो सकता है, धर्म का नहीं। आगम की दृष्टि से भी यह उचित नहीं, क्योंकि आगम समस्त प्राणियों के हित का अनुशासन करता है।[५] हिंसक नित्य उद्विग्न रहता है, सतत उसके वैरी रहते हैं, यहीं वह बंध क्लेश को पाता है और मरकर अशुभगति में जाता है, लोक में निन्दनीय होता है, अतः हिंसा से विरक्त होना कल्याणकारी है।[६] हिंसा विरक्ति में मनुष्यायु का आस्रव होता है।[७] प्राणिरक्षा को संयम भी माना है[८], अतः अहिंसा आचरणीय है।

(११) **क्षमा**– शरीर यात्रा के लिए पर घर जाते समय भिक्षु का दुष्टजनों के द्वारा गाली, हँसी, अवज्ञा, ताड़न, शरीर-छेदन आदि क्रोध के असह्य निमित्त मिलने पर भी कलुषता का न होना उत्तम क्षमा है[९], व्रत, शील का रक्षण, इहलोक और परलोक में दुःख का न होना और समस्त जगत् में सम्मान, सत्कार होना आदि क्षमा के गुण हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का नाश करना आदि क्रोध के दोष हैं; यह विचारकर क्षमा धारण करना चाहिए।[१०] क्षमा को पद्मलेश्या का लक्षण माना गया है।[११]

(१२) **मार्दव**– "मृदोर्भावः कर्म वा मार्दवम्, स्वभावेन मार्द्रवं स्वभावमार्दवं"[१२] अर्थात् स्वाभाविक मृदु स्वभाव मार्दव है। उत्तम जाति, कुल, रूप, विज्ञान, ऐश्वर्य, श्रुतलाभ और शक्ति से युक्त होकर भी इनका मद नहीं करना, दूसरों के द्वारा पराभव

१. वही, ६/१२/१३
२. वही, ६/३/१-२
३. वही, ७/१/६
४. वही, ७/१३/६-११
५. वही, ८/१/१३-१४
६. वही, ७/९/२
७. वही, ६/१७
८. वही, ६/१२/६
९. तत्त्वार्थवार्तिक, ९/६/२
१०. वही, ९/६/२७
११. वही, ४/२२/१०
१२. वही, ६/१८/१

के निमित्त उपस्थित किये जाने पर भी अभिमान नहीं होना मार्दव है।[1] निरभिमानी और मार्दवगुण युक्त व्यक्ति पर गुरुओं का अनुग्रह होता है। साधुजन भी उसे साधु मानते हैं। ....अहंकार समस्त विपदाओं की जड़ है[2] अतः मार्दव भाव रखना चाहिए। मार्दव से मनुष्यायु का आस्रव होता है।[3]

(१३) विनय– समस्त सम्पदायें विनयमूलक हैं; यह पुरुष का भूषण है। यह संसार समुद्र से पार उतारने के लिए नौका के समान है।[4] इसके चार भेद हैं– "ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः" अर्थात् ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचार विनय।[5] ज्ञानलाभ, आचार विशुद्धि और सम्यक् अराधना आदि की सिद्धि विनय से होती है और अन्त में मोक्षसुख भी इसी से मिलता है, अतः विनयभाव अवश्य ही रखना चाहिए।[6] विनय से सातावेदनीय[7] एवं मनुष्यायु[8] का आस्रव होता है।

(१४) आर्जव– मन, वचन और काय में कुटिलता न होना आर्जव अर्थात् सरलता है।[9] सरल हृदय गुणों का आवास है।.... मायाचारी की निन्द्य गति होती है।[10] साधुओं के विषय में कहते हैं कि अपने मन में दोषों को अधिक समय तक न रखकर निष्कपट वृत्ति से बालक की तरह सरलतापूर्वक दोष निवेदन करने में न तो ये दोष होते हैं और न अन्य ही।[11] आर्जव को सातावेदनीय[12] और मनुष्यायु[13] का आस्रव माना गया है।

(१५) सत्य– सत् जनों से साधुवचन बोलना सत्य है।[14] सभी गुण-सम्पदायें सत्य वक्ता में प्रतिष्ठित होती हैं। झूठे का बंधुजन भी तिरस्कार करते हैं। उसके कोई मित्र नहीं रहते। जिह्वाछेदन, सर्वस्वहरण आदि दण्ड उसे भुगतने पड़ते हैं।[15] सत्यवादिता

१. वही, ६/६/३
२. वही, ६/६/२७
३. वही, ६/१७
४. वही, ६/६/१६
५. वही, ६/२३/१-७
६. तत्त्वार्थवार्तिक, ६/२३/७
७. वही, ६/१२/१३
८. वही, ६/१७
९. वही, ६/६/४
१०. वही, ६/६/२७
११. वही, ६/२२/२
१२. वही, ६/१२/१३
१३. वही, ६/१७
१४. वही, ६/६/६-१०
१५. वही, ६/६/२७

पीत लेश्या का लक्षण है।[१] सत्य, हित, मित, बोलना शुभ वाग्योग है।[२] जो वचन पीड़ाकारी हैं वे भी अनृत हैं।[३] मिथ्याभाषी का कोई विश्वास नहीं करता। वह यहीं जिह्वाभेद आदि दण्ड भुगतता है। जिनके सम्बन्ध में झूठ बोलता है, वे उसके वैरी हो जाते हैं, अतः उनसे भी अनेक आपत्तियां आती हैं, अतः असत्य बोलने से विरक्त होना कल्याणकारी है।[४]

(१६) शौच– आत्यन्तिक लोभ की निवृत्ति को शौच कहते हैं। शुचि का भाव या कर्म शौच है। जो पूर्ण मनोनिग्रह में असमर्थ हैं, उन्हें पर वस्तुओं सम्बन्धी अनिष्ट विचारों की शान्ति के लिए शौचधर्म का उपदेश है। यह लोभ की निवृत्ति के लिये है।[५] शुचि आचार वाले निर्लोभी व्यक्ति का इस लोक में सम्मान होता है। विश्वास आदि गुण उसमें रहते हैं। लोभी के हृदय में गुण नहीं रहते। वह इस लोक और परलोक में अनेक आपत्तियों और दुर्गति को प्राप्त होता है।[६]

(१७) दान– अनुग्रह के लिए धन का त्याग दान है– "अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्।"[७] भट्ट अकलंकदेव के अनुसार- "स्वस्य परानुग्रहबुद्धया अतिसर्जनं दानम्" अर्थात् अपनी वस्तु का पर के अनुग्रह के लिए पूर्ण रूपेण त्याग करना दान है।[८] पर की प्रीति के लिए अपनी वस्तु को देना त्याग है। आहार देने से पात्र को उस दिन प्रीति होती है। अभयदान से उस भव का दुःख छूटता है, अतः पात्र को सन्तोष होता है। ज्ञानदान तो अनेक सहस्रभावों के दुःख से छुटकारा दिलाने वाला है; ये तीनों विधिपूर्वक दिये गये त्याग कहलाते हैं।[९] किसी से विसंवाद न करना दाता की विशेषता है।[१०] दानशीलता मनुष्यायु का आस्रव है।[११]

(१८) सन्तोष– जैसे, पानी से समुद्र का बड़वानल शान्त नहीं होता, उसी तरह परिग्रह से आशा-समुद्र की तृप्ति नहीं हो सकती। यह आशा का गड्ढा दूष्पूर है,

१. वही, ०४/२२/१०
२. वही, ६/३/२
३. वही, ७/१४/५
४. वही, ७/९/२
५. तत्तवार्थवार्तिक, ९/६/५-८
६. वही, ९/६/२७
७. तत्तवार्थसूत्र, ७/३८
८. तत्तवार्थवार्तिक, ६/१२/४
९. वही, ६/२४/६
१०. वही, ७/३९/४
११. वही, ६/१७

इसका भरना कठिन है। प्रतिदिन जो उसमें डाला जाता है, वही समाकर मुँह बाने लगता है। शरीर आदि से ममत्व शून्य व्यक्ति परम सन्तोष को प्राप्त होता है।[१]

अन्य मानवीय मूल्य– श्री भट्ट अकलंकदेव ने 'तत्त्वार्थवार्तिक' में विभिन्न प्रसंगों में अनेक मानवीय मूल्यों का उल्लेख किया है जिन्हें जीवन में स्थान देने से व्यक्ति में गुणात्मक विकास होता है, यथा- दृढ़ मित्रता, दयालुता, स्वकार्य पटुता, सर्वधर्मदर्शित्व, पाण्डित्य, गुरुदेवता पूजनरुचि, निर्वैर, वीतरागता, शत्रु के भी दोषों पर दृष्टि न देना, निन्दा न करना, पाप कार्यों से उदासीनता, श्रेयोमार्ग रुचि,[२] चैत्य, गुरु, शास्त्रपूजा[३], प्रकृति भद्रता, सुखसमाचार कहने की रुचि, रेत की रेखा के समान क्रोध आदि, सरल व्यवहार, अल्पारम्भ, अल्पपरिग्रह, दुष्ट कार्यों से निवृत्ति, स्वाग़त तत्परता, कम बोलना, प्रकृति मधुरता, लोकयात्रानुग्रह, औदासीन्यवृत्ति, ईर्षारहित परिणाम, अल्पसंक्लेश, कापोतपीत लेश्यारूप परिणाम, मरणकाल में धर्मध्यानपरिणति,[४] कल्याणमित्र संसर्ग, आयतन सेवा, सद्धर्म श्रवण, स्वगौरव दर्शन, निर्दोषप्रोषधोपवास, तप की भावना, बहुश्रुतत्व, आगम-परता, कषायनिग्रह, पात्रदान, पीतपद्मलेश्या परिणाम[५], अविसंवादन, धार्मिक व्यक्तियों के प्रति आदरभाव, संसारभीरुता, अप्रमाद, निश्छलचारित्र[६] आत्मनिन्दा, परप्रशंसा, परसद्गुणोद्भावन, आत्म-असद्गुणोद्भावन, गुणी पुरुषों के प्रति विनयपूर्वक नम्रवृत्ति और ज्ञानादि होने पर भी तत्कृत उत्सेक– अहंकार न होना, पर का तिरस्कार न करना, अनौद्धत्य, असूया, उपहास- बदनामी आदि न करना, सधर्मी व्यक्तियों का सम्मान, उन्हें अभ्युत्थान अंजलि नमस्कार आदि करना।[७]

इस प्रकार हम देखते हैं कि भट्ट अकलंकदेव ने मानवों को अपने सदृश बनाने के लिए 'तत्त्वार्थवार्तिक' में पद-पद पर अनेकानेक मूल्यों की प्रतिष्ठापना की है और वे उन मूल्यों को मूल्यवान् बनाने में समर्थ सिद्ध हुए हैं। आज के युग में जबकि हर क्षेत्र में मूल्यों का संकट है, ऐसे समय में मानवीय मूल्यों की पहचान और उनहें महत्ता प्रदानकर जीवन में स्थान देना होगा तभी मानव-मानव कहलाने के योग्य होगा। श्री

१. तत्त्वार्थवार्तिक, ८/६/२७
२. वही, ४/१२/१०
३. वही, ६/५/७, ६/१२/१३, ६/१७
४. वही, ६/१७
५. वही, ६/२०
६. वही, ६/२३
७. वही, ६/२६१-४

राममनोहर त्रिपाठी के मत में "आध्यात्मिकता और भौतिकता के समन्वित बोध से आज उसी नयी मानवता की स्थापना सम्भव है, जो संकट के इस समय अपने कल्याण का मार्ग पाने में समर्थ हो सकती है।"[१] भट्ट अकलंकदेव भी मानव को पूरा मानवीय गुणों से युक्त बनाकर सिद्धत्व प्राप्त करना चाहते हैं जो उनके बताये मार्ग पर चलने से अवश्य ही प्राप्त होगा। अंत में 'पंत' की इस भावना के साथ मानवीय मूल्यों को प्रतिष्ठापित करने की भावना के साथ विराम लेता हूँ–

"आज हमें मानव मन को करना आत्मा के अभिमुख
मनुष्यत्व में मज्जित करने युग जीवन के सुख-दुःख
पिघला देगी लौह पुरुष को आत्मा की कोमलता
जन बल से रे कहीं बडी है मनुष्यत्व की क्षमता।।"[२]



१. हिन्दी कविता संवेदना और दृष्टि, पृ० ४७
२. स्वर्णधूलि

आचार्य पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि और आचार्य अकलंकदेवकृत तत्त्वार्थवार्तिक का तुलनात्मक अध्ययन

डॉ० फूलचन्द प्रेमी*

तत्त्वार्थसूत्र जैनधर्म-दर्शन के इतने मूलभूत तत्त्वों का प्रामाणिक संग्रह है कि इसे दिगम्बर एवं श्वेताम्बर-ये दोनों ही सम्प्रदाय थोड़े बहुत पाठ-भेद के साथ प्रमाण-भूत मानते है। दोनों परम्पराओं के आचार्यों ने इस पर दशाधिक टीका-ग्रन्थ तथा १६-२० वीं शती के अनेक विद्वानों ने विविध भाषाओं में विवेचनात्मक टीकायें लिखी है। इसीलिए इस सूत्र ग्रन्थ को दोनों परम्पराओं में एकता स्थापित करने का मूल आधार बनाया जा सकता है।

इस ग्रन्थ की रचना मूल जैन आगमिक परम्परा के विशिष्ट ग्रन्थों तथा आचार्य पुष्पदन्त भूतबलि द्वारा रचित षट्खण्डागम एवं आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्रणीत ग्रन्थों के बीज लेकर की गई है और जैन धर्म-दर्शन के विशाल वृक्ष को पल्लवित, पुष्पित एवं फलित किया गया है। इसीलिए इस ग्रन्थ पर टीकायें और व्याख्यायें लिखने में जैनाचार्यों और विद्वानों ने अपने को गौरवान्वित माना। इस ग्रन्थ पर निम्नलिखित प्राचीन-टीका ग्रन्थ प्रमुखतः उपलब्ध हैं-

जैन साहित्य में उल्लिखित प्रमाणों के आधार पर तीसरी शती के आचार्य स्वामी समन्तभद्र ने तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ पर सोलह सौ श्लोक प्रमाण[1] गंधहस्ति-महाभाष्य नामक टीका ग्रन्थ की रचना की थी जो आज अनुपलब्ध है। श्वेताम्बर परम्परानुसार इस ग्रन्थ के मूल रचयिता वाचक उमास्वाति ने स्वयं "तत्त्वार्थाधिगमभाष्य" नाम से स्वोपज्ञ टीका सहित मूल ग्रन्थ की रचना की थी। छठी शती के आचार्य देवनन्दी पूज्यपाद ने इस पर सर्वार्थसिद्धि नामक टीका ग्रन्थ की रचना की। छठी-सातवीं शती के अपभ्रंश भाषा के महाकवि आचार्य जोइंदुदेव ने इस पर संस्कृत में 'तत्त्वप्रकाशिका' नामक टीका लिखी।

---

* रीडर एवं अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

१. पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री के अनुसार गन्धहस्तिमहाभाष्य का श्लोक परिमाण कहीं चौरासी हजार तो कहीं छियानवे हजार बतलाया गया है। देखिए-जैन साहित्य का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० २७८ (सम्पादक)

सातवीं शती के महान् आचार्य अकलंकदेव ने आ० पूज्यवाद की सर्वार्थसिद्धि टीका को समाहित करते हुए इस ग्रन्थ पर "तत्त्वार्थवार्तिक" जिसे राजवार्तिक नाम से भी जाना जाता है, एक ऐसे वार्तिक ग्रन्थ की रचना की जो स्वयं में एक स्वतंत्र ग्रन्थ प्रतीत होता है। नवमीं शती के दिग्गज आचार्य विद्यानंद ने "तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक" नामक विशालकाय टीका ग्रन्थ लिखकर जैनधर्म- दर्शन के तत्त्वों का दार्शनिक शैली में मात्र विवेचन ही नहीं किया, अपितु पूर्वपक्ष के रूप में अमान्य दार्शनिक मान्यताओं का खण्डन प्रस्तुत करने हुए जैनदर्शन के पक्ष का मण्डन करके उसे तर्कशैली में प्रस्तुत किया है।

इनके अतिरिक्त आ० अभयनंदिकृत तत्त्वार्थवृत्ति, आ० शिवकोटिकृत रत्नमाला टीका, आ० भास्करनन्दिकृत सुखबोध नामक टीका, बालचन्द कृत कन्नड टीका, विवुधसेनकृत तत्त्वार्थ टीका, लक्ष्मीदेवकृत तत्त्वार्थ टीका, आचार्य श्रुतसागर सूरीकृत तत्त्वार्थवृत्ति, द्वितीय श्रुतसागरविरचित तत्त्वार्थ-सुबोधिनी के अतिरिक्त श्वेताम्बर परम्परा में भी आचार्य सिद्धसेन एवं आचार्य हरिभद्रप्रणीत वृहद् टीकायें काफी लोकप्रिय मानी जाती हैं।

पुरानी हिन्दी(ढूंढारी) भाषा में भी १८१९ वीं शती के विश्रुत विद्वान् पं० सदासुख दासजी कासलीवाल ने भी तत्त्वार्थसूत्र पर एक लघुटीका तथा "अर्थ प्रकाशिका" नामक वृहद् टीकायें लिखीं। इस प्रकार इस सूत्र-ग्रन्थ पर अनेक विद्वानों ने विविध टीकायें लिखकर अपनी लेखनी को सार्थक किया है।

पूर्वोक्त अनेक टीका-ग्रन्थों में से आ० देवनन्दि पूज्यपाद और उनकी सर्वार्थसिद्धि टीका तथा आ० अकलंकदेव एवं उनके द्वारा लिखित तत्त्वार्थवार्तिक का सक्षेप में तुलनात्मक अध्ययन यहाँ प्रस्तुत है-

आचार्य पूज्यपाद और उनकी सर्वार्थसिद्धि नामक टीका ग्रन्थ के प्रणेता आ० देवनन्दि पूज्यपाद छठीं शती के ऐसे महान् आचार्य हैं, जिनमें कवि, वैयाकरण और दार्शनिक-इन तीनों व्यक्तित्वों का एकत्र रूप में समवाय पाया जाता है। कर्नाटक में "कोले" नामक ग्राम के मूल ब्राह्मण कुल में जन्मे एवं देवनन्दि मूल नाम से प्रसिद्ध आचार्य पूज्यपाद अपनी बुद्धि व प्रखरता के कारण "जिनेन्द्रबुद्धि" एवं दोनों द्वारा चरणों की पूजा किये जाने के कारण "पूज्यपाद" नाम से काफी प्रसिद्ध हैं। परवर्ती अनेक आचार्यों ने अपनी कृतियों में आपकी ज्ञानगरिमा और महत्ता का उल्लेख करते हुए स्तुति की है। ज्ञानार्णव नामक ध्यान-योग-शास्त्र के महान् ग्रन्थ में आ० शुभचन्द्र ने इनकी प्रतिभा का उल्लेख करते हुए कहा है-

अपाकुर्वन्ति यदवाचः कायवाक्चित्तसम्भवम्।
कलंकमंगिनां सोऽयं देवनन्दीनमस्यते।। ज्ञानार्णव १/१५

अर्थात् जिनकी शास्त्र-पद्धति प्राणियों के शरीर, वचन और चित्त के सभी प्रकार के मल को दूर करने में समर्थ है, उन देवनन्दि आचार्य को मैं प्रणाम करता हूँ।

आ० पूज्यपाद विरचित निम्नलिखित रचनायें उपलब्ध हैं- दशभक्ति, जन्माभिषेक, सर्वार्थसिद्धि(तत्त्वार्थवृत्ति), समाधितन्त्र, इष्टोपदेश, जैनेन्द्र व्याकरण तथा सिद्धिप्रिय स्तोत्र।

आ० पूज्यपाद और उनकी सर्वार्थसिद्धि तथा आचार्य अकलंकदेव और उनके तत्त्वार्थवार्तिक का तुलनात्मक अध्ययन अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि दोनों आचार्यों ने अनेक ग्रन्थों की टीकायें लिखी हैं, किन्तु तत्त्वार्थसूत्र पर ही दोनों आचार्यों ने बेजोड़ टीकायें लिखी हैं।

सर्वार्थसिद्धि नाम से प्रसिद्ध तत्त्वार्थवृत्ति संस्कृत गद्य एवं प्राञ्जल भाषा में लिखित मध्यम परिमाण वाली ऐसी वृहद् वृत्ति है, सूत्रानुसारी सिद्धान्त के प्रतिपादन के साथ दार्शनिक विवेचन एवं पारिभाषिक शब्दों की सुन्दर परिभाषाओं से भरपूर है। इसीलिए यह टीकाग्रन्थ होने पर भी मौलिक एवं स्वतंत्र ग्रन्थ के समकक्ष माना जाता है। इसमें तत्त्वार्थसूत्र के प्रत्येक सूत्र और उनके पद का निर्वचन, विवेचन एवं शंका-समाधानपूर्वक व्याख्यान किया है। इस टीका ग्रन्थ में अनेक मौलिक उद्भावनायें भी आचार्यश्री ने प्रस्तुत की हैं। प्रारम्भ में "मोक्षमार्गस्य नेतारं" इत्यादि मंगलाचरण करके इसकी व्याख्या किये बिना "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इस प्रथम सूत्र के व्याख्यान प्रसंग के पूर्व भूमिका के रूप में एक बहुत ही सुन्दर उत्थानिका प्रस्तुत की गई है, जो इस ग्रन्थ और ग्रन्थकार द्वारा ग्रन्थ-लेखन के उद्देश्य को प्रस्तुत करती है। उत्थानिका के बाद प्रथमसूत्र लिखकर फिर इसका विवेचन किया गया है। प्रथम अध्याय के छठें सूत्र "प्रमाणनयैरधिगमः" सूत्र की व्याख्या में प्रमाण के स्वार्थ और परार्थ भेद तथा सकलादेश और विकलादेश की चर्चा आचार्य पूज्यपाद के द्वारा मौलिक रूप में प्रस्तुत की गयी है। "सत्संख्या-क्षेत्र-स्पर्शनकालान्तर-भावाल्पबहुत्वैश्च" नामक अष्टमसूत्र की व्याख्या तो इतनी विशद है कि इसे करणानुयोग का एक स्वतंत्र लधुग्रन्थ कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी। इसमें षट्खण्डागम आदि ग्रन्थों के आधार पर तत्त्वार्थसूत्र में जिन गुणस्थान, मार्गणाओं आदि विषयों का अभाव था, उन विषयों की पूर्ति यहाँ विस्तार से की गयी है। इसी तरह अन्य सभी अध्यायों में अनेक विषयों को मौलिक रूप में प्रस्तुत किया है।

डॉ० नेमिचन्द शास्त्री ने लिखा है कि "मौलिक तथ्यों के समावेश की दृष्टि से

पंचम अध्याय विशेष महत्त्वपूर्ण है। द्रव्य, गुण और पर्यायों का स्पष्ट और पूर्ण विवेचन किया गया है। "द्रव्यत्वयोगाद् द्रव्यम्" और "गुण-समुदायो द्रव्यम्" की समीक्षा सुन्दर रूप में की गयी है। "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" (५/३०), सूत्र की व्याख्या में सोदाहरण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की व्याख्या की गयी है तथा "अर्पितानर्पितसिद्धेः" (५/३२) सूत्र की वृत्ति में अनेकान्तात्मक वस्तु की सिद्धि की गई है।

इस तरह यह ग्रन्थ वर्णनात्मक शैली का होते हुए भी सूत्रगत पदों की सार्थकता के निरूपण के कारण भाष्य के तुल्य है।

'सर्वार्थसिद्धि' इस नाम से ही यह सिद्ध होता है कि इसके मनन करने से सब प्रकार के अर्थों की अथवा सब अर्थों में श्रेष्ठ मोक्ष की प्राप्ति होती है आचार्य पूज्यपाद एक प्रसिद्ध वैयाकरण थे, इनकी सर्वार्थसिद्धि नामक टीका एक तत्त्वविवेचन प्रधान दार्शनिक ग्रन्थ है, फिर भी इसकी इतनी सरल और प्रांजल भाषा है कि इसकी रचना शैली को हम समतल नदी के गतिशील प्रवाह की उपमा दे सकते हैं जो स्थिर और प्रशान्त भाव से आगे एक रूप में सदा बढ़ती रहती है। रुकना कही वह जानती ही नहीं। आचार्य पूज्यपाद ने इसमें केवल भाषा-सौष्ठव का ही ध्यान नहीं रखा है, अपितु आगमिक परम्परा का भी पूरी तरह निर्वाह किया है। प्रथम अध्याय का सातवाँ और आठवाँ सूत्र इसका प्राञ्जल उदाहरण है। इन सूत्रों की व्याख्या का आलोडन करते समय उन्होंने सिद्धान्त ग्रन्थों का कितना गहरा अभ्यास किया था इस बात का सहज ही पता लग जाता है।

आचार्य अकलंक देव और उनका तत्त्वार्थवार्तिक :

जैनदर्शन के प्रखरतार्किक, दार्शनिक और जैनन्याय के प्रस्थापक आचार्य अकलंकदेव सातवीं शती (उत्तरार्द्ध) के एक महान् आचार्य थे। ये मान्यखेट राजा के मंत्री पुरुषोत्तम के पुत्र थे। अनेक परवर्ती आचार्यों ने अपनी कृतियों में आपकी प्रशंसा लिखी है। धनंजय ने अपनी नाममाला में जैन प्रमाणशास्त्र को आपकी विशेष देन का उल्लेख करते हुए लिखा है-

प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
धनञ्जयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्।।

अर्थात् अकलंकदेव का प्रमाण, पूज्यपाद का व्याकरण और धनंजय कवि का काव्य- ये तीनों अपश्चिम रत्न हैं। आदिपुराणकार आ० जिनसेन ने भी कहा है-

भट्टाकलंकश्रीपालपात्रकेसरिणां गुणाः।
विदुषां हृदयारूढा हारायन्तेऽतिनिर्मलाः ।। आदिपुराण १/५३

अर्थात् भट्ट अकलंक, श्रीपाल और पात्रकेसरी आदि आचार्यों के अत्यन्त निर्मल गुण विद्वानों के हृदय में मणिमाला के समान सुशोभित होते हैं।

आपके द्वारा लिखित ग्रन्थों में मुख्यतः दो प्रकार के ग्रन्थ हैं- प्रथम स्वतंत्र ग्रन्थ- इनमें स्वोपज्ञवृत्ति सहित लघीयस्त्रय, २. न्यायविनिश्चय सवृत्ति, ३. सिद्धिविनिश्चय सवृत्ति, तथा ४. प्रमाण संग्रह सवृत्ति। द्वितीय टीका ग्रन्थों में तत्त्वार्थवार्तिक सभाष्य एवं आ० समन्तभद्र प्रणीत देवागम स्तोत्र पर लिखित अष्टशती, जिसे देवागमविवृति भी कहा जाता है।

इनमें से सभाष्य तत्त्वार्थवार्तिक टीका तत्त्वार्थसूत्र के प्रत्येक सूत्र पर, वार्तिक रूप में गद्यात्मक व्याख्या है। वार्तिकों पर भाष्य भी लिखा है। इसमें वार्तिक अलग और उनकी व्याख्या-भाष्य अलग होने से इसकी पुष्पिकाओं में इसे "तत्त्वार्थवार्तिक व्याख्यानालंकार" भी कहा है। ज्ञान और द्रव्यों के विवेचन की दृष्टि से इसके प्रथम और पंचम अध्यायों में अनेक दार्शनिक विषयों की समीक्षा की है।

डॉ० नेमिचन्द शास्त्री ने लिखा है[1] कि तत्त्वार्थवार्तिक की एक प्रमुख विशेषता यह है कि जितने भी मन्तव्य उसमें चर्चित हुए, उन सबका समाधान अनेकान्त के द्वारा किया गया है। अतः दार्शनिक विषयों से सम्बद्ध सूत्रों के व्याख्यान में 'अनेकान्तात् वार्तिक' अवश्य पाया जाता है। इसीलिए वार्तिककार ने दार्शनिक विषयों के कथन सन्दर्भ में आगमिक विषयों को भी प्रस्तुत कर अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा की है। जैन सिद्धान्तों के जिज्ञासु इस एक ही ग्रन्थ के स्वाध्याय से अनेक शास्त्रों का रहस्य हृदयंगम कर सकते हैं। इसमें ऐसी भी अनेक चर्चायें प्रस्तुत की गई है तो अन्यत्र अप्राप्य या दुर्लभ हैं।

आ० अकलंकदेव को अनेकान्तवाद का महापण्डित माना जाता है। इसीलिए प्रायः सूत्रस्थ विवादों का निराकरण अनेकान्त के आधार पर किया गया है। इतना ही नहीं प्रथम अध्याय के "प्रमाणनयैरधिगमः" सूत्र की व्याख्या में सप्तभंगी का और चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत अनेकान्तवाद का बहुत विस्तार से विवेचन है।

तत्त्वार्थवार्तिक में विषय की दृष्टि से सर्वार्थसिद्धि का अच्छा विस्तार किया गया है। इसकी शैली यद्यपि न्याय-प्रचुर है फिर भी अतिप्रसन्न और कहीं कहीं जटिल भी है, इसकी विषय प्रतिपादन की आदर्श शैली का परवर्ती आचार्यों और उनकी रचनाओं पर गम्भीर प्रभाव पड़ा है। इस प्रकार जैन संस्कृति की अपार काल-परम्परा के बीच यह ग्रन्थ दोनों ओर अपनी भुजाओं का प्रसार किये मेरु के समान अचल खड़ा है।

तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग २, पृ० ३१४ "अकलंक ने

१. महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग २, पृ० ३१४।

आगमिक ग्रंथ राजवार्तिक लिखकर दिगम्बर साहित्य में एक प्रकार से विशेषावश्ययक के स्थान की पूर्ति की है। उन्होंने अपनी विशाल और अनुपम कृति राजवार्तिक संस्कृत में लिखी है जो विशेषावश्यक भाष्य की तरह तर्कशैली की होकर भी आगमिक ही है। उनकी दृष्टि में बौद्ध और ब्राह्मण प्रमाणशास्त्रों की कक्षा में खड़ा रह सके ऐसा न्याय प्रमाण की समग्र व्यवस्था वाला कोई जैन प्रमाण-ग्रन्थ आवश्यक था क्योंकि वे आ० जिनभद्र आदि अन्य आचार्यों की तरह पाँच ज्ञान, नय आदि आगमिक वस्तुओं की केवल तार्किक चर्चा करके ही चुप नहीं रहना चाहते थे, अतः उन्होंने पञ्चज्ञान, सप्तम आदि आगमिक वस्तु का न्याय और प्रमाणशास्त्ररूप से ऐसा विभाजन किया, ऐसा लक्षण प्रणयन किया, जिससे जैन न्याय और प्रमाण ग्रन्थों के स्वतन्त्र प्रकरणों की मांग पूरी हुई । उनके सामने वस्तु तो आगमिक थी ही, दृष्टि और तर्क का मार्ग भी आ० सिद्धसेन और समन्तभद्र के द्वारा परिष्कृत हुआ ही था फिर भी प्रबल दर्शनान्तरों के विकसित विचारों के साथ प्राचीन जैन निरूपण का तार्किक शैली में मेल बिठाने का काम जैसा तैसा न था जो कि अकलंक ने किया। यही सबब है कि अकलंक की मौलिक कृतियाँ बहुत ही संक्षिप्त हैं, फिर भी वे इतनी अर्थघन तथा सुविचारित हैं कि आगे के जैनन्याय का वे आधार बन गई है।''[1]

''आ० अकलंकदेव का तत्त्वार्थवार्तिक गुण और विस्तार की दृष्टि से ऐसा है जिसे कोई भाष्य ही नहीं, महाभाष्य भी कह सकता है''।[2]

आचार्य अकलंकदेव स्वामी समन्तभद्र की तरह पूज्यपादाचार्य के भी सिद्धान्तों के उपस्थापक, समर्थक, विवेचक और प्रसारक हैं। श्वेताम्बर मुनि जिनविजयजी ने लिखा है कि ''आ० अकलंकदेव ने जैसे समन्तभद्रोपज्ञ आर्हत मत प्रकर्षक पदार्थों का परिस्फोट और विकास किया है वैसे ही पुरातन सिद्धान्त प्रतिपादित जैन पदार्थों का भी नई प्रमाण परिभाषा और तर्कपद्धति से, अर्थोद्घाटन और विचारोद्बोधन किया।''[3] मुनिजीने आगे लिखा है कि ''जो कार्य श्वेताम्बर सम्प्रदाय में जिनम्मद्रगाणी मल्लवादी, गन्धहस्ति और हरिभद्रसूरि ने किया वही कार्य दिगम्बर सम्प्रदाय में अनेक अंशों में अकेले भट्ट अकलंकदेव ने किया और वह भी कहीं अधिक सुंदर और उत्तम रूप से किया। अतएव इस दृष्टि से भट्ट अकलंकदेव जैन वाङ्मयाकाश के यथार्थ ही एक बहुत तेजस्वी नक्षत्र थे।[4] उन्होंने 'अकलंक ग्रन्थत्रय' के प्रास्ताविक में आगे लिखा है कि

१. पं० सुखलाल संघवी, अकलंक ग्रन्थत्रय, प्रस्तावना पृष्ठ ९-१०
२. वही, पृष्ठ ११
३. अकलंक ग्रन्थत्रय, प्रास्ताविक, पृ०२
४. वही, पृष्ठ २

यद्यपि संकुचित विचार के दृष्टिकोण से देखने पर वे सम्प्रदाय से दिगम्बर दिखाई देते हैं और उस संप्रदाय के जीवन के वे प्रबल बलवर्द्धक और प्राणपोषक आचार्य प्रतीत होते हैं, तथापि उदारदृष्टि से उनके जीवनकार्य का सिंहावलोकन करने पर, वे समग्र आर्हतदर्शन के प्रखर प्रतिष्ठापक और प्रचण्ड प्रचारक विदित होते हैं। अतएव समुच्चय जैन संघ(श्वे०दि०सभी) के लिए वे परम पूजनीय और परम श्रद्धेय मानने योग्य युगप्रधान पुरुष हैं।[1]

तत्त्वार्थवार्तिक एक टीकाग्रन्थ होते हुए भी स्वतंत्र और प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसकी रचना आचार्य पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि टीका पर आधारित है। सर्वार्थसिद्धि की वाक्य रचना, सूत्र जैसी संतुलित और परिमित है, यही कारण है कि अकलंकदेव ने प्रायः उसके सभी विशेष वाक्यों के अपने वार्तिक बना लिये और उन पर भाष्य लिखकर व्याख्यान किया। विषय और प्रसंगानुसार अनेक नये वार्तिकों की भी रचना की है, पर सर्वार्थसिद्धि का उपयोग पूरी तरह से किया। जिस प्रकार वृक्ष बीज में समाविष्ट हो जाता है उसी प्रकार समस्त सर्वार्थसिद्धि तत्त्वार्थवार्तिक और उसके भाष्य में समाविष्ट है, पर विशेषता यह है कि सर्वार्थसिद्धि के विशिष्ट अभ्यासी तक को भी यह प्रतीति नहीं हो पाती कि वह प्रकारान्तर से सर्वार्थसिद्धि का अध्ययन कर रहा है। जहाँ सर्वार्थसिद्धि के प्रायः अधिकांश वाक्यों का किसी न किसी रूप में वार्तिक का भाष्य लिखा गया है। वहीं प्रसंगानुसार सर्वार्थसिद्धि की अनेक पंक्तियों को ही नहीं अपितु उसके अनेक अनुच्छेदों को तत्त्वार्थवार्तिक में आ० अकलंकदेव ने प्रंसगानुसार समाहित किया है। सूत्रों की भूमिका एवं प्रसंग को तो प्रायः जहाँ का तहाँ आ० अकलंकदेव ने उद्धृत किया है। यहाँ प्रस्तुत है सर्वार्थसिद्धि के वे अंश या पंक्तियाँ जिन्हें आ० अकलंकदेव ने जहाँ की तहाँ **अथवा किञ्चित्** परिवर्तन के साथ उद्धृत कर लिया है--

सर्वप्रथम मंगलाचरण को ही लें। आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम मंगल श्लोक "मोक्षमार्गस्य नेतारं......"इत्यादि को मात्र उद्धृत किया है किन्तु उसकी व्याख्या या टीका न करके इस मंगल श्लोक के बाद सीधे ही प्रथम सूत्र की एक सुन्दर उत्थानिका द्वारा मोक्ष और मोक्षमार्ग का निरूपण किया है, जबकि आचार्य अकलंकदेव ने तत्त्वार्थवार्तिक में "मोक्षमार्गस्य नेतारं......" इत्यादि मंगत श्लोक का उल्लेख तक न करके सीधे अपनी ओर से इस वार्तिक ग्रन्थ के शुभारम्भ में अलग से मंगलाचरण इस प्रकार किया है-

---

१. वही, पृष्ठ २

प्रणम्य सर्वविज्ञानमहास्पदमुरुश्रियम्।
निर्धूतकल्मषं वीरं वक्ष्ये तत्त्वार्थवार्तिकम्।।

इस आधार पर कुछ विद्वानों का मत है कि 'मोक्षमार्गस्य नेतारं...' इत्यादि मंगलाचरण मूल ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र में नहीं रहा होगा, इसीलिए आ० पूज्यपाद और आ० अकलंक जैसे महान् आचार्यों ने इसका व्याख्यान एवं उल्लेख नहीं किया, किन्तु डॉ० दरबारीलाल कोठिया आदि अनेक विद्वानों ने विविध प्रमाणों से इसे मूल ग्रन्थ का मंगलश्लोक होना सिद्ध किया है।

इसके बाद प्रथमसूत्र "सम्यग्दर्शन ज्ञान चारिमाणि मोक्षमार्गः" को ही लें। सर्वार्थसिद्धि में इसकी वृत्ति में सम्यग्ज्ञान की परिभाषा संक्षेप में कही है कि "येन येन प्रकारेण जीवादयः पदार्थाः व्यवस्थितास्तेन तेनावगमः सम्यग्ज्ञानम्"। इसे ही आ० अकलंकदेव ने कुछ बढ़ाकर इस प्रकार लिखा है ''येन येन प्रकारेण जीवादयः पदार्था अवस्थिताः तेन तेनावगमः जीवाद्यर्थयाथात्म्यावगमः सम्यग्ज्ञानम्।" आगे सर्वार्थसिद्धि के वृत्ति वाक्य, जिनमें सम्यक्चारित्र की परिभाषा की गई है, उसें किञ्चित् परिवर्तन के साथ आ० अकलंकदेव ने वार्त्तिक सं०३ के रूप में प्रस्तुत कर दिया आगे अनेक विषयों का वार्तिक सहित विस्तार करने के बाद पुनः सर्वार्थसिद्धि के अनुच्छेद सं०७ में उल्लिखित वाक्य ''ज्ञानग्रहणमादौ न्याय्यं, दर्शनस्य तत्पूर्वकत्वात् अल्पाच्तरत्वाच्च" के दो वार्तिक (सं० २८ एवं २६ के रूप में) प्रस्तुत करके इनका भाष्य लिखा।

इसके बाद आ० पूज्यपाद ने जहाँ संबंधित विषय का अन्य प्रतिपादन करके प्रथम सूत्र का विवेचन समाप्त कर दिया वहीं आ० अकलंकदेव ने इसी विवेचन के आधार पर पचहत्तर वार्तिक और इनके विस्तृत भाष्य के बाद प्रथम सूत्र का विवेचन और द्वितीय आह्निक की समाप्ति की।

प्रथम अध्याय के ही द्वितीय सूत्र 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' का आ० पूज्यपाद ने छोटे-छोटे तीन अनुच्छेदों में विवेचन किया, वहीं इसी के आधार पर आ० अकलंकदेव ने इकतीस वार्तिकों और इसके भाष्य के साथ विवेचन प्रस्तुत किया। इतना ही नहीं अपितु सर्वार्थसिद्धि के कई वाक्यों को वार्तिक रूप में भी आ० अकलंकदेव ने प्रस्तुत किया। यथा- आचार्य पूज्यपाद ने शंका प्रस्तुत की ''दृशेरालोकार्थत्वात् श्रद्धानार्थगतिर्नोपपद्यते? अर्थात् सम्यग्दर्शन में ''दर्शन" शब्द 'दृशि' धातु से बना है, जिसका अर्थ है ''आलोक" अतः इससे श्रद्धानरूप अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता है। समाधान में आगे आचार्य पूज्यपाद ने कहा 'धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं अतः ''दृशि" धातु का ''श्रद्धान" रूप अर्थ करनें में कोई दोष नहीं है।

सर्वार्थसिद्धि के उक्त प्रकरण वाक्यों को तत्त्वार्थवार्तिक में सर्वप्रथम दो वार्तिकों में इस प्रकार प्रस्तुत किया है-दृशेरालोकार्थत्वादभिप्रेतार्था संप्रत्यय इति चेत्? न; अनेकार्थत्वात् ।।३।।, मोक्षकारणप्रकरणाच्छ्रद्धानगतिः अर्थात् 'दर्शन' दृशि धातु से बना है और दृशि धातु का अर्थ देखना है। अतः क्या दर्शन का श्रद्धान अर्थ नहीं हो सकता? इस प्रश्न के भी समाधान में वही कहा है कि ''धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं, इसलिए उनमें से श्रद्धान अर्थ भी ले लिया जायेगा। चूंकि यहाँ मोक्ष का प्रकरण है, अतः दर्शन का देखना अर्थ इष्ट नहीं है, किन्तु तत्त्वश्रद्धान अर्थ ही इष्ट है।

आगे जीव, अजीव, आस्रव आदि सात तत्त्वों का प्रतिपादन करने वाले चतुर्थ सूत्र में जीवादि तत्त्वों की जो परिभाषायें आ० पूज्यपाद ने इस सूत्र के विवेचन में लिखी प्रायः उन्हीं सभी वाक्यों को वार्तिक रूप में भाष्य सहित प्रस्तुत करते हुए इकतीस वार्तिक में इस चतुर्थ सूत्र का विवेचन पूरा करते हुए चतुर्थ आह्निक की भी समाप्ति की है।

छठे ''प्रमाणनयैरधिगमः'' सूत्र में भी ''अभ्यर्हितत्त्वात्प्रमाणस्य पूर्वनिपातः। अभ्यर्हितत्त्वं च सर्वतो वलीयः" आ० पूज्यपाद के इन दो वाक्यों को आ० अकलंकदेव ने प्रथम वाक्य को वार्तिक और दूसरे वाक्य को उसके भाष्य के प्रारम्भिक अंश के रूप में प्रस्तुत किया है।

अष्टम सूत्र ''सत्संख्या'' आदि के विषय में तो पहले ही बतला दिया गया है कि जहाँ इस सूत्र का काफी विस्तृत विवेचन आ० पूज्यपाद ने किया है वहीं आ० अकलंक देव ने आ० पूज्यपाद की अपेक्षा तेईस वार्तिकों में अल्परूप में विवेचन प्रस्तुत किया है।

इसी तरह अन्य सूत्रों के प्रतिपाद्य विषयों का विद्वत्तापूर्ण रूप में सर्वार्थसिद्धि के अनुसार विस्तार से करते हुए आ० अकलंकदेव ने २१वें सूत्र "भवप्रत्ययोऽवधि-र्देवनारकाणाम्'' के विवेचन में आ० पूज्यपाद ने लिखा है ''भव इत्युच्यते। को भवः? इसी को आ० अकलंक ने इस प्रकार लिखा है ''भव इत्युच्यते। को भवो नाम ? इसके बाद सर्वार्थसिद्धिकार की भव की परिभाषा "आयुर्नामकर्मोदयनिमित्त आत्मनः पर्यायो भवः" अर्थात् आयु नामकर्य के क्षय का निमित्त पाकर जो जीव की पर्याय होती हैं, उसे भव कहते हैं। आ० अकलंक ने इसे ही वार्तिक रूप में प्रस्तुत करके इसका भाष्य लिखा है।

सर्वार्थसिद्धि के २२वें सूत्र ''क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्'' का जो विवेचन है उसके प्रारम्भिक अंश को आ० अकलंकदेव ने पूरा प्रथम अनुच्छेद ही जहाँ का तहाँ तत्त्वार्थवार्तिक में रखा है। जहाँ अवधिज्ञान के छह भेदों की चर्चा आ०

पूज्यपाद ने की है- स एषोऽवधिः षड्विकल्पः। कुतः ? अनुगाम्यननुगामिवर्धमानहीयमानाव-स्थितानवस्थितभेदात्। इसका आ० अकलंक ने एक वाक्य में वार्तिक (सं०४)बनाकर सर्वार्थसिद्धि के आगे के कुछ विवेचन को इस वार्तिक का भाष्य बना लिया। इसके बाद आ० अकलंक ने इन सबका आगमिक परम्परा से बहुत अच्छा और विस्तृत विवेचन किया है। ठीक इसी तरह २३वें एवं २४वें सूत्र "ऋजुविपुलमती मनःपर्यय, एवं विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यातद्विशेषः" को भी प्रस्तुत किया गया है।

इसी तरह इस प्रथम अध्याय के अन्य सूत्रों के आधार पर वार्तिक और भाष्य लिखे, किन्तु यहाँ मात्र आधार लिया गया है, वार्तिक और भाष्य पूरे मौलिक हैं। आगे के अध्यायों का विवेचन भी प्रथम अध्याय की पद्धति के आधार पर किया गया है।

प्रस्तुत निबंध में आ० पूज्यपाद और सर्वार्थसिद्धि तथा आ० अकलंकदेव और उनके तत्त्वार्थवार्तिक का तुलनात्मक अध्ययन बहुत ही महत्त्वपूर्ण होते हुए भी अपने आप में अनेक शोधप्रबन्धों का विषय है, इसीलिए यहाँ इस तुलनात्मक अध्ययन को मात्र प्रथम अध्याय तक सीमित रखा है।



विज्ञानवाद पर आचार्य अकलंक और उनके टीकाकार

*डॉ० भागचन्द्र जैन 'भास्कर'**

विज्ञानवाद महायानी बौद्धदर्शन का प्रमुख सम्प्रदाय है, जिसे असंग (लगभग तृतीय सदी ई०) ने संस्थापित किया था, और वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि आचार्यों ने विकसित किया था। असंग ने आर्य मैत्रेयनाथ के सूत्रालंकार, अभिसमयालंकार, उत्तरतन्त्र आदि ग्रन्थों के आधार पर अभिधर्म समुच्चय और महायान संग्रह की रचना की। उसके वाद असंग के भाई वसुबन्धु ने अभिधर्मसमुच्चय, सूत्रालंकार, पंचस्कन्ध, त्रिंशिका, विंशिका आदि प्रकरण ग्रन्थ लिखकर विज्ञानवाद की नींव मजबूत कर दी। वसुबन्धु के शिष्य दिङ्नाग ने इन सभी ग्रन्थों का आधार लेकर प्रमाण समुच्चय ग्रन्थ लिखा। जिस पर धर्मकीर्ति ने टीका लिखकर प्रमाणविनिश्चय, प्रमाणवार्तिक, वादन्याय, न्यायबिन्दु, सन्तानन्तरसिद्धि आदि ग्रन्थ लिखे और उसे और भी व्यवस्थित कर दिया। यहां तक निराकार और साकार विज्ञानवाद जैसी शाखायें खड़ी हो गई थीं, जिनका मूल सम्बन्ध बाह्य रूपार्थ से आभसित वासना से था।

धर्मकीर्ति का समय आचार्य महेन्द्रकुमारजी ने बड़ी पर्यालोचना के बाद सन् ६२० से ६६० तक निश्चित किया। इस समय तक समूची भारतीय दार्शनिक परम्पराएं लगभग सुव्यवस्थित हो चुकी थी। जैन दर्शन का भी यह सर्वोच्च बुद्धिवादी युग था। इस युग पर बौद्ध दार्शनिकों का विशेष प्रभाव रहा है। आचार्यश्री ने अकलंक का समय ई० ७२० से ७८० सिद्ध किया है। धर्मकीर्ति और अकलंक के बीच लगभग ६०० वर्ष का अन्तराल रहा है, जिसमें धर्मकीर्ति के शिष्यों की मुख्य भूमिका देखी जा सकती है। विशेषतः शान्तरक्षित का समय (ई० ७६२) अकलंक का समय रहा है।

अकलंक के प्रमुख ग्रन्थ हैं- तत्त्वार्थवार्तिक सभाष्य, अष्टशती, लघीयस्त्रय सविवृत्ति, न्यायविनिश्चय सविवृत्ति, सिद्धिविनिश्चय और प्रमाणसंग्रह। इन ग्रन्थों में से आचार्य विद्यानन्द ने अष्टशती पर अष्टसहस्री और आचार्य प्रभाचन्द्र ने लघीयस्त्रय पर न्यायकुमुदचन्द्र नामक टीकायें लिखकर जैन दार्शनिक मान्यताओं को प्रस्थापित

---

* अध्यक्ष, पालि-प्राकृत विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय न्यू एक्टेंशन एरिया सदर, नागपुर-४४०००१

किया। इन सभी ग्रन्थों में जैनाचार्यों ने जैनेतर दार्शनिक मान्यताओं के पूर्वपक्ष को रखकर उनका अनेकान्तिक दृष्टि से सयुक्तिक खण्डन किया है।

इस समय तक बौद्धदर्शन भी प्रस्थापित हो चुका था। जैन दार्शनिकों ने अपने ग्रन्थों में उन सभी का पुरजोर खण्डन किया है। प्रस्तुत निबन्ध में हम अकलंक और उनके टीकाकारों द्वारा विज्ञानवाद की जो समीक्षा की गई उसे संक्षेप में प्रस्तुत कर रहे हैं।

बौद्धधर्म पदार्थ को शून्यात्मकता अथवा क्षणभंगुरात के कारण व्यापक नहीं मानता, पर जैनधर्म उसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक मानता है। चार्वाक भौतिकवादी है पर यथार्थवादी बौद्धधर्म में सचेतन और अचेतन-दोनों को सम्मिलित किया गया है। अचेतन के रूप में वहाँ 'रूप' स्वीकृत है जो जैनधर्म का एक प्रकार से पुद्गल है। यथार्थवादी वैभाषिक और सौत्रान्तिक परमाणुवादी हैं। आदर्शवादी उपनिषद् दर्शन यह विश्वास व्यक्त करता है कि ब्रह्म अथवा आत्मन् से संसार उद्भूत हुआ, उसी तरह जिस तरह अग्नि से चिनगारी निकलती है। उसे ब्रह्मपरिणामवाद कहा जाता है।

बौद्धधर्म प्रारम्भ में ही विषयीगत रहा है। वैभाषिकों ने अवयवी, नित्य और एकत्व या सामान्य पदार्थ को मात्र कल्पना माना है, जबकि सौत्रान्तिकों ने उसे प्रज्ञप्तिसत् स्वीकार किया है। अतीत और भविष्य गत धर्म (क्षण) जिन्हें यथार्थ कहा है वैभाषिकों ने, सौत्रान्तिकों ने उन्हें मात्र आदर्श कह दिया है।

क्षणभंगुरतावाद की चरम परिणति के पूर्व बाह्यार्थवादी सौत्रान्तिकों ने पदार्थ को अनुमानगम्य माना इससे पदार्थ की नित्यता को अस्वीकार करने का मार्ग और भी प्रशस्त हो गया। उसने पदार्थ को जानने वाले चित्त या विज्ञान को स्वीकार किया। माध्यमिक के विपरीत खड़े होने वाले इस वर्ग को विज्ञानवाद कहा गया। यह विज्ञानवाद माध्यमिकों के बाह्य पदार्थ की सत्ता को अस्वीकार करते हुए परमार्थ सत् और संवृति सत् के रूप में उसे स्वीकार करता है।

धर्मकीर्ति के पूर्ववर्ती साहित्य में विज्ञानवाद की इस विचारधारा को देखा जा सकता है। सन्धि निर्मोचन, सूरंगमा, लंकावतार आदि सूत्र विज्ञानवाद की दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण हैं, विशेष रूप से लंकावतार। वहाँ नाम और निमित्त को बिल्कुल 'परिकल्पित' माना गया, विकल्प को 'परतन्त्र' कहा गया, विज्ञान में सादे पदार्थों का संग्रह हो जाता है और पदार्थ का अस्तित्व पटतन्त्रमय बन जाता है तब सम्यग्ज्ञान और तथता 'परिनिष्पन्न' हो जाते हैं।

मैत्रेयनाथ के अलंकार ग्रन्थों ने महायान सूत्रों और योगाचार सम्प्रदाय से सम्बन्ध

स्थापित किया। असंग और वसुबन्धु ने उसे और आगे बढ़ाया। वसुबन्धु की विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि और दिङ्नाग की आलम्बन परीक्षा में इस तथ्य को और अधिक विस्तार दिया गया, जिसे हमें स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए।

असंग ने महायान सूत्रालंकार में योगाचार विज्ञानवाद का प्रतिपादन किया है। नागार्जुन से प्रभावित रहने के बावजूद वे आगे बढ़ते हैं। पारमार्थिक दृष्टि से यद्यपि उनके दर्शन में संसार और निर्वाण के बीच कोई भेद नहीं था, पर उन्होंने जिस आत्मा का खण्डन किया है वह जीवात्मा है, परमात्मा नहीं। जीवात्मा ही महात्मन् में विलीन हो जाती है। यह महात्मन् अथवा परमार्थ सत् स्वयं प्रकाश, प्रकृति प्रभास्वर, स्वभाव से ही विशुद्ध और निर्मल हैं, किन्तु हमारे अज्ञान के कारण दूषित-सा प्रतीत होता है। यही चित्त धर्मधातु, बुद्धता और तथता है, आत्मा और दृश्य जगत् मिथ्या हैं। सामान्य जन का चिन्तन ज्ञान और ज्ञेय के द्वित्व पर ही आधारित है। भगवान् बुद्ध ने अपने उपाय कौशल से उसे इस तत्त्व का भान कराया है। उन्होंने बाह्य वस्तुओं की सहायता से तत्त्व के स्वरूप को स्पष्ट किया है। महायान सूत्रालंकार (६-५, १३.१६)।

वसुबन्धु ने असंग के परममहात्मन् या चित्त की स्थापना को तार्किक आधार दिया, उन्होंने विज्ञप्तिमीमांसा को ही एक मात्र सत् माना। मृगमरीचिका के समान अज्ञानता के कारण ही दृश्य जगत् का अस्तित्व दिखाई देता है। वस्तुतः दृश्य जगत् का वास्तविक अस्तित्व है नहीं। सविकल्प-बुद्धि की कोटियों द्वारा निर्मित जगत् तत्त्वतः सत् नहीं है। विज्ञप्तिमात्रता या धर्मनैरात्म्य का सिद्धान्त सविकन्य बुद्धि द्वारा कल्पित कर्ता और कर्म, ग्राहक और ग्राह्य, दृष्टा और दृश्य के द्वन्द्व पर प्रतिष्ठित जगत् का खण्डन करता है, न कि विशुद्ध निर्विकल्प विज्ञप्तिमात्रता का। यह कल्पित जीवात्मा का खण्डन करता है न कि परमतत्व विज्ञप्तिमात्रता का, वसुबन्धु की यह विज्ञप्तिमात्रता लंकावकार के चित्तमात्र से काफी मिली-जुलती है। अन्तर यह है कि लंकावतार अन्यविज्ञान और चित्त को पर्यायवादी मानता है, जबकि वसुबन्धु के अनुसार यह ज्ञप्तिमात्रता से उद्भूत होता है। (विंशतिका वृत्ति, पृ०-१०)

धर्मकीर्ति के अनुसार यह परमसत् विज्ञप्ति या बुद्धात्मा है। इसी के कारण जगत् की प्रतीति होती है। यही ग्राह्य-ग्राहक के रूप धारण कर जगत् की वस्तुओं के रूप में दिखाई पड़ता है (प्रमाणवार्तिक १-२-६२)। बाह्य वस्तुओं का जो ज्ञान हमें होता है, वह हमारे मन के संस्कार या वासना का फल है। जिस प्रकार पाण्डु रोगी को सारी वस्तुएं पीली दिखाई पड़ती हैं, यद्यपि वे पीली नहीं हैं, उसी तरह अविद्याग्रस्त होने के कारण हमें दृश्य जगत् की वस्तुएं दिखाई पडती हैं, यद्यपि उनका अस्तित्व

नहीं है। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि धर्मकीर्ति की दृष्टि में यह चित्त मन की सृष्टि नहीं है, बल्कि वह स्वयं प्रकाश है, स्वतः दैदीप्यमान है (प्रमाणवार्तिक २-३५४)। इसका साक्षात्कार किया जा सकता है। यह सत् क्षणिक है। इसे नित्य या शाश्वत मानना भ्रम है। अद्वैतवाद में वह नित्य रहता है जो धर्मकीर्ति की दृष्टि से सही नहीं है। शान्तरक्षित और कमलशील ने इसी तत्त्व को और अधिक समझाने का प्रयत्न किया है।

इस विज्ञानवाद में विज्ञान के लिए आत्मा की आवश्यकता नहीं है, यह स्वसंवेद्य है। इसमें चित्त तत्त्व ही सभी व्यवस्थाओं का आधारभूत तत्त्व है। उसका चैतन्य तत्त्व अनित्य, सविशिष्ट, प्रज्ञा एवं करुणा का युगपत् पुञ्ज है। दार्शनिक दृष्टि से विज्ञानवाद में दो तत्त्व हैं- परमार्थ सत्त्व और संवृतिसत्त्व। परमार्थसत्त्व में विज्ञप्तिमात्रता परिनिष्पन्न लक्षण चित्रमात्रता, शून्यता, धर्मधातु आदि आते हैं और संवृति हो जाता है। अतः इन्द्रिय और मन को ही ज्ञान में कारण माना जाना चाहिए। अर्थ तो ज्ञान का विषय ही हो सकता है, कारण नहीं। इसी प्रसंग में अकलंक ने सन्निकर्ष और क्षणिक अर्थ को भी ज्ञान के प्रति कारण मानने की आलोचना की। इसी तरह आलोक के साथ ज्ञान का अन्वय-व्यतिरेक न होने से आलोक भी ज्ञान का कारण नहीं हो सकता।

प्रमेय के सन्दर्भ में अकलंक ने कहा कि स्वरूपास्तित्व का ही नाम द्रव्य, ध्रौव्य या गुण है। 'सन्तान' का भी यही काम करना है। वह नियत पूर्वक्षण का नियत उत्तरक्षण के साथ ही कार्यकारणभाव बनाता है, क्षणान्तर से नहीं। अन्तर यह है कि बौद्ध उस सन्तान को काल्पनिक कहते हैं, जबकि जैन उस द्रव्यांश को पर्यायक्षण की तरह वास्तविक कहते हैं। इसी प्रसंग में अकलंक ने सर्वथा क्षणिक पदार्थ में अर्थ-क्रियाकारित्व का भी खण्डन किया है और कहा है कि अर्थ नित्यानित्यात्मक वस्तु में ही सम्भव है। क्षणिक में अन्तिम रूप नहीं है, तथा नित्य में उत्पाद और व्यय नहीं है। उभयात्मक वस्तु में ही क्रम, यौगपद्म तथा अनेक शक्तियां सम्भव हैं। इसी प्रसंग में विभ्रमवाद, संवेदनाद्वैतवाद आदि का भी खण्डन किया है। अकलंकग्रन्थत्रय (पृ० ३६-४१) में इस तथ्य पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

विज्ञानवादी दर्शन बाह्यार्थ का निषेध करता है और तद्विषयक सिद्धान्तों को भ्रान्तिमूलक सिद्ध करता है। वह परिकल्पित लक्षणों के साथ निःस्वभावता की व्याख्या करना है, विज्ञान की पारमार्थिक सत्ता को एक दार्शनिक रूप देने के लिए परतन्त्र लक्षण की व्याख्या करते हुए आलयविज्ञान की स्थापना करता है। साथ ही परतन्त्र

लक्षण में परिकल्पित लक्षण के अभावतन्त्र को सिद्ध करते हुए परिनिष्पन्न या परमार्थ तत्त्व की स्थापना करता है।

धर्मकीर्ति आदि आचार्यों के इस विज्ञानवाद का खण्डन अकलंक ने अपने ग्रंथों में बड़े विस्तार से किया है, विशेष रूप से अकलंकग्रन्थत्रय में। बौद्धदर्शन में चार प्रत्ययों से चित्त और चैतसिकों की उत्पत्ति होती है- (१) समनन्तर प्रत्यय (पूर्वज्ञान) (२) अधिपतिप्रत्यय (चक्षुरादि इन्द्रियां) (३) आलम्बन प्रत्यय (पदार्थ) और (४) सहकारी प्रत्यय (आलोक आदि)। ये चार प्रत्यय अर्थ और आलोक से सम्बद्ध हैं, जो ज्ञान के कारण हैं। नैयायिक आदि दर्शनों में सन्निकर्ष को प्रमाण में कारण माना गया है।

अकलंक ने इस सहोपलम्बननियम का खण्डन किया है। उनका कहना है कि ज्ञान अर्थ का कार्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह इतना ही जानता है कि यह अमुक अर्थ है'। वह यह नहीं जानता कि 'मैं इस अर्थ से उत्पन्न हुआ हूं।' अन्यथा कोई विवाद ही नहीं रहेगा। ज्ञान का अर्थ के साथ अन्वय-व्यतिरेक न होने से उनमें कारणकार्यभाव भी नहीं हो सकता है।

बौद्ध दार्शनिक परम्परा के इतिहास में यह स्थापित तथ्य है कि माध्यमिक सम्प्रदाय के शून्यवाद के विपरीत विज्ञानवाद का उत्थान हुआ। तदनुसार जगत् के समस्त पदार्थ शून्य भले ही हों पर शून्यात्मक प्रतीति के ज्ञापक विज्ञान को सत्य पदार्थ अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए। चित्त, मन अथवा बुद्धि की इस अभूतपूर्व प्रतिष्ठा के कारण ही इसे विज्ञान कहा गया है। यह उसका आध्यात्मिक नाम है। धार्मिक और व्यावहारिक दृष्टि से इसे योगाचार कहा गया है। इसमें शमथ-विपश्यना रूप योगमार्ग का आचरण किया जाता है। मैत्रेयनाथ का अभिसमयालंकार तथा असंग का योगाचार भूमिशास्त्र योगाचार के विशिष्ट प्रतिपादक ग्रन्थ हैं तथा वसुबन्धु की विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि और असंग का आर्य सन्धिनिर्मोचनसूत्र विज्ञानवाद के प्रतिष्ठापक ग्रन्थ हैं। शान्तरक्षित जैसे आचार्यों ने भी इसके विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। विज्ञानवाद की दृष्टि में बाह्य पदार्थ की सत्ता नहीं। मात्र चित्र-विचित्र रूपों में वह दिखाई देता है।[1] यही विज्ञानवाद का अद्वयवाद है। यह विज्ञान चित्त का काल्पनिक परिणमन है, वास्तविक नहीं।

अवस्था भेद की दृष्टि से विज्ञान आठ प्रकार का है- चक्षुर्विज्ञान, श्रोतृविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कामविज्ञान, मनोविज्ञान, क्लिष्टमनोविज्ञान और आलयविज्ञान।

१. दृश्यते न विद्यते बाह्यं चित्तं चित्रं हि दृश्यते।
देहभोगप्रतिष्ठानं चित्तमात्रं वदाम्यहम्।। लंकावतार, ३.२७

प्रथम सात विज्ञानों को प्रवृत्ति विज्ञान कहते हैं। आलयविज्ञान में उनका अविर्भाव होता है और उसी में वे विलीन हो जाते हैं। असंग इसे संसार की प्रवृत्ति और निर्वृत्ति का कारण मानते हैं। आर्यसन्धिनिर्मोचन के अनुसार यह आदान विज्ञान है, सूक्ष्म है, गंभीर है, समस्त धर्मों के बीजों (वासनाओं) का आश्रय है। उदक द्वारा प्रवाहित तृण काष्ठ आदि के समान प्रवृत्तिवान् है। इसे 'आत्मा' समझना भ्रामक है।[1]

आलयविज्ञान में वासनायें विद्यमान रहती हैं। उनका परिपाक हो जाने पर ही सम्बद्ध विज्ञान की उत्पत्ति होती है। यद्यपि बाह्य पदार्थ की सत्ता नहीं है, फिर भी अनादिकालीन वासना के कारण विज्ञान का बाह्यार्थ रूप से प्रतिभास होता है उसी प्रकार जिस प्रकार एक चन्द्रमा में दो चन्द्रमाओं का प्रतिभास हो जाता है। किसी पदार्थ की उत्पत्ति के समय ग्राह्य (घट, पट आदि), ग्राहक (ज्ञाता) और ज्ञान्–इन तीन बातों की प्रतीति होती है। ये तीनों एकाकार विज्ञान के ही परिणाम हैं। इसी से संसार के समस्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं।[2] आलयविज्ञान अव्याकृत है, अनित्य है, संस्कृत है, वस्तुरूप है, सत् है, स्वलक्षण है, निर्विकल्प ज्ञानात्मक है, स्वसंवेदन है, चित्त है, परतन्त्रलक्षण है, संवृतिसत्त्व है, तद्नुसार समस्त पदार्थ तीन श्रेणियों में विभक्त हैं- परिकल्पित, परतन्त्र और परिनिष्पन्न। ये पदार्थ परस्पर भिन्न होते हैं। चूंकि ज्ञान वासनाओं से दूषित रहता है, इसलिए वस्तुओं का आभास ग्राह्य-ग्राहक इस के रूप में होता है जो मिथ्या है अर्थात् बाह्यार्थ परिकल्पित है, अलीक है। बाह्यार्थ की सत्ता को मानने वाले वैभाषिक और सौत्रान्तिक के मत में आलयविज्ञान को मानने की आवश्यकता नहीं होती है। आचार्य भावविवेक ने तो माध्यमिक हृदय में आलयविज्ञान को आत्मा के सिद्धान्त से अभिन्न मानकर उसकी आलोचना भी की है। आचार्य चन्द्रकीर्ति ने माध्यमिकावतारवृत्ति में इसे ईश्वर की मान्यता के समकक्ष रखा है, इस अन्तर के साथ कि आलयविज्ञान अनित्य है और ईश्वर नित्य है।

आलयविज्ञान एक चेतना है। चित्त, मन और विज्ञान उसी के नामान्तर हैं। यह लगभग वह सब काम करता है, जो बौद्धेतर दर्शनों में आत्म तत्त्व करता है। जैनाचार्यों ने आलयविज्ञान को आत्मा के रूप में ही देखा है परन्तु विज्ञानवाद उसे उस रूप में नहीं मानता, उसे वह चित्तसंतति के रूप में देखता है। जैनदर्शन में ज्ञान पर्याय प्रत्येक क्षण में बदलते रहते हैं और पूर्वज्ञान के बाद उत्तर ज्ञानपर्याय उत्पन्न होता है। उसी

---

१. आदानविज्ञानगभीरसूक्ष्मो ओजो यथा वर्तति मर्वबीजो।
बालान् एषो मयि न प्रकाशितो मा हैव आत्मा परिकल्पयेयुः।।
आर्यसन्धिनिर्मोचनसूत्र, तिब्बती कंजूर, पु० सं० ५०, त्रिंशिका भाष्य पृ० १८

२. तत्र सर्वसांक्लेशिकधर्मबीजस्थानत्वात् आलय · त्रिंशिका भाष्य पृ० १८

तरह विज्ञानवाद में पूर्णचित्त का नाश और चित्त का उत्पाद होता है। इस प्रकार चित्त की संतति अनादिकाल से चलती आ रही है। जैन द्रव्यवादी हैं। बौद्ध पर्यायवादी हैं। बौद्ध पर्यायवाद में ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य का अस्तित्व नहीं है, परन्तु जैन द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुवादी होने के कारण ज्ञान को जीव द्रव्य का गुण मानते हैं और इसी गुण की विविध अवस्थाओं को पर्याय।

आलयविज्ञानवादी सुख-दुःख को विपाक नहीं मानते, आलयविज्ञान ही उनकी दृष्टि में शुभाशुभ कर्मों का विपाक है।[१] अतएव सुख और ज्ञान में भेद नहीं है। धर्मकीर्ति भी सुखादि को ज्ञानरूप सिद्ध करते हैं।[२] जैनाचार्य इसे द्रव्यार्थिकनय दृष्टि से ही उपयुक्त मानते हैं। उनके अनुसार चेतन आत्मा से अभिन्न ऐसे ज्ञान और सुख का चेतनत्वेन अभेद हो सकता है, परन्तु पर्यायनय की अपेक्षा से ज्ञान और सुख ऐसे दो अत्यन्त भिन्न पर्याय एक ही आत्मा के हैं। अतएव ज्ञान और सुख का ऐकान्तिकतादात्म्य नहीं। सुख आह्लादनाकार है और ज्ञान मेय-बोधनरूप है। सुख होता है सद्वेद्य नामक अदृष्ट के उदय से और ज्ञान होता है ज्ञानावरणी आदि कर्मों के क्षयोपशमादि से। यह भी नियम नहीं कि अभिन्न कारणजन्य होने से ज्ञान और सुख अभिन्न ही हैं, क्योंकि कुम्भादि के भंग से उत्पन्न होने वाले शब्द और कपालखण्ड में किसी भी प्रकार से ऐक्य नहीं देखा जाता।[३] आत्मा ही उपादान कारण है, और वही ज्ञान और सुख रूप से परिणत होता है। अतएव ज्ञान और सुख का कथंचित् भेद होने पर भी आत्मा से उन दोनों का अत्यन्त भेद नहीं है। सांख्यों ने सुखादि को प्रकृति का परिणाम माना है, अतएव अचेतन भी। किन्तु जैन-बौद्ध समान रूप से सुखादि को चैतन्य रूप से ही सिद्ध करते हैं और स्वसंविदित भी।[४]

योगाचार में विपरीत ज्ञान को आत्मख्याति माना है। उसका कहना है कि "सीप में यह चांदी है" ऐसा जो प्रतिभास होता है, वह ज्ञान का ही आकार है, जो अविद्या वासना के बल से बाहर प्रतिभासित होता है। अतः इसे आत्मख्याति कहा जा सकता है। इस दृष्टि से पृथक्जनों के सब व्यवहार वासनामूलक होने से परमार्थतः मिथ्या हैं।[५] परन्तु जैन दार्शनिक इसका खण्डन करते हैं कि यह आत्मख्याति तभी मानी जा सकती

१. त्रिंशिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, पृ० १५४

२. प्रमाणवार्तिक, २-२५१

३. अष्टसहस्री, पृ० ७८, न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० १२६; स्याद्वादरत्नाकर पृ० १७८

४. न्यायावतार वा० वृत्ति, पृ- २०; प्रमाणवार्तिक, २-२३८, तत्त्वसं०- ३६, त्रिंशिका विज्ञप्ति, पृ० १५५; अष्टसहस्री पृ० ७८

५. प्रमाणवार्तिक, २-३३६; त्रिंशिका विज्ञप्ति० पृ० १७४

है जब यह सिद्ध हो जाये कि ज्ञान अपने स्वरूप में ही निष्ठ होता है और अर्थ का आकार धारण करता है पर यह सिद्ध नहीं होता। यदि सभी ज्ञान अपने आकार मात्र को ग्रहण करते हैं तो उनमें भ्रान्त-अभ्रान्त का भेद तथा बाध्य-बाधकपना नहीं बनता।[१] विज्ञानवादियों की आत्मख्याति और ब्रह्माद्वैतवादियों की अनिर्वचनीयख्याति में कोई विशेष भेद नहीं है। दोनों बाह्य वस्तु को न सत् कहना चाहते हैं और न असत्। दोनों ही आन्तरिक तत्त्व का ही बाह्य रूप से प्रतिभास मानते हैं। एक उसे विज्ञान कहता है तो दूसरा उसे अविद्या। एक उसकी प्रतीति विपरीत वासना के कारण ग्राह्य-ग्राहक रूप से मानता है तो दूसरा यह मानता है कि वस्तु सत् नहीं है, किन्तु अविद्या निष्पन्न अविद्योपादानक रजत की प्रतीति होती है।[२] विज्ञानवाद में मिथ्याज्ञान का कारण इन्द्रियों की विकृति है[३] परन्तु जैनदर्शन आत्मवादी होने के कारण प्रमाता को ही भ्रम का निमित्त मानता है। सभी दोष मिलकर मोहावस्था के कारण प्रभाता को ही विकृत कर देते हैं और फिर उसे भ्रान्तज्ञान पैदा होता है[४] पर वह भी किसी सीमा तक प्रमाण है। इन्द्रियदोषजन्य चन्द्रद्वय दर्शन में संख्या के विषय में विसंवाद होने के कारण संख्या ज्ञान अप्रमाण है अवश्य, पर चन्द्र के स्वरूपांश में तत्त्वज्ञान (सम्यग्ज्ञान) अविसंवाद ज्ञान होने से उस अंश में वह ज्ञान प्रमाण ही है। अतएव कोई भी भ्रम एकान्ततः भ्रम नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः स्वपर-प्रकाशवादी जैन-बौद्ध दृष्टि से सभी भ्रमज्ञान स्वपरसंवेदी है। अतः वे स्वांश में प्रमाण और परांश में अप्रमाण हैं।[५]

दार्शनिक क्षेत्र में कार्यकारणाभाव के संदर्भ में शक्ति की कल्पना की गई है। वह वस्तु का एक सामर्थ्य है। जैसे- घट के निर्माण में मृत्तिका एक सामर्थ्य है, बीज है, शक्ति है। अद्वैतवादियों में कार्यकारणभाव व्यावहारिक सत्य है, पारमार्थिकसत्य नहीं। बाह्यार्थवादियों के मत में कार्यकारणभाव पारमार्थिक सत्य है। माध्यमिक बौद्धों ने भावों में उत्पादादिधर्म शून्य होने के कारण कार्यकारण भाव को कोई स्थान नहीं दिया। अनादिकाल से चली आ रही अविद्या वासना के कारण सभी व्यवहार वहां निपट जाते हैं।[६] विज्ञानवाद में इसी वासना को शक्ति विशिष्ट आलयविज्ञान नाम दिया है, जो

---

१. न्यायकुमुदचंद्र पृ० ६१; प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ४६-५०
२. ब्रह्मसूत्र, १ १ १, भामती, १.१.१.; प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ०- ५१
३ न्यायविनिश्चय टीका, पृ० १७
४. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० २५०
५. अष्टशती का० १०१, अष्टसहस्री, पृ० २७६; तत्वार्थश्लोक० पृ० १७०; प्रमाणवार्तिकालंकार, पृ० ४१
६. न स्वतो नापि पतः न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन्।। माध्यमिक का० १

चक्षुर्विज्ञान आदि का निमित्त होता है।[1] जैनदर्शन में अर्थपर्याय ही शक्ति के नाम से व्यवहृत है। वस्तु की अनीन्द्रिय पर्याय अर्थपर्याय और स्थूल पर्याय व्यञ्जनपर्याय है। वह द्रव्य रूप से नित्य और पर्यायरूप से अनित्य है।[2] बौद्धदर्शन में शक्ति पदार्थ का स्वभाव होने से अप्रत्यक्ष नहीं है।[3] जैनदर्शन इसे अनेकान्तात्मक दृष्टि से विचारकर शक्ति को द्रव्य रूप से प्रत्यक्ष और पर्याय रूप से अप्रत्यक्ष मानता है।[4]

वसुबन्धु ने विज्ञानाद्वैतवाद को सिद्ध करने के संदर्भ में बाह्यार्थ का निराकरण किया है। बाह्यार्थ के विषय में उन्होंने तीन विकल्प रखे हैं–न वह एक है अर्थात् अवयवी है, न वह परमाणुवक्षः अनेक है और न वह संहति रूप है क्योंकि परमाणु सिद्ध ही नहीं होता।[5]

वैशेषिकों द्वारा मान्य अवयवी के संदर्भ में उठाये इन तीनों पक्षों का खण्डन किया और उसे परमाणुपुञ्ज माना। यह परमाणुपुञ्ज या संचित तत्त्व विज्ञानवाद की दृष्टि में अवयवों से कोई भिन्न नहीं है, क्योंकि उन अवयवों को हटाने पर कोई संचिताकार विज्ञान उत्पन्न नहीं होता इसलिए संचित की द्रव्यतः कोई सत्ता सिद्ध नहीं होती।[6]

जैनों के अनुसार अवयवी नियमतः कार्य हो यह आवश्यक नहीं। आकाश, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय- ये द्रव्य नित्य होते हुए भी सावयव हैं। घट-पटादि पुद्गल स्कन्ध अनित्य होते हुए भी सावयव हैं। जैन और बौद्धमत में यह भेद है कि परमाणुपुञ्ज से अतिरिक्त स्कन्ध की स्वतंत्र सत्ता बौद्ध के मत से नहीं है। जैनदर्शन में पुद्गल द्रव्य अणुरूप भी है और स्कन्ध रूप भी है।[7] वहां अवयव-अवयवी का भेदाभेद है अर्थात् कथंचित् तादात्म्य है।[8] बौद्ध क्षणिकवादी हैं अतः उन्हें यह मत स्वीकार्य नहीं।

इतना स्पष्ट करने के बाद यह तथ्य स्थापित हो जाता है कि बौद्धों की चित्त संतति में चित्तक्षण एकान्त क्षणिक है। क्षणिक चित्तों का उत्तरोत्तर उत्पाद निरन्तर

१. त्रिंशिका विज्ञप्तिता, पृ० २७०
२. स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ३०६
३. तत्त्वसंग्रह, का० १६०७
४. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० ६०
५. विंशतिका विज्ञप्ति० का०११
६. त्रिंशिका विज्ञप्ति०, पृ० १०७
७. अणवः स्कन्धाश्च, तत्वार्थसूत्र, ५-२५
८. तत्त्वार्थश्लोक पृ० १२२

होता रहता है और सादृश्य में एकत्व का भ्रम हो जाता है। यह संतति या सन्तान एक वस्तु नहीं, किन्तु काल्पनिक है, अवस्तु है। सन्तान की घटना प्रतीत्यसमुत्पाद पर अवलम्बित रहती है। क्षणिकवाद में यह कारणकार्य व्यवस्था बन नहीं पाती। वस्तुभूत एकत्व का अपलाप करने से सन्तान की घटना भी नहीं हो सकती।[१] बौद्धदर्शन में सत्त्व और क्षणिकत्व के बीच अविनाभाव संबंध माना है। तदनुसार संस्कृत-असंस्कृत सभी पदार्थ क्षणिक हैं। क्षणिक का अर्थ है- वस्तु का जो स्वरूप उत्पत्ति के बाद अस्थायी है वह क्षण है और वह क्षण जिसके होगा वह क्षणिक है।[२] क्षणिकवाद का यह विकसित रूप है। प्रारंभिक बौद्धधर्म में संस्कृत के तीन लक्षण निर्दिष्ट हैं- उत्पाद, व्यय और स्थिति का अन्यथात्व। ये तीनों एककालिक नहीं; भिन्नकालिक हैं। पहले उत्पत्ति फिर जरा और फिर विनाश, इस क्रम से वस्तु में अनित्यता-क्षणिकता सिद्ध है।[३] उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के तीन क्षण भिन्न होते हैं। यह चित्त की आयु के संदर्भ में अभिधम्मत्थ संगहो में कहा है अर्थात् चित्तक्षण क्षणिक है। वह तीन क्षणों तक रहता है। यह क्षणिकता चित्त-नाम के साथ ही नहीं बल्कि रूपभौतिक पदार्थ के साथ भी है। वह वस्तु सत् है। उसकी आयु सत्रह क्षण मानी गई है। ये सत्रह क्षण चित्तक्षण हैं अर्थात् एक चित्तक्षण= तीन क्षण होने से ५१ क्षण की आयु रूप भी मानी गई है।[४] अतः इस क्षणिकता में और योगाचार सम्मत क्षणिकता में अन्तर महत्त्वपूर्ण है।

आलयविज्ञान में ५१ चैत्तसिकों में से मात्र ५ सर्वत्रग (स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा और चेतना) चैतसिक ही संप्रयुक्त होते हैं। एक ही आलयविज्ञान संसार की समाप्ति तक प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि वह क्षणिक होता है। आलयविज्ञान की धारा (सन्तति) में अनेक क्षण होते हैं। प्रत्येक क्षण अपने समय में ही विद्यमान रहता है और दूसरे क्षण में विनष्ट हो जाता है। वह पूर्वापर क्षणों का कार्यकारण रूप से निरन्तर प्रवृत्त होते हुए धारावाहिक रूप से संसार समाप्ति पर्यन्त प्रवृत्त होता है। इसी धारावाहिकता के संदर्भ में ही कदाचित् लंकावतार सूत्र में आलयविज्ञान को स्थिर विज्ञान कह दिया है।

योगाचार-विज्ञानवाद से पूर्ववर्ती सर्वास्तिवाद में सत् की व्याप्ति त्रैकालिक

---

१. आप्तमीमांसा, का० २६

२. उत्पादानन्तरस्थायि स्वरूपं यच्च वस्तुनः
तदुच्यते क्षणः सोस्ति यस्य तत् क्षणिकं मतम्। तत्त्वसंग्रह, ३८८

३. अंगुत्तरनिकाय, तिकनिपात

४. अभिधम्मत्थसंगहो, ४.८

अस्तित्व से है अर्थात् वस्तु की विभिन्न अवस्थायें ही अनित्य हैं, क्षणिक हैं। वस्तु तो त्रिकालवर्ति होने के कारण नित्य है। सर्वास्तिवादियों ने रूप परमाणु को नित्य मानकर उसी में पृथ्वी, अप्, तेज और वायु रूप होने की शक्ति मानी है। सर्वास्तिवाद का यह परमाणु समुदायवाद सांख्यों के प्रकृति-परिणामवाद से जैनों के द्रव्यपर्यायवाद से और मीमांसकों के अवस्था-अवस्थातावाद से जितना अधिक समीप है, उतना ही अधिक दूर वह योगाचार के क्षणिकैकान्तवाद से है।

आचार्य अश्वघोष ने इस सिद्धान्त को भूततथतावाद के रूप में प्रस्थापित किया है।[1] तदनुसार इस सिद्धान्त के दो रूप हैं- पारमार्थिक और सांवृतिक-व्यावहारिक। पारमार्थिक भूततथता विश्व का परमतत्त्व है और व्यावहारिक भूततथता संसार अर्थात् जन्म-मृत्यु के रूप में। जैनदर्शन की दृष्टि से नैश्चयिक आत्मा की तुलना पारमार्थिक भूततथता के साथ की जा सकती है। आचार्य कुंदकुंद ने इसे सत् कहा है। अन्तर यह है कि जैनों ने नैश्चयिक आत्मा को एक मात्र परमतत्त्व नहीं माना है। उसके अतिरिक्त एक अजीवत्त्व भी है।

भूततथता के व्यावहारिक रूप के तीन रूप हैं- द्रव्य, गुण और क्रिया। गुण और क्रिया (भाव और पर्याय) उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त होते हैं, किन्तु द्रव्य ध्रुवभावी है।[2] यह रूप जैनों के व्यावहारिक आत्मा के रूप से तथा सांख्यों के प्रपञ्च से मिलता-जुलता है। भूततथतावाद का परमतत्त्व सांख्यों की प्रकृति के समान और जैनों के सामान्य द्रव्य के समान नित्य है।

जैनदर्शनों में प्रमेय दो हैं- प्रत्यक्ष और परोक्ष। अतः प्रमाण भी दो हैं- प्रत्यक्ष और परोक्ष। बौद्धदर्शन दो तत्त्वों को मानता है-एक स्वलक्षण और दूसरा सामान्य लक्षण। स्वलक्षण प्रत्यक्ष का विषय है और सामान्य लक्षण अनुमान का विषय है। वस्तु का असाधारण तत्त्व अथवा परमार्थ सत् स्वलक्षण है तथा सामान्य काल्पनिक है, परतन्त्र है। सामान्य की स्वतंत्र सत्ता न होने से वस्तुतः प्रमेय एक ही है और वह स्वलक्षण ही है। उसी से अर्थक्रिया की सिद्धि होती है।[3] विज्ञानवाद में सभी पदार्थ स्वभावतः स्वतन्त्रतः सत् हैं, स्वलक्षणात्मक है। यद्यपि विज्ञान तथा वासना के बिना पदार्थों की सत्ता हो नहीं सकती, तथापि उससे पदार्थों की स्वलक्षण सत्ता में कोई बाधा नहीं पहुंचती इसलिए विज्ञानवादी यह कभी नहीं कहते कि सभी पदार्थ कल्पित हैं।

१. देखिये-महाकवि का शुद्धोत्पादशास्त्र जिसका अंग्रेजी अनुवाद "Awakening of Faith" के नाम से परमार्थ और शिक्षानन्द के चीनी अनुवाद के आधार पर प्रो. सुजुकी ने किया है। मूल संस्कृत ग्रन्थ अप्राप्य है

२. वही, पृ० २५४

३. प्रमाणवार्तिक, २/५१-५४

उन्होंने पदार्थों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है- परिकल्पित लक्षण, परतन्त्रलक्षण और परिनिष्पन्न लक्षण।[1]

जैन दार्शनिकों ने भी वस्तुतः प्रमेय एक ही माना है और वह है द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु।[2] प्रमाता की नाना प्रकार की शक्ति या योग्यता के कारण ही नाना प्रकार का ज्ञान होता है।[3] धर्मकीर्ति ने प्रमेय को एक माना और प्रतीति के आधार पर स्व और पर रूप से उसके दो प्रकार सिद्ध किये। उसी प्रकार जैन दार्शनिकों ने भी द्रव्यपर्यायात्मक एक वस्तु को ही प्रमेय मानकर सामग्री के भेद से उसी की विशद और अविशद रूप से होने वाली प्रतीति के आधार पर उसे प्रत्यक्ष और परोक्ष कहा है। जैनों का प्रत्यक्ष प्रमेय धर्मकीर्ति का स्वलक्षण है और विज्ञानवाद का भी और परोक्ष प्रमेय सामान्य लक्षण है। दोनों में अन्तर यह है कि बौद्ध दार्शनिक सामान्य को अवस्तुभूत मानते हैं, पर जैन सामान्य को वस्तुभूत स्वीकार करते हैं। जैन दार्शनिक वस्तु को द्रव्यपर्यायात्मक मानते हैं पर धर्मकीर्ति इसके पक्ष में नहीं है। वे एकान्तवाद की ओर झुकते दिखाई देते हैं। जैन वस्तु के परारूप को अपेक्षित होते हुए भी वास्तविक मानते हैं, पर बौद्ध उसे वासनाजन्य कल्पित स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार संक्षेप में आलयविज्ञान और उससे सम्बद्ध तत्त्वों पर जैन दर्शन की दृष्टि से विचार किया और यह देखा कि किस प्रकार वे जैन दार्शनिक तत्त्वों के साथ साम्य और वैषम्य रखते हैं। साथ ही यह भी समझने का प्रयत्न किया कि समूचे विज्ञानवाद को अकलंक और उनके टीकाकारों ने किस प्रकार समझा। वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि बौद्ध दार्शनिकों ने अकलंक आदि जैन दार्शनिकों को समग्र रूप से काफी प्रभावित किया है। इस विषय पर स्वतंत्र रूप से शोध किया जाना चाहिए।



१. त्रिंशिका विज्ञप्ति०, पृ० १०१
२. अनेकान्तात्मकं वस्तु गोचर सर्वसंविदाम, न्यायावतार, का० २६; लघीयस्त्रय-७
३. लघीयस्त्रय, का० ५७, अष्टशाती, पृ० २६-३०; प्रमेयकमलमार्तण्ड २।३

भट्टाकलंकदेव का उत्तरवर्ती आचार्यों पर प्रभाव

डा० प्रकाशचन्द्र जैन*

श्रीमद् भट्टाकलंकदेव को यदि जैनन्याय का प्रतिष्ठापक कहा जाए तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। श्रीमदकलंकदेव ने अपने पूर्ववर्ती श्री समन्तभद्र और सिद्धसेन के प्राचीन आगम सम्बन्धी शब्दों और परिभाषाओं को दार्शनिक रूप प्रदान किया और उसके आधार पर अकलंकन्याय की स्थापना की। यद्यपि जैनशास्त्रों की दीर्घ परम्परा में सम्बन्धी चर्चाएं यत्र-तत्र बिखरी हुई थीं, परन्तु उनको व्यवस्थित और भेद-प्रभेद सम्पन्न स्वरूप प्रदान करने का बहुत कुछ श्रेय श्रीमदकलंकदेव को ही दिया जा सकता है। बौद्धदर्शन में धर्मकीर्ति, मीमांसादर्शन में कुमारिलभट्ट, प्रभाकर दर्शन में प्रभाकर मिश्र, न्यायवैशेषिक में उद्योतकर और वेदान्त में जो स्थान शंकराचार्य को प्राप्त है, वही स्थान जैनन्याय में श्री अकलंकदेव को प्राप्त है।

ईसा की सप्तम, अष्टम और नवम शताब्दियाँ, मध्यकालीन दार्शनिक इतिहास की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और क्रान्तिकारी शताब्दियां थीं। इन शताब्दियों में भिन्न-भिन्न दर्शनों ने अपने दर्शनों को विरोधियों की आलोचना से बचाने के साथ-साथ अन्य दर्शनों पर विजय प्राप्त करने के लिए भी अभियान भी चलाए। इन शताब्दियों में बड़े-बड़े दार्शनिक शास्त्रार्थ भी हुए और सभी ने अपनी यशोगाथाओं का जी भर कर नगाड़ा पीटा। इस युग की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि दार्शनिक आचार्यों ने अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन की अपेक्षा परपक्ष के खण्डन पर ही विशेष बल दिया था।

इसी युग में जैन विद्वान् भट्टाकलंकदेव ने जैनन्याय के ऐसे अभेद्य दुर्ग का निर्माण किया था जो कि निरन्तर पर दार्शनिकों के खण्डन प्रहारों को सहन करता हुआ भी आज तक पूर्णतया सुरक्षित है। उत्तरवर्ती शिलालेखों और ग्रन्थकारों के उल्लेखों में भट्टाकलंकदेव की यशोगाथाएं अमरत्व को प्राप्त किए हुए हैं। भट्टाकलंक देव एक सत्तर्क कुशल सकल समयवेत्ता आचार्य थे। उनके सैद्धान्तिक वैदुष्य, अनेकान्त दृष्टि, स्याद्वाद भाषा और तर्क नैगुण्य के दर्शन उनके ग्रन्थों में सर्वत्र प्राप्त हैं।

---

* समन्तभद्र संस्कृत महाविद्यालय, दरियागंज, दिल्ली

अकलंकदेव एक बहुगुणी प्रतिभा सम्पन्न आचार्य थे। इन्होंने तत्त्वार्थवार्तिक और अष्टशती -ये दो ग्रन्थ टीका ग्रन्थ के रूप में और लघीयस्त्रय सवृत्ति, न्याय विनिश्चय सवृत्ति, प्रमाण संग्रह और सिद्धि विनिश्चय सवृत्ति इस प्रकार इन चार स्वतंत्र ग्रन्थों की रचना की है।

भट्टाकलंकदेव ने जैनन्याय के विषय में जिन विचारों और व्यवस्थाओं का प्रतिपादन किया था प्रायः सभी उत्तरवर्ती दिगम्बर और श्वेताम्बर सभी दार्शनिक आचार्यों ने पूर्णतया स्वीकार किया है। उनके दार्शनिक विचारों को प्रामाणिक आधार मानकर सभी उत्तवर्ती ग्रन्थकारों ने अपने न्याय-ग्रन्थों की रचना की है। केवल शान्तिसूरि और मलयगिरि आचार्य ने उनके विचारों से अपना मतभेद प्रकट किया है।

अजैन ग्रन्थों में अकलंकदेव का उल्लेख केवल एक बार हुआ। दुर्वेक मिश्र ने अपने धर्मोत्तर प्रदीप के पृष्ठ २४६ पर अकलंकदेव के नाम से सिद्धिविनिश्चय का उद्धरण दिया है।

अकलंक के उत्तरवर्ती जैननाचार्यों पर उनका महान् प्रभाव पड़ा। उन्होंने अपने ग्रन्थों में अकलंक का बड़े आदर के साथ उल्लेख किया, अपने ग्रन्थों में प्रमाण रूप में उनके उद्धरण उल्लिखित किये और उनकी आलोचना की हैं।

अकलंकदेव से प्रभावित कतिपय आचार्य

धनंजय कवि :

धनंजय कवि आठवीं सदी के आचार्य हैं। इन्होंने द्विसन्धान महाकाव्य और नाममालाकोश लिखा है। इन्होंने अपनी नाममाला के अन्त में आचार्य अकलंकदेव का उल्लेख करते हुए-

प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
धनंजयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्।।

लिखकर अकलंक के प्रमाण शास्त्र की प्रशंसा की।

वीरसेनचार्य :

आचार्य वीरसेन षट्खण्डागम की धवला टीका तथा कषायपाहुड की जय धवला टीका के रचयिता हैं। इन्होंने अकलंकदेव का उल्लेख पूज्यपाद भट्टारक के नाम से तथा उनके तत्त्वार्थवार्तिक का तत्त्वार्थभाष्य के नाम से इस प्रकार किया है-

"पूज्यपादभट्टारकैरप्यभाणि सामान्यनय-लक्षणमिदमेव
दद्यत्था प्रमाणप्रकाशितार्थप्ररूपको नयः" (धवला टीका- पृं० ७००)

"प्रमाणप्रकाशितार्थप्ररूपको नयः। अयं वाक्यनयः तत्त्वार्थभाष्यगतः।"- जय ध० प्रथम भाग, पृ० २१०।

नय का यह लक्षण तत्त्वार्थवार्तिक (१/३३) का है।

इन्होंने धवला टीका में सिद्धिविनिश्चय का भी यह अवतरण लिया है-

सिद्धिविनिश्चये उक्तम्- "अवधि विभंगयोरवधिदर्शनमेव"

'धवला टीका' वर्गणा खण्ड, पु० १३, पृ० ३५६।

किन्तु यह वाक्य प्रस्तुत सिद्धिविनिश्चय में नहीं मिला।

श्रीपाल :

श्रीपाल वीरसेन के शिष्य थे। ये जिनसेन के सधर्मा और गुरुभाई थे। इन्होंने अपनी बाल्यावस्था में अकलंक के दर्शन अवश्य किए होंगे। तत्त्वार्थभाष्य के परिशीलनकर्त्ता भी अवश्य रहे होंगे।

जिनसेन :

महापुराण आदि के रचयिता जिनसेन वीरसेन के साक्षात् शिष्य थे। इन्होंने अकलंक के निर्मल गुणों का स्मरण किया है। इनका समय ई० ७६३-८४३ है। ये अपनी बाल्यावस्था में अकलंक के दर्शन कर सकते हैं।

कुमारसेन :

जिनसेन के हरिवंशपुराण (शक सं० ७०५, ई० ७८३) में कुमारसेन का स्मरण इन शब्दों को किया है-

आकूयारं यशो लोके प्रभाचन्द्रोदयोज्ज्वलम्।
गुरोः कुमारसेनस्य विचरत्याजितात्मकम्।।

देवसेन के कथनानुसार वीरसेन के शिष्य विनयसेन, उनके शिष्य कुमारसेन ने काष्ठासंघ की स्थापना की थी। विनयसेन की प्रेरणा से जिनसेन ने पार्श्वाभ्युदय की रचना की थी।

आचार्य विद्यानन्द अपनी अष्टसहस्री को कुमारसेन की उक्तियों से वर्धमान बताते हैं। मल्लिषेण प्रशस्ति में अकलंकदेव से पहिले और सुमातिदेव के बाद एक कुमारसेन का उल्लेख इस प्रकार किया गया है-

उदेत्य सम्यग्दिशि दक्षिणस्यां कुमारसेनो मुनिरस्तमापत्।
तत्रैव चित्रं जगदेकभानोस्तिष्ठत्यसौ तस्य तथा प्रकाशः।।

अतः अकलंक के पूर्व में उल्लिखित कुमारसेन का समय भी अन्ततः ई० ७२०-८०० सिद्ध होता है। इनके अन्तिम समय में विद्यानन्द इनकी उक्तियों को सुन

सकते हैं और उनसे अष्सहस्री को पुष्ट कर सकते हैं और ये हरिवंश पुराण (ई० ७८३) में स्मृत हो सकते हैं। ये अकलंक के पूर्व समकालीन होकर भी अकलंक की अष्टशती के द्रष्टा अवश्य रहे हैं, तभी इनकी उक्तियों से विद्यानन्द की अष्टसहस्री परिपुष्ट हो सकती है।

कुमारनन्दि

इनका उल्लेख विद्यानन्द ने अपनी प्रमाण परीक्षा में किया है। तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिक (पृ० २८०) में इनके वादन्याय ग्रन्थ का उल्लेख कुमारनन्दि नाम के साथ किया गया है। यथा–

कुमारनन्दिनश्चाहुर्वादन्यायविचक्षणाः।

पत्र-परीक्षा (पृ० ३) में कुमारनन्दिभट्टारकैः स्ववादन्याये निगदितत्वात्' लिखकर–

प्रतिपाद्यानुरोधेन प्रयोगेषु पुनर्यथा।
प्रतिज्ञा प्रोच्यते तज्ज्ञैः तथोदाहरणादिकम्।।
न चैव साधनस्येकलक्षणत्वं विरुध्यते।
हेतुलक्षणता पायादन्याशस्य तथोदितम्।।
अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिङ्गमङ्ग्यते।
प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः।।

ये तीन श्लोक उद्धृत किए हैं।

'गंगवंश के पृथ्वीकोंगणि महाराज के एक प्रदानपत्र' (शक सं० ६६८, ई०७७६) में चन्द्रनन्दि को दिये गये दान का उल्लेख है। इस दानपत्र में कुमारनन्दि की गुरु परम्परा दी है। अतः इनका समय ई० ७७६ के आसपास सिद्ध होने से ये भी अकलंक के समकालीन हैं। इनके वादन्याय पर सिद्धिविनिश्चय के जल्पसिद्धि प्रकरण का प्रभाव इसलिए माना जा सकता है कि इनके नाम से उद्धृत श्लोकों में अकलंक-न्याय की पूरी-पूरी छाप है।

आ० विद्यानन्द :

ये अकलंक की अष्टशती के व्याख्याकार हैं। आप्तपरीक्षा की प्रस्तावना में पश्चिमी गंगवंशी नरेश श्री पुरुष के उत्तराधिकारी शियमार द्वितीय (ई० ८१०) का तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक की प्रशस्ति में उल्लेख देखकर इनकी ग्रन्थ रचना का समय इस प्रकार दिया गया है- "विद्यानन्द महोदय और तत्त्वार्थलोकवार्तिक शिवमार द्वितीय के समय (ई० ८१०) आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा और युक्त्यनुशासनालङ्कृति- ये तीनं कृतियाँ राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (ई० ८१६-८३०) के राज्यकाल में बनी है क्योंकि

इनमें उसका उल्लेख है। अष्टसहस्री श्लोकवार्तिक के बाद की तथा आप्तपरीक्षा आदि के पूर्व की रचना है। यह करीब ई० ८१०-८१५ में रची गई होगी तथा पत्रपरीक्षा, श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र और सत्यशासनपरीक्षा- ये तीन रचनाएं ई० ८३०-८४० में रची ज्ञात होती हैं। इससे भी आ० विद्यानन्द का समय पूर्वोक्त ई० ७७५-८४० प्रमाणित हैं।"

विद्यानन्द ने विद्यानन्दमहोदय के बाद तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ई० ८१० में बनाया है। उन्होंने अपनी प्रौढ़ अवस्था में ग्रन्थ रचना प्रारम्भ की होगी। यदि विद्यानन्द का जन्म ई० ७६० में मान लिया जाए तो ये अपनी ४० वर्ष की अवस्था में ग्रन्थ रचना प्रारम्भ कर सकते हैं। ऐसी दशा में इन्हें भी कुमारसेन की तरह अकलंक के उत्तरसमकालीन होने का सौभाग्य प्राप्त हो सकता है।

विद्यानन्द ने अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, प्रमाण परीक्षा, पत्र परीक्षा नय विवरण और सत्यशासन परीक्षा आदि सभी ग्रन्थों में अकलंक के लघीयस्त्रय की कारिकाएं उद्धृत की हैं। सिद्धिविनिश्चय और न्यायविनिश्चय के श्लोक भी इसी तरह प्रमाण रूप में उद्धृत हैं। इन्होंने अकलंक वाङ्मय को खूब मांजा और उसके गूढ़ रत्नों को अपनी प्रज्ञाशाण पर रखकर चमकाया है।

शीलांकाचार्य :

आगमों के आद्यटीकाकार शीलांकाचार्य ने वि० ९२५ (ई० ८६८) में चउप्पन्न महापुरिस चरिउ समाप्त किया था। ये आगमों के प्रसिद्ध टीकाकार हैं। इन्होंने सूत्रकृतांगटीका में लघीयस्त्रय से दो श्लोक उद्धृत किये हैं।

अभयदेव सूरि :

वादमहार्णवकार तर्कपंचानन अभयेदवसूरि (ई० १०वीं सदी) ने सन्मतितर्कटीका में लघीयस्त्रय की कारिकाएं तथा उसकी स्ववृत्ति उद्धृत की है और उनकी प्रमाण व्यवस्था का समर्थन किया है।

सोमदेवसूरि :

सुप्रसिद्ध बहुश्रुत साहित्यकार आचार्य सोमदेवसूरि (ई० १०वीं सदी) ने यशस्तिलकचम्पू उत्तरार्ध में सिद्धिविनिश्चय का 'आत्मलाभं विदुर्मोक्षम्' श्लोक उद्धृत किया है।

अनन्तकीर्ति :

आचार्य अनन्तकीर्ति (ई० १० सदी) ने अपनी लघुसर्वज्ञसिद्धि प्रकरण में सिद्धिविनिश्चय का दश हस्तान्तरं श्लोक उद्धृत किया है और उनके वाङ्मय की

युक्तियों से इस प्रकरण को समृद्ध किया है।

माणिक्यनन्दि :

सूत्रकार माणिक्यनन्दि प्रभाचन्द्र के गुरु थे। इनका समय ई० ९९३-१०५३ है। इन्होंने अकलंक वचो अम्भोधि से न्याय विद्यामृतका उद्धार करके ही परीक्षामुखसूत्र रचा है। विशेष वितरण के लिए परीक्षामुख सूत्रों की तुलना में न्यायविनिश्चय और लघीयस्त्रय आदि ग्रन्थों के अवतरण देखना चाहिए।

शान्तिसूरि :

वार्तिककार आचार्य शान्तिसूरि (ई० ९९३-१०४७) ने जैन तर्क वार्तिक में न्यायविनिश्चय के भेद-ज्ञानात् श्लोक को तथा सिद्धिविनिश्चय के असिद्धः सिद्धसेनस्य श्लोक को थोड़े परिवर्तन के साथ ले लिया है। इन्होंने अकलंक के त्रिधा श्रुतमविप्लवम् इस प्रमाण संग्रहीय मत की आलोचना की है (शेष के लिए देखो न्यायावतारसूत्र वार्तिक तुलना में न्यायविनिश्चय और लधीयस्त्रय के अवतरण)।

वादिराज :

स्याद्वाद विद्यापति वादिराज (ई० १०२५) न्यायविनिश्चय के प्रख्यात विवरणकार हैं। ये अकलंक वाङ्मय के गंभीर अभ्यासी रहे हैं और इन्होंने न्यायविनिश्चय विवरण में श्लोकों के चार-पांच अर्थ तक किये है। गूढ़ार्थ अकलंक वाङ्मय रूपी रत्नों को अगाध भूमि से इन्होंने अनन्तवीर्य के वचनदीप की सहायता से खोजा और पाया था। इन्होंने अकलंक के समग्र वाङ्मय से उद्धरण लिये हैं तथा उनकी स्थापित प्रमाण पद्धतिका समर्थन किया है।

प्रभाचन्द्र :

सुप्रसिद्ध टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्र (ई० ९८०-१०६५) में अकलंकदेव के लघीयस्त्रय पर लघीयस्त्रयालंकार न्यायकुमुदचन्द्र नाम की १८ हजार श्लोक प्रमाण टीका रची है। इन्होंने अकलंक न्याय का अनन्तवीर्य की उक्तियों से शतशः अभ्यास और विवेचन किया है। इनके सुप्रसिद्ध न्यायकुमुदचन्द्र नाम के टीकाग्रन्थ और प्रमेयकमलमार्तण्ड में अकलंक वाङ्मय आधारभूत दीपस्तम्भ रहा है। इन्होंने अकलंक के चरणों में अपनी श्रद्धांजलि बड़ी विनम्रता से चढ़ाई है। इनकी आत्मानुशासन तिलक टीका में न्यायविनिश्चय का 'भेदज्ञानात् प्रतीयेते' श्लोक उद्धृत है।

अनन्तवीर्य :

प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्य (ई ११ वीं सदी) ने प्रभाचन्द्र के प्रमेयकमलमार्तण्ड के अनन्तर अकलंकवाङ्मयोद्धृत परीक्षामुख पर प्रमेयरत्नमाला टीका बनाई है। इन्होंने

प्रमेयरत्नमाला (३१५) में लघीयस्त्रय तथा न्यायविनिश्चय को उद्धृत किया है। इन्होंने अकलंकोक्त न्याय का श्रद्धापूर्वक समर्थन किया है।

वादिदेवसूरि :

स्याद्वादरत्नाकरकार वादिदेवसूरि (ई० १०८६-११३०) ने अकलंक वचनाम्भोधि से उद्धृत परीक्षामुख सूत्र के आधार से प्रमाण-नयतत्त्वालोकालंकार की रचना की है तथा उसकी स्याद्वादरत्नाकर टीका भी स्वयं ही लिखी है। इनके प्रमाणनयतत्त्वा लोकालंकार में लघीस्त्रत स्ववृत्ति के वाक्य उनकी शोभा बढ़ा रहे हैं। स्याद्वादरत्नाकर में इन्होंने अकलंक के सिद्धिविनिश्चय का एक वाक्य उद्धृत किया है। इन्होंने अकलंक और अकलंक के टीकाकारों के वाक्य-रत्नों से रत्नाकर की खूब वृद्धि की है। इन्होंने अकलंक न्याय की मूल व्यवस्थाओं को स्वीकार करके हेतु के भेद-प्रभेद आदि में उसका विस्तार भी किया है।

हेमचन्द्र -

कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरि (ई० १०८८-११७३) को अकलंकवाङ्मय में सिद्धिविनिश्चय बहुत प्रिय था। इसमें से उन्होंने प्रमाणमीमांसा में दो श्लोक उद्धृत किये हैं। अकलंकदेव के द्वारा प्रतिष्ठापित अकलंक न्याय के ये समर्थक और विवेचक थे।

मलयगिरि :

सुप्रसिद्ध आगम-टीकाकार आ० मलयगिरि (ई० ११वीं १२वीं सदी) हेमचन्द्र के सहबिहारी थे। इन्होंने आवश्यकनिर्युक्ति टीका में अकलंकदेव के नय वाक्य में भी स्यात् पद का प्रयोग करना चाहिए, इस सिद्धान्त से असहमति प्रकट की है। इसी प्रसंग में उन्होंने लघीयस्त्रय वृत्ति से 'नयोऽपि तशैव सम्यगेकान्त विषयः स्यात्' यह वाक्य उद्धृत किया है। अकलंकदेव ने प्रमाण वाक्य की तरह नय वाक्य में भी नयान्तरसापेक्षता दिखाने के लिए 'स्यात्' पद के प्रयोग की आवश्यकता बताई है। आ० मलयगिरि का कहना है कि यदि नय वाक्य में 'स्यात्' पद का प्रयोग किया जाता है तो वह 'स्यात्' पद से सूचित अन्य अशेष धर्मों' को विषय करने के कारण प्रमाण वाक्य ही हो जाएगा। इनके मत से सभी नय मिथ्यावाद है किन्तु जब अकलंकोक्त व्यवस्था का समर्थन अन्य सभी विद्यानन्द आदि आचार्यों ने किया तो उपाध्याय यशोविजयजी ने तदनुसार ही उसका उत्तर 'गुरुतत्त्व विनिश्चय' में दे दिया है कि नय वाक्य में 'स्यात्' पद का प्रयोग अन्य धर्मों का मात्र सद्भाव द्योतन करता है। उन्हें प्रकृत वाक्य का विषय नहीं बनाता। मलयगिरि द्वारा की गई यह आलोचना इन्हीं तक सीमित रही है।

चन्द्रसेन :

आ० चन्द्रसेन (ई० १२वीं सदी) ने उत्पादादि सिद्धि प्रकरण में सिद्धिविनिश्चय का 'न पश्यामः' श्लोक उद्धृत किया है।

रत्नप्रभ :

आचार्य रत्नप्रभ (ई० १२वीं) वादिदेवसूरि के ही शिष्य थे। इन्होंने अपनी रत्नकरावतारिका में अकलंकदेव के प्रति 'प्रकटितीर्थान्तरीयकलंकोऽकलंक' लिखकर बहुमान प्रकट किया है। इन्होंने उसमें लघीयस्त्रय के श्लोक भी यथास्थान उद्धृत किये हैं।

आशाधर :

प्रज्ञापुंज पं० आशाधरजी (ई० ११८८-१२५०) ने भी अकलंक वाङ्मय का पारायण किया था। इन्होंने अनगारधर्मामृतटीका और इष्टोपदेशटीका में लघीयस्त्रय का चौथा और बहत्तरवाँ श्लोक उद्धृत किया है। इनका स्याद्वादविद्या का निर्मल प्रासाद 'प्रमेयरत्नाकर' ग्रन्थ अप्राप्य है, अन्यथा इनके अकलंक वाङ्मय के अवगाहन का और भी पता लगता।

अभयचन्द्र :

अभयचन्द्रसूरि (ई० १२वीं सदी) ने अकलंकदेव के लघीयस्त्रय पर छोटी सी तात्पर्यवृत्ति रची है और भट्टाकलंक शशांक की कौमुदी से उसे समुज्ज्वल बनाया है।

देवेन्द्रसूरि :

कर्मठ ग्रन्थकार आचार्य देवेन्द्रसूरि ई० की १३वीं सदी के विद्वान् हैं। इन्होंने कर्मग्रन्थ की टीका में लघीयस्त्रय का 'मलविद्धमणि' श्लोक उद्धृत किया है।

धर्मभूषण -

न्यायदीपिकाकार धर्मभूषणयति (ई० १४वीं) ने न्यायदीपिका में लघीयस्त्रय और न्यायविनिश्चय के उद्धरण दिये हैं तथा अकलंकन्याय का दीपक किया है।

विमलदास :

विमलदासगणि ने नव्य शैली में सप्तभंगतरंगिणी ग्रन्थ लिखा है। इन्होंने 'तदुदृक्तं 'भट्टाकलंकदेवैः' के साथ यह श्लोक उद्धृत किया है।

"प्रमेयत्वादिभिः धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकः।
ज्ञानदर्शनं तस्माच्चेतनाचेतनात्मकः।।

यह श्लोक स्वरूप सम्बोधन में मूल (श्लो० ३) रूप से विद्यमान है। स्वरूप सम्बोधन ग्रन्थ रचना आदि की दृष्टि से अकलंक का तो नहीं मालूम होता। यह

महासेनकृत भी कहा जाता है। इस पर पाण्डवपुराण के कर्त्ता शुभचन्द्र ने वृत्ति लिखी थी, यह पाण्डवपुराण की प्रशस्ति से ज्ञात होता है।

विमलदासगणि ने अकलंक वाङ्मय का आलेखन किया था और सकलादेश, विकलादेश के प्रकरण में कालादि आठ दृष्टि से भेदाभेद निरूपण करके उसका पर्याप्त प्रसार किया है।

यशोविजय :

नव्यव्याययुगप्रवर्तक उपाध्याय यशोविजयजी (ई०,१७वीं सदी) अकलंक न्याय के गहरे अभ्यासी और समर्थक थे। इनके जैनतर्कभाषा, शास्त्रवार्तासमुच्चय टीका गुरुत्त्वविनिश्चय आदि ग्रन्थों में अकलंक वाङ्मय के उद्धरण तो हैं ही, गुरुतत्त्व विनिश्चय में मलयगिरिकृत अकलंक की समालोचना का सयुक्तिक उत्तर भी है। इन्होंने अष्टशती के भाष्य अष्टसहस्री पर अष्टसहस्री विवरण रचकर अकलंक न्याय को समुज्ज्वल किया है।

इनके सिवाय वादीभसिंहसूरि की स्याद्वादसिद्धि, वसुनन्दि की आप्तमीमांसावृत्ति, गुणरत्न की षड्दर्शनसमुच्चय वृहद्वृत्ति, मल्लिषेण की स्याद्वादमंजरी, भावसेन के विश्वतत्त्वप्रकाश; नरेन्द्रसेन की प्रमाणप्रमेयकलिका, अजितसेन की न्यायमणिदीपिका (प्रमेयरत्नमाला टीका) और चारुकीर्ति पंडिताचार्य के प्रमेयरत्नमालालंकार आदि में भी अकलंक न्याय के शुभ दर्शन होते हैं।



अकलंकदेव के अनुसार शुभोपयोग के स्वामी

डा० रतनचन्द्र जैन*

कुछ आधुनिक विद्वान् मानते हैं कि मिथ्यादृष्टि को शुभोपयोग नहीं होता। वह जो उपरिम ग्रैवेयक तक जाने का पुण्यबन्ध करता है, शुभयोग के द्वारा करता है, शुभोपयोग के द्वारा नहीं (मोक्षमार्ग प्रकाशक, धरियावद प्रकाशन, प्रस्तावना-सम्पादकीय, पृष्ठ १०) इस विषय में भट्ट अकलंकदेव का मत क्या है? इस पर यहाँ विचार किया जा रहा है।

मिथ्यात्वोदय की निवृत्ति शुभपरिणाम से :

भट्ट अकलंकदेव का मत है कि मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्यात्वोदय की निवृत्ति शुभपरिणाम के प्रताप से होती है। उन्होंने परिणाम, प्रणिधान और उपयोग को एकार्थक बतलाया है- 'प्रणिधानम् उपयोगः परिणामः इत्यनर्थान्तरम्' (राजवार्तिक १/१) वे मिथ्यात्वोदय की निवृत्ति के विषय में चर्चा करते हुए लिखते हैं-

"मिथ्यात्वोदयनिवृत्तिः कथमिति चेत्? उच्यते- अनादिमिथ्यादृष्टिर्भव्यः सादिमिथ्यादृष्टिर्वा प्रथमसम्यक्त्वं गृहीतुमारभमाणः शुभपरिणामाभिमुखः अन्तर्मुहूर्तमनन्तगुणवृद्ध्या वर्धमानविशुद्धिः संक्लेशविरहितः वर्धमानशुभपरिणामप्रतापेन सर्वकर्मप्रकृतीनां स्थितिं ह्रासयन् अशुभप्रकृतीनामनुभागबन्धमपसारयन् शुभप्रकृतीनां रसमुद्धर्तयन् त्रीणि करणनि कर्तुमुपक्रमते। (रा० वा० ६।१)

अर्थ- मिथ्यात्व के उदय की निवृत्ति कैसे होती है ? बतलाते हैं- अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य अथवा सादि मिथ्यादृष्टि जन प्रथम सम्यक्त्व के ग्रहण का प्रयत्न करता है तब शुभपरिणामाभिमुख होकर अन्तर्मुहूर्त में अनन्तगुणवृद्धिपूर्वक विशुद्धि को बढ़ाते हुए संक्लेश से रहित हो, बढ़ते हुए शुभपरिणामों के प्रताप से समस्त कर्मप्रकृतियों की स्थिति को घटाता हुआ, अशुभप्रकृतियों के अनुभाग का ह्रास करता हुआ तथा शुभप्रकृतियों के अनुभाग को बढ़ाता हुआ तीन करणों को प्रारम्भ करता है-

अकंलक स्वामी के इस विवेचन से सिद्ध होता है कि मिथ्यादृष्टि को शुभोपयोग होता है और उसके द्वारा ही वह मिथ्यात्व का उपशम कर प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त

---

* १३७, आराधनागनर, कोटरा, भोपाल-४६२००३

करता है।

शुभपरिणाम के प्रकर्ष से ऊपर के देवों में उत्पत्ति :

जीवों की ऊपर-ऊपर के देवों में उत्पत्ति किस कारण से होती है? इसके विषय में अकलंकदेव का कथन है–

"विशुद्धपरिणामप्रकर्षनिमित्तत्वाच्च उपर्युपर्युपपत्तेः। इह विशुद्धपरिणामभेदनिमित्तः पुण्यकर्मबन्धविकल्पः तत्पूर्वको देवेषु उपपाद इति उपर्युपरि अभिमान हानिः। कारणसदृशं हि कार्यं दृष्टमिति। तद्यथा- तैर्यग्योनेषु असंज्ञिनः पर्याप्ताः पञ्चेन्द्रियाः संख्येयवर्षायुषः अल्पशुभपरिणामवशेन पुण्यबन्धमनुभूय भवनवासिषु व्यन्तरेषु च उत्पद्यन्ते। त एव संज्ञिनो मिथ्यादृष्टयः सासादनसम्यग्दृष्टयश्च आसहस्रारादुत्पद्यन्ते। त एव सम्यग्दृष्टयः सौधर्मादिषु अच्युतान्तेषु जायन्ते। असंख्येयवर्षायुषः तिर्यङ्मनुष्या मिथ्यादृष्टयः सासादनसम्यग्दृष्टयश्च आ ज्योतिष्केभ्य उपजायन्ते, तापसाश्चोत्कृष्टाः। त एव समयग्दृष्टयः सौधर्मैशानयोर्जन्मानुभवन्ति। मनुष्याः संख्येयवर्षायुषः मिथ्यादर्शनाः सादनसम्यग्दर्शनाश्च भवनवासिप्रभृतिषूपटिमग्रैवेयकान्तेषु उपपादमास्कन्दन्ति। परिव्राजकानां देवेषूपपादः आ ब्रह्मलोकात्। आजीवकानां आसहस्रारात्। तत ऊर्ध्वमन्यलिङ्गिनां नास्त्युपपादः। निर्ग्रन्थलिङ्गधराणामेव उत्कृष्टतपोऽनुष्ठानोपचितपुण्यबन्धानाम् असम्यग्दर्शननानामुपरिम-ग्रैवेयकान्तेषु उपपादः। तत ऊर्ध्वं सम्यग्दर्शनज्ञानचरणप्रकर्षोपेतानामेव जन्म नेतरेषाम्। श्रावकाणां सौधर्मादिष्वच्युतान्तेषु जन्म नाधो नोपरीति परिणामविशुद्धिप्रकर्षयोगादेव कल्पस्थानातिशययोगोऽवसीयः।" (रा०वा ४/२१)

अर्थ- विशुद्धपरिणामों के प्रकर्ष से ऊपर-ऊपर के देवों में उत्पत्ति होती है। विशुद्धपरिणाम के भेद से पुण्यकर्म के बन्ध में भेद हो जाता है। उस पुण्यभेद से देवों में उपपाद होता है इसलिए ऊपर-ऊपर के देवों में अभिमान की कमी होती है, क्योंकि कारण के अनुरूप ही कार्य देखा जाता है। जैसे-तिर्यंचों में असंज्ञी, पर्याप्त, संख्येयवर्षायुवाले पंचेन्द्रिय अल्पशुभ परिणाम के द्वारा बांधे गये पुण्य के फल से भवनवासियों और व्यन्तरों में उत्पन्न होते हैं। उनमें जो संज्ञा मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि तिर्यंच हैं वे सहस्रार स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं। उन्हीं तिर्यंचों में जो सम्यग्दृष्टि होते हैं वे सौधर्म स्वर्ग से लेकर अच्युतस्वर्गपर्यन्त जन्म लेते हैं। असंख्यवर्षायु वाले मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि तिर्यंच एवं मनुष्य तथा उत्कृष्ट तपस्वी ज्योतिष्क देवों तक में उत्पन्न होते हैं, उनमें जो सम्यग्दृष्टि होते हैं वे सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में जन्म लेते हैं। संख्येयवर्षायुवाले मिथ्यादृष्टि एवं सासादनसम्यग्दृष्टि भवनवासियों से लेकर उपरिम ग्रैवेयक तक के देवों में उपपाद को प्राप्त होते हैं। परिव्राजकों को ब्रह्मलोकपर्यन्त तथा

आर्जीविकों का सहस्रार पर्यन्त उपपाद होता है। अन्यलिंगियों का उससे ऊपर उपपाद नहीं होता। जो मिथ्यादृष्टि निर्ग्रंथलिंगधारी होते हैं और उत्कृष्ट तप के द्वारा पुण्यबन्ध करते हैं उन्हीं की उत्पत्ति अन्तिम ग्रैवेयक तक होती है। उससे ऊपर सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र के प्रकर्ष से युक्त जीवों का ही जन्म होता है, अन्य का नहीं। श्रावकों का जन्म सौधर्म से लेकर अच्युतस्वर्ग पर्यन्त होता है, न इससे नीचे, न इससे ऊपर। इस प्रकार परिणामों की विशुद्धि के प्रकर्ष (उत्तरोत्तरवृद्धि) से ही ऊपर-ऊपर के कल्प में स्थान की प्राप्ति होती है। ऐसा समझना चाहिए।

विशुद्ध परिणाम, शुभ परिणाम और शुभोपयोग एकार्थक हैं जैसा कि निम्नकथन से ज्ञात होता है- "अथायमुपयोगो द्वेधा विशिष्यते शुद्धाशुद्धत्वेन। तत्र शुद्धो निरुपरागः, अशुद्धः सोपरागः। स तु विशुद्धिसंक्लेशरूपत्वेन द्वैविध्यादुपरागस्य द्विविधः शुभोऽशुभश्च।" (प्रवचनसार, त०दी० २/६३) अतः उपर्युक्त विवरण से भी प्रमाणित होता है कि भट्ट अकलंकदेव के मत से संज्ञी सम्यग्दृष्टि में ही नहीं, संज्ञी मिथ्यादृष्टियों में भी शुभोपयोग होता है।

तत्त्वार्थसूत्र में मन-वचन-काय के व्यापार को योग कहा गया है (६/१) और शुभयोग को पुण्य के आस्रव का तथा अशुभयोग को पाप के आस्रव का हेतु बतलाया गया है (६/३)। यहाँ अकलंकदेव ने प्रश्न उठाया है कि योग को शुभ और अशुभ किस आधार पर कहा गया है ?- "कथं योगस्य शुभाशुभत्वम्" इसके समाधान में वे कहते हैं-

"शुभाशुभपरिणामनिर्वृत्तत्वाच्छुभाशुभव्यपदेशः। शुभपरिणामनिर्वृत्तो योगः शुभः, अशुभपरिणामनिर्वृत्तश्चाशुभः इति कथ्यते।" (रा०वा०६/३)

अर्थ- शुभ और अशुभ परिणाम से निष्पन्न होने के कारण शुभ और अशुभ कहा गया है। शुभ परिणाम से निष्पन्न योग शुभ और अशुभ परिणाम से निष्पन्न योग अशुभ कहलाता है।

इससे सिद्ध है कि शुभयोग-शुभोपयोग का अविनाभावी है। अतः अभव्य मिथ्यादृष्टि मुनि जो नवम ग्रैवेयक तक की देवायु का बन्ध करता है, शुभोपयोग के द्वारा ही करता है। अकलंकदेव ने स्वयं राजवार्तिक (४/२१) के पूर्वोद्‌धृतभाष्य में ऐसा कहा है। शुभोपयोग से प्रेरित होकर ही अभव्य मिथ्यादृष्टि मुनि की मन-वचन-काय की क्रियाएं शुभकार्यों में प्रवृत्त होती हैं। उपयोग में जो शुभाशुभविकल्पजालरूप मन होता है ('नानाविकल्पजालरूपं मनो भण्यते'- बृहद्‌द्रव्यसंग्रहटीका, १२) वही वचन और काय की क्रियाओं का प्रेरक है। इस मनोवैज्ञानिक नियम का उल्लेख तत्त्वानुशासन

में भी किया गया है-

इन्द्रियाणां प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च मनः प्रभुः।
मन एव जयत्ततस्माज्जिते तस्मिज्जितेन्द्रियः।। (श्लोक, ७६)

अर्थात् इन्द्रियों की प्रवृत्ति और निवृत्ति का प्रेरक मन ही है। अतः एक मन को ही जीतना चाहिए। उसे जीत लेने पर ही जीत जितेन्द्रिय होता है।

निष्कर्ष यह कि शुभोपयोग के बिना शुभयोग असंभव है। अतः कुछ विद्वानों का यह मानना कि मिथ्यादृष्टि मुनि शुभोपयोग के द्वारा नहीं, अपितु शुभयोग के द्वारा ग्रैवेयक पर्यन्त देवायु का बन्ध करता है, अकलंकदेव के मत के विरुद्ध है।

कुन्दकुन्द के वचनों से अकलंक के मत की पुष्टि :

अकलंकदेव के मत की पुष्टि आचार्य कुन्दकुन्द के निम्नलिखित वचनों से होती है।

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि।।
छदुमत्थविहितवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो।
ण लहदि अपुणब्भावं भावं सादप्पगं लहदि।
अविदिदपरमत्थेसु य विसयकसायाधिगेसु परिसेसु।
जुट्ठं कदं व दत्तं फलदि कुदेवेसु मनुजेसु।। (प्रवचनसार ३/५५-५७)

भाव यह है कि जैसे कृषि के समय बोये गये वही बीज भिन्न-भिन्न भूमियों में जाकर भिन्न-भिन्न रूप से फलित होते हैं वैसे ही वही प्रशस्तरागरूप शुभोपयोग (एकस्यापि प्रशस्तरागलक्षणस्य शुभोपयोगस्य- वही, त०दी० ३/५५) परस्पर विपरीत पात्रों या पदार्थों का अवलम्बन कर विपरीत फल देता है। उदाहरणार्थ, जब प्रशस्तराग रूप शुभोपयोग सर्वज्ञप्रणीत देवादि की भक्ति तथा व्रतादि के अनुष्ठान में प्रवर्तित होता है तब उसका फल पुण्योपचयपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति होती है किन्तु जब छद्मस्थों (पुण्य को ही मुक्ति का कारण बतलाने वाले जैन साधुओं - वही, ता० वृ० ३/५६) के द्वारा प्रणीत व्रतादि में लगता है तब उससे केवल सुदेव और सुमनुजत्वरूप सातात्मक फल की प्राप्ति होती है तथा जब परमार्थ ज्ञान से शून्य तथा विषयकषायाधिक से ग्रस्त पुरुषों की सेवा, दान आदि में प्रवर्तित होता है तब कुदेव और कुमनुजत्वरूप फल का कारण बनता है।

इससे स्पष्ट है कि प्रशस्तरागरूप शुभोपयोग समीचीन पदार्थों में भी प्रवर्तित होता है और असीमीचीन पदार्थों में भी। जो सम्यग्दृष्टि होते हैं उनका शुभोपयोग

समीचीन पदार्थों में ही प्रवर्तित होता है और जो मिथ्यादृष्टि होते हैं उनका शुभोपयोग असमीचीन पदार्थों में प्रवर्तित होता है। अतः शुभोपयोग सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों को होता है। यही बात उक्त गाथाओं की व्याख्या करते हुए आचार्य जयसेन ने भी कही है–

"अयमत्र भावार्थः-यथा जघन्यमध्यमोत्कृष्टभूमिवशेन तान्येव बीजानि भिन्न-भिन्न-फलं प्रयच्छन्ति तथा स एव बीजस्थानीयशुभोपयोगो भूमिस्थानीयपात्रभूतवस्तुविशेषेण भिन्न-भिन्नफलं ददाति। तेन किं सिद्धम् ? यदा पूर्वसूत्रकथितन्यायेन सम्यक्त्वपूर्वकः शुभोपयोगो भवति तदा मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धो भवति परम्परया निर्वाणं च।" (प्रवचनसार, ता०वृ० ३/५५)

अर्थ– जैसे जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भूमि को पाकर वही बीज भिन्न-भिन्न फल देते हैं वैसे ही वही शुभोपयोग पात्रभूत वस्तुविशेष के आश्रय से भिन्न-भिन्न फल देता है। इससे यह सिद्ध हुआ है कि जब पूर्वसूत्र (पूर्वगाथा ३/५५) में दिये गये दृष्टान्त के अनुसार शुभोपयोग सम्यक्त्वपूर्वक होता है तब मुख्यरूप से पुण्यबन्ध होता है और परम्परया निर्वाण। अन्यथा (नो चेत्) अर्थात् शुभोपयोग के सम्यक्त्वपूर्वक न होने पर अर्थात् मिथ्यात्वपूर्वक होने पर केवल पुण्यबन्ध होता है (परम्परया निर्वाण नहीं)।

मिथ्यादृष्टि में शुभोपयोग के निषेधक विद्वान् अपने मत के समर्थन में एक ही प्रमाण देते हैं। वह यह कि आचार्य जयसेन ने प्रवचनसार गाथा १/६ की टीका में कहा है कि पहले से तीसरे गुणस्थान तक उत्तरोत्तर घटता हुआ अशुभोपयोग रहता है, चौथे से छठवें तक उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ शुभोपयोग, सातवें से बारहवें गुणस्थान तक उत्तरोत्तर वृद्धिंगत शुद्धोपयोग तथा अन्तिम दो गुणस्थानों में शुभोपयोग का फल रहता है।

किन्तु इस कथन से यह निष्कर्ष निकालना कि प्रथम तीन गुणस्थानों में सर्वथा अशुभोपयोग ही होता है, शुभोपयोग कदापि नहीं अथवा चौथे से छठे गुणस्थानों में शुभोपयोग ही एकान्ततः होता है, अशुभोपयोग सर्वथा नहीं, आगमविरुद्ध है। गुणस्थानों में अशुभोपयोगादि का यह विभाजन प्रधानता की अपेक्षा से है, सर्वथा नहीं। स्वयं आचार्य जयसेन ने निम्नलिखित व्याख्यान में चतुर्थ और पंचम गुणस्थानवर्ती गृहस्थों के आर्तरौद्रध्यानरूप अशुभोपयोग का होना बतलाया गया है–

"विषयकषायनिमित्तेनोत्पन्नेनार्तरौद्रध्यानद्वयेन परिणतानां गृहस्थानामात्माश्रितनिश्चयधर्मस्यावकाशो नास्ति, वैयावृत्त्यादिधर्मेण दुर्ध्यानवञ्चना भवति।" (प्रवचनसार,

ता०वृ० ३/५४)

तथा उन्हीं आचार्य जयसेन ने निम्नलिखित तात्पर्यवृत्ति में मिथ्यादृष्टि को कभी शुभोपयोग परिणाम करने वाला भी बताया है-

"तत्रैवं कथञ्चित् परिणामित्वे सति अज्ञानी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टिर्जीवो विषयकषायरूपाशुभोपयोगपरिणामं करोति। कदाचित् पुनश्चिदानन्दैकस्वभावं शुद्धात्मानं त्यक्त्वा भोगाकांक्षानिदानस्वरूपं शुभोपयोगपरिणामं च करोति।" (समयसार, गाथा ७४)

इसके हिन्दी रूपान्तर में आचार्य ज्ञानसागर जी ने मिथ्यादृष्टि को प्रधानता की अपेक्षा अशुभोपयोगी कहा है, सर्वथा नहीं-

"जब तक जीव अज्ञानी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि की अवस्था में रहता है तब तक प्रधानता से विषय-कषायरूप अशुभोपयोग करता है, किन्तु कभी-कभी चिदानन्दस्वरूप शुद्धात्मा को प्राप्त किये बिना उससे शून्य केवल भोगाकांक्षा के निदानबन्धस्वरूप शुभोपयोग परिणाम भी करता है।" (समयसार, ज्ञानोदय प्रकाशन, जबलपुर, गाथा ७६)

इन दो उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि गुणस्थानों में अशुभोपयोगादि का उपर्युक्त विभाजन प्रधानता की अपेक्षा से है, सर्वथा नहीं। प्रवचनसार गाथा ३/४८ की तात्पर्यवृत्ति में तो आचार्य जयसेन ने 'बहुपदस्य प्रधानत्वादाम्रवननिम्बवनवदिति' शब्दों द्वारा इसे और भी स्पष्ट कर दिया है।

इस प्रकार आचार्यत्रय कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्र एवं जयसेन के वचनों से भी अकलंकदेव के इस मत की पुष्टि होती है कि शुभोपयोग के स्वामी सम्यग्दृष्टि जीव भी होते हैं और मिथ्यादृष्टि जीव भी।



अकलंकदेवकृत आप्तमीमांसाभाष्य एवं लघीयस्त्रय के उद्धरणों का अध्ययन

*डॉ० कमलेशकुमार जैन**

पुरातन निर्ग्रन्थ परम्परा, जिसे आज हम जैन परम्परा के रूप में जानते हैं, का साहित्य सघन एवं गम्भीर है। जैन मनीषियों एवं लेखकों ने ज्ञान-विज्ञान की सभी विधाओं पर गहन एवं तलस्पर्शी चिन्तन किया है। इस कारण जैन परम्परा में भी बहुतायत में साहित्य रचना हुई है।

जैनाचार्यों ने प्राचीन आगम एवं आगमिक प्राकृत साहित्य, मध्यकालीन प्राकृत और संस्कृत साहित्य, अपभ्रंश साहित्य तथा व्याख्या- चूर्णि, भाष्य, निर्युक्ति, टीका आदि साहित्य में अपने मूल सिद्धान्तों की प्रस्तुति, सिद्धान्तों की व्याख्या एवं अन्य मौलिक रचनाएँ लिखते समय अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए, प्रमाणित या पुष्ट करने के लिए अथवा उस पर अधिक जोर देने के लिए अन्य परम्पराओं- जैनेतर परम्पराओं में स्वीकृत सिद्धान्तों, सिद्धान्तगत दार्शनिक मन्तव्यों की समीक्षा, आलोचना अथवा निराकरण करने में प्रचुरमात्रा में अवतरण/उद्धरण उद्धृत किये हैं।

इन उद्धरणों में बहुसंख्या में ऐसे उद्धरण मिलते हैं, जिनके मूलस्रोत-ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। बहुत से ऐसे उद्धरण प्राप्त होते हैं, जो मुद्रित ग्रन्थों में उसी रूप में नहीं मिलते, उनमें पाठान्तर दिखाई देते हैं। कुछ ऐसे भी उद्धरण मिलते हैं, जिनका उपलब्ध ग्रन्थ में अस्तित्व ही नहीं है।

उपर्युक्त जैन साहित्य गीतार्थ (आगमविद) आचार्यों द्वारा लिखा गया है या संकलित है। चूंकि आचार्यों द्वारा उद्धृत या अवतरित उद्धरण उस-उस समय में प्राप्त ग्रन्थों से लिये गये हैं, इसलिए इन उद्धरणों की प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध है। इन आचार्यों के द्वारा लिखित ग्रन्थों में प्राप्त उद्धरणों के आधार पर वर्तमान में उपलब्ध ग्रन्थों से उनकी तुलना एवं समीक्षा की जाये तो तदनुसार संशोधन/परिवर्तन भी किया जा सकता है।

ऐसे ग्रन्थ या ग्रन्थकर्ता, जिनके नाम से उद्धरण तो मिलते हैं, परन्तु उस ग्रन्थ या ग्रन्थकार की जानकारी अभी तक अनुपलब्ध हैं, ऐसे उद्धरणों का संकलन तथा

* उपनिदेशक, बी०एल०इंस्टीट्यूट आर्फ इण्डोलॉजी, दिल्ली-११००३६

उनका विशिष्ट अध्ययन महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष दे सकता है। इससे ग्रन्थकारों का समय तय करने में बहुत सहायता मिल सकती है। साथ ही लुप्त कड़ियों को प्रकाश में लाया जा सकता है।

प्रस्तुत निबन्ध में आचार्य अकलंकदेवरचित आप्तमीमांसाभाष्य तथा सविवृति लघीयस्त्रय, इन दो ग्रन्थों के उद्धरणों का संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास है।

अकलंकदेव (प्रायः ईस्वी ७२०-७८०) जैन परम्परा के एक प्रौढ़ विद्वान् एवं उच्चकोटि के दार्शनिक ग्रन्थकार हैं। उनके साहित्य में तर्क की बहुलता और विचारों की प्रधानता है। अकलंक का लेखन-समय बौद्धयुग का मध्याह्न काल माना जाता है। उस समय दार्शनिक, धार्मिक, राजनैतिक और साहित्यिक क्षेत्र में बौद्धों का अधिक प्रभाव था। संभवतः इसी कारण अकलंक के साहित्य में बुद्ध और उनके मन्तव्यों की समीक्षा/आलोचना बहुलता से पायी जाती है।

अकलंकदेव ने स्वामी समन्तभद्रकृत देवागम/आप्तमीमांसा पर भाष्य लिखा है।[1] इसे देवागम विवृति भी कहा गया है। आठ सौ श्लोक प्रमाण होने से इसे अष्टशती भी कहते हैं। इसके देवागमभाष्य और आप्तमीमांसाभाष्य नाम भी प्रसिद्ध हैं। यह भाष्य इतना जटिल एवं दुरूह है कि बिना अष्टसहस्री (विद्यानन्दिकृत व्याख्या) का सहारा लिए इसका अर्थ करना अत्यन्त कठिन है।

विवेच्य ग्रन्थ आप्तमीमांसाभाष्य एवं लघीयस्त्रय में भी बौद्ध-साहित्य के ही अधिक उद्धरण मिलते हैं। इससे पता चलता है कि अकलंकदेव बौद्धों के मन्तव्यों/सिद्धान्तों के प्रबल विरोधी रहे, परन्तु यह विरोध किसी दुराग्रह के कारण नहीं रहा, अपितु सिद्धान्त-भेद के कारण उन्होंने अपने साहित्य में बौद्धों की पग-पग पर समीक्षा/आलोचना की है।

१. आप्तमीमांसाभाष्य (अष्टशती) -

अकलंकदेव ने आप्तमीमांसाभाय (अष्टशती) में कुल दश उद्धरण दिये हैं। कारिका २१ के भाष्य में "नोत्पत्यादिः क्रिया क्षणिकस्य तदसंभवात्। ततोऽसिद्धो हेतुः" यह वाक्य उद्धृत किया है।[2] इसका निर्देश स्थल नहीं मिल सका है।

कारिका २१ के ही भाष्य में "तस्मात् सूक्तम्" करके निम्नलिखित वाक्य उद्धृत किया है-[3] यदेकान्तेन सदसद्वा तन्नोत्पत्तुमर्हति, व्योमबन्ध्यासुतवत्"

१. आप्तमीमांसाभाष्यं-अष्टशती, अकलंकदेव, संकलन-डा० गोकुलचन्द्र जैन, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, सन् १६८६

२. वही, कारिका २१ भाष्य

३. वही, कारिका २१ भाष्य

इसका स्रोत भी अभी ज्ञात नहीं हो सका है।

कारिका ५३ के भाष्य में अकलंक ने "न तस्य किञ्चिद् भवति न भवत्येव केवलम्" वाक्य उद्धृत किया है।[1] यह वाक्य प्रमाणवार्तिक की कारिका का उत्तरार्ध भाग है। सम्पूर्ण कारिका इस प्रकार है।[2]

न तस्य किञ्चिद् भवति न भवत्येव केवलम्।
भावे ह्येष विकल्पः स्याद् विधेर्वस्त्वनुरोधतः।।

कारिका ७६ में "युक्त्या यन्न घटामुपैति तदहं दृष्ट्वाऽपि न श्रद्दधे" वाक्य उद्धृत किया है।[3]

इसका मूलस्रोत ज्ञात नहीं हो सका है।

कारिका ८० की वृत्ति में "संहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः वाक्य उद्धृत हैं जो प्रमाणविनिश्चय से लिया गया है।[4]

[5]कारिका ८९ के भाष्य में "तदुक्तम्" करके निम्न कारिका उद्धृत की है-[6]

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः।
सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता।।

यह कारिका कहां से ग्रहण की गई है। इसका निर्देश स्थल अभी ज्ञात नहीं हो सका है।[7]

कारिका संख्या १०१ के भाष्य में "तथा चोक्तम्" करके "सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य"[8]- सूत्र उद्धृत किया गया हैं एवं कारिका संख्या १०५ के भाष्य में "मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु"[9] यह सूत्र उद्धृत किया है।

ये दोनों सूत्र तत्त्वार्थसूत्र से लिये गये हैं।

कारिका १०६ के भाष्य में अकलंक ने निम्न वाक्य उद्धृत किया है-[10]

---

१. वही, कारिका ५३ भाष्य
२. प्रमाणवार्तिकम् सटीकम्-धर्मकीर्ति, सम्पादक-द्वारिकादास शास्त्री, बौद्ध भारती, वाराणसी, ईस्वी १९९८
३. आप्तमीमांसाभाष्य, कारिका ७६
४. वही, कारिका ८०
५. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग १ प्रस्तावना, पृष्ठ ४६, सम्पादक- पं० महेन्द्र कुमार शास्त्री
६. आप्तमीमांसाभाष्य कारिका ८९
७. यह कारिका चाणक्यनीति से संग्रहीत है। -सम्पादक
८. तत्त्वार्थसूत्र १/२९, तत्त्वार्थवार्तिक, भाग १ के अन्तगंत, सम्पादक- महेन्द्र कुमार शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, ईस्वी १९८९
९. वही १/२६
१० आप्तमीमांसाभाष्य, कारिका १०६

नित्यत्वैकान्पक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते"

यह वाक्य आप्तमीमांसा की ही एक कारिका का पूर्वार्ध है।[1]

कारिका १०६ के भाष्य में अकलंक ने "तथोक्तम्" करके एक उद्धरण दिया है-[2]

"अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः।
नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्णयस्तन्निराकृतिः।।

इस कारिका का प्रथम चरण अकलंकदेवकृत न्यायविनिश्चय की कारिका संख्या २६६ से ज्यों का त्यों मिलता है परन्तु शेष भाग नहीं मिलता। न्यायविनिश्चय की कारिका इस प्रकार है।[3]

अर्थस्यानेकरूपस्य कदाचित्कस्यचित्क्वचित्।
शक्तावतिशयाधानमपेक्षातः प्रकल्प्यते।।

यह भी संभव है कि अकलंक की इन दोनों कारिकाओं का निर्देश स्थल या आधार कोई अन्य ग्रन्थ हो, और उसी के अनुसार अकलंक ने न्यायविनिश्चय की कारिका का संगठन किया हो। किसी सबल प्रमाण के बिना निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है।

२. सविवृतिलघीयस्त्रय -

लघीयस्त्रय में अकलंकदेव ने कुल आठ (८) उद्धरणों का प्रयोग किया है।[4] कारिका संख्या ३ (तीन) की विवृति में अकलंकदेव ने "अपर" शब्द के द्वारा किसी वादी के मत का उल्लेख किया है वे लिखते हैं- "नहि तत्त्वज्ञानमित्येव यथार्थनिर्णयसाधनम्" इत्यपरः।[5] इस कथन को व्याख्याकर प्रभाचन्द्राचार्य ने दिङ्नाग का मत बतलाया है। इस विवृति का व्याख्यान करते हुए प्रभाचन्द्र ने लिखा है-[6] हि यस्मात् न तत्त्वस्य परमार्थस्य ज्ञानमित्येव यथार्थनिर्णयसाधनम् अपितु किञ्चिदेव, तदैव च प्रमाणम्। तदुक्तम्- "यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता" इत्यपरः- दिङ्नागादिः।

परन्तु सिद्धिविनिश्चय के टीकाकार ने इसे धर्मोत्तर का मत बतालाया है। वे

---

१. वही, कारिका ३७

२. वही, कारिका १०६

३. न्यायविनिश्चयः, सम्पादक-महेन्द्र कुमार शास्त्री (अकलंकग्रन्थत्रयान्तर्गत) सिंधी ग्रन्थमाला, १६३६ ईस्वी, कारिका २६६, पृष्ठ ७०

४. लघीयस्त्रय (स्वोपज्ञविवृति सहित), अकलंकग्रन्थत्रयान्तर्गत, सिंघी ग्रन्थमाला, ईस्वी १६३६

५. वही, कारिका विवृति ३

६. न्यायकुमुदचन्द्र १/३, पृष्ठ ६६

लिखते हैं- [१] "अत्र अपरः सौगतः प्राह- "यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता" इति धर्मोत्तरस्य मतमेतत्।" अन्य अनेक आचार्यों का भी यही कथन है।[२]

कारिका संख्या आठ (८) की विवृति में अकलंक ने "अर्थक्रियासमथ परमातर्थसत् इत्यङ्गीकृत्य" इस वाक्यांश का उल्लेख किया है।[३] यह वाक्यांश धर्मकीर्तिकृत प्रमाणवार्तिक की कारिका का अंश है। प्रमाणवार्तिक में पूरी कारिका इस प्रकार पायी जाती है-[४]

अर्थक्रियासमर्थं यत्तदत्र परमार्थसत्।
अन्यत्संवृतिसत् प्रोक्तम् ते स्वसामान्यलक्षणे।।

बारहवीं कारिका की विवृति में "तन्नाप्रत्यक्षव्यतिरिक्तं प्रमाणम्" वाक्य उद्धृत किया है।[५] यह किसी बौद्धाचार्य का मत है। यही वाक्य अकलंक ने अपने एक अन्य ग्रन्थ प्रमाणसंग्रह की कारिका १६ की विवृति में भी "अयुक्तम्" करके उद्धृत किया है।[६] वहाँ पर "प्रमाणम्" के स्थान पर "मानम्" पाठ मिलता है।

तेइसवीं कारिका की विवृति "सर्वतः संहृत्य चिन्तां स्तिमितान्तरात्मना स्थितोऽपि चक्षुषां रूपं"[७] इत्यादि वाक्य से प्रारम्भ होती है। यह वाक्य भी प्रमाणवार्तिक की कारिका का अविकल रूप है। कारिका इस प्रकार है-[८]

संहृत्य सर्वतश्चिन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना।
स्थितोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षते साक्षजा मतिः।।

२८वीं कारिका की विवृत्ति में अकलंकदेव ने "वक्तुरभिप्रेतं तु वाचः सूचयन्ति अविशेषेण नार्थतत्वमपि"- वाक्य उद्धृत किया है।[९] इसका ठीक ठीक स्रोत तो नहीं मिलता, परन्तु प्रमाणवार्तिक (१/६७, पृ० ३०) की मनोरथ नन्दिनी टीका (पृ० ३०) एवं मोक्षाकरगुप्तकृत तर्कभाषा (पृ०४) आदि में उक्त उद्धरण का भाव अवश्य

१. सिद्धिविनिश्चय, उत्तरार्द्ध, पृष्ठ ६१
२. तत्त्वार्थलोकवार्तिक, पृ० १७७, २००, ३१६; प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, पृ० १०३०; सन्मतितर्कटीका पृ० ५१२; स्याद्वाद रत्नाकर, पृष्ठ ८६; शास्त्रवार्तासमुच्चय टीका, पृष्ठ १५१ उ० पर भी यही कथन मिलता है परन्तु न्यायावतार के टीकाकार ने इसे निम्न रूप में उद्धृत किया है- "यत्रैवांशे विकल्पं जनयति तत्रैवास्य प्रमाणता इति वचनात्।" न्यायावतार टीका पृष्ठ-३१, द्रष्टव्य-न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-१, पृष्ठ ६६, टिप्पणी संख्या ११
३. लघीयस्त्रय, कारिका ८ विवृति
४. प्रमाणवार्तिक २/२३, पृष्ठ १००
५. लघीयस्त्रय, कारिका १२ विवृति
६. अयुक्तम्- "नाऽर्थप्रत्यक्षमनुमानव्यतिरिक्तं मानम्"- प्रमाण संग्रह (अकलंकग्रन्थत्रयान्तर्गत), सिंघी ग्रन्थमाला, १६३६ ईस्वी, कारिका १६, पृष्ठ १०१
७. लघीयत्रय, कारिका २३
८. प्रमाणवार्तिक, २/१२४
९. लघीयस्त्रय, कारिका २८

मिलता है।[1]

कारिका संख्या ४१ की विवृति में "गुणानां परमं रूपं"-इत्यादि[2] कारिका उद्धृत की गई है। शांकरभाष्य पर भामती टीका[3] के कर्ता वाचस्पति मिश्र ने इसे वार्षगण्यकृत बताया है- अतएव योगशास्त्रं व्युत्पादयितुमाह स्म भगवान् वार्षगण्यः गणानां परमं रूपं......। योगसूत्र की तत्त्ववैशारदी[4] एवं योगसूत्र की भास्वती, पातंजल रहस्य[5] में इसे षष्टितन्त्रशास्त्र की कारिका बताया है जैसे-

षष्टितन्त्रशास्त्रस्यानुशिष्टि :-गुणानां परमं- इत्यादि।

और योगभाष्य में इस कारिका को उद्धृत करते कहा गया है- तथा च शास्त्रानुशासनम्- गुणानां परमं रूपं--[6]।

कारिका ४४ की विवृति में "नहि बुद्धेरकारणं विषयः" यह वाक्य उद्धृत है।[7] इसका मूल स्थान अभी नहीं मिल नहीं सका है।

कारिका ५४ की विवृति में अकलंक ने "ततः सुभाषितम्" करके "इन्द्रियमनसी कारणं विज्ञानस्य अर्थो विषयः" यह वाक्य उद्धृत किया है।[8] यह किस शास्त्र का वाक्य है, इसका पता नहीं चलता।

उक्त वाक्य वादिराजसूरिकृत न्यायविनिश्चय विवरण में भी उद्धृत है-

"इन्द्रियमनसी विज्ञानकारणमिति वचनात्।" तथा विद्यानन्दि ने भी अपने श्लोकवार्तिक में अकलंक के सन्दर्भ सहित इसे उद्धृत किया है-[9]

"तस्मादिन्द्रियमनसी विज्ञानस्य कारणं नार्थोऽपीत्यकलंकैरपि"।

सत्तावनवीं कारिका की विवृति में "नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं नाकारणं विषयः" वाक्य को उद्धृत करते हुए अकलंक ने इसे वालिशगीत कहा है।[10] यह वाक्य

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-२, पृष्ठ ६००-६०१, टिप्पण ६ श्री सत्गुरु प्रकाशन, दिल्ली, १९९१ ईस्वी
२. लघीयस्त्रय, कारिका ४१ विवृति
३. शांकरभाष्य, भामती पृ० ३५२
४. योगसूत्र तत्त्ववैशारदी ४/१३
५. योगसूत्र, भास्वती, पातंजल रहस्य ४/१३
६. योगभाष्य ४/१३, द्रष्टव्य-न्यायकुमुदचन्द्र भाग-२, पृष्ठ ६२८ टिप्पण
७. लघीयस्त्रय, कारिका ४४
८. वही, कारिका ५४
९. न्यायविनिश्चय विवरण, पृ० ३२ ए, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० ३३०, द्रष्टव्य-न्यायकुमुदचन्द्र भाग-२, टिप्पण ५ पृष्ठ ६६१
१०. लघीयस्त्रय, कारिका ५४ विवृति

अन्य बहुत से ग्रन्थों में भी उद्धृत मिलता है।[१]

५४वीं कारिका की विवृति में "तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभादि" वाक्यांश ग्रहण किया गया है।[२] यह अंश धर्मकीर्तिकृत न्यायबिन्दुप्रकरण की आर्यविनीतदेवकृत न्यायबिन्दुविस्तर टीका का है। मूल वाक्य इस प्रकार है-[३]

तिमिराशुभ्रमण- नौयान-संक्षोभाद्यना-हितविभ्रममिति।

कारिका ६५ के उत्तरार्ध रूप में एक वाक्य "वक्त्रभिप्रेतमात्रस्य सूचकं वचनंत्विति" उद्धृत किया है। जिसे मूल कारिका का अंश बना लिया गया है।

इसके मूलस्रोत की जानकारी नहीं मिल सकी है।

कारिका ६६-६७ की विवृति के अन्त में लघीयस्त्रय में "ततः तीर्थकर-वचनसंग्रहविशेष- प्रस्तारमूलव्याकारिणौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ" आदि वाक्य आया है।[४]

यह वाक्य आचार्य सिद्धसेनकृत सन्मतितर्क की तीसरी गाथा की संस्कृत छाया है। सन्मतितर्क की मूल गाथा निम्न प्रकार है-

तित्थयरवयणसंगहविसेसपत्थारमूलवागरणी।
दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पासिं।।[५]

आप्तमीमांसाभाष्य में अकलंक ने उमास्वाति, समन्तभद्र, धर्मकीर्ति, आर्यविनीतदेव आदि आचार्यों के ग्रन्थों से वाक्य, वाक्यांश या उद्धरण लिये हैं। इसी तरह लघीयस्त्रय मूल एवं विवृति में दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, वार्षगण्य और सिद्धसेन आदि आचार्यों के ग्रन्थों से वाक्य या वाक्यांश उद्धृत किये गये हैं।

अकलंक की उपर्युक्त दोनों कृतियों में मूलतः दार्शनिक विषयों का विवेचन है अतः यह स्वाभाविक है कि उनमें दार्शनिक ग्रन्थों के ही उद्धरण या वाक्यांश मिलें। इसीलिए प्रायः सभी उद्धरण दार्शनिक/तार्किक ग्रन्थों से लिये गये मिलते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से पता चलता है कि अकलंकदेव ने अपने समय के अथवा अपने समय से पूर्व के प्रसिद्ध तार्किकों/लेखकों के मत की आलोचना/समीक्षा की है

१. यह वाक्य आप्तपरीक्षा पृ० ४२, सिद्धिविनिश्चय टीका पृ० ३०६ए, सन्मति टीका पृ० ५१०, स्याद्वाद रत्नाकर पृ० १०६८, प्रमाणमीमांसा पृ० ३४, शास्त्रवार्तासमुच्चय पृ० १५१ए, अनेकान्तजयपताका पृ० २०७, धर्मसंग्रहणी पृ० १७६बी, बोधिचदियावतार पृ० ३६८, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० २१६, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड पृ० ३५५, ५०२, स्याद्वाद-रत्नाकर पृ० ७६६, न्यायविनिश्चय विवरण पृ० १६ बी, स्याद्वादमंजरी पृ० २०६ आदि में उद्धृत मिलता है।
२. लघीयस्त्रय, कारिका ५४ विवृति
३. न्यायाबिन्दुप्रकरण सटीकम् १/६ पृ० २६, सम्पादक- श्री द्वारिकादास शास्त्री, बौद्धभारती, वाराणसी, सन् १६८५
४. लघीयस्त्रय, कारिका ६६-६७ विवृति
५. सन्मतितर्कप्रवरण भाग- २, गुजरात पुरातत्व मन्दिर, संवत् १६८२, १/३, पृ० २७१

और उसके लिए उनके मूल ग्रन्थों से ही बहुत से अवतरण/उद्धरण दिये हैं।

अकलंक के आप्तमीमांसाभाष्य एवं सविवृति लघीयस्त्रय में कुछ ऐसे वाक्य या वाक्यांश पाये जाते हैं, जो दूसरे-दूसरे ग्रंथों से लिए गये हैं। उनमें कुछ अंश तो ऐसे हैं, जो उद्धरण या अवतरण के रूप में लिये गये हैं, किन्तु कुछ अंश भाष्य या कारिका अथवा विवृति के ही अंग बन गये हैं अतएव भाष्य या विवृतिकार द्वारा ही रचित लगते हैं।

अकलंककृत आप्तमीमांसाभाष्य एवं विवृति सहित लघीयस्त्रय में दूसरे ग्रन्थों के जो पद्य या वाक्य उद्धृत हैं, उनके निर्देश स्थल को खोजने की यथासम्भव कोशिश की गयी है। बहुत से उद्धरणों का निर्देशस्थल अभी मिल नहीं सका है, उन्हें खोजने की कोशिश जारी है।

यह भी प्रयास है कि इस प्रकार के तथा अन्य उद्धृत पद या वाक्य जिन-जिन ग्रन्थों में उद्धृत हैं, उनको भी संकलित कर लिया जाये। इससे ग्रन्थकारों का समय तय करने में बहुत सहायता मिल सकती है और लुप्त कड़ियों को एकत्र किया जा सकता है और उन्हें संजोकर प्रकाश में लाया जा सकता है।



